ISBN-978-93-89207-00-2

ICHR

भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार

युगपुरुष ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज की 125वीं एवं
राष्ट्रसन्त ब्रह्मलीन महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज के जन्म शताब्दी वर्ष

के पावन अवसर पर आयोजित

राष्ट्रीय संगोष्ठी

पौष शुक्ल अष्टमी एवं नवमी, वि.सं. 2076
(03 एवं 04 जनवरी, 2020 ई.)

में आए हुए

शोध-पत्रों का संकलन

(संगोष्ठी कार्यवृत्त)

प्रधान संपादक
डॉ. महेश कुमार शरण

ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज

मील के पत्थर :

1.	जन्म	वैशाख पूर्णिमा,	1894 ई.
2.	गोरखपुर आगमन		1899 ई.
3.	महात्मा गाँधी का गोरखपुर में स्वागत एवं असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के लिए औपचारिक शिक्षा एवं विद्यालय का परित्याग		1920 ई.
4.	चौरीचौरा काण्ड में सहयोग, शिनाख्त के अभाव में बरी		1922 ई.
5.	महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की स्थापना		1932 ई.
6.	योग दीक्षा	15 अगस्त	1933 ई.
7.	गोरखनाथ मन्दिर में महन्त पद पर अभिषेक	श्रावण पूर्णिमा, 15 अगस्त	1935 ई.
8.	हिन्दू महासभा की सदस्यता		1939 ई.
9.	अखिल भारतवर्षीय अवधूत भेष बारहपन्थ योगी महासभा की स्थापना		1939 ई.
10.	डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी की अध्यक्षता में प्रान्तीय हिन्दू महासभा अधिवेशन का गोरखपुर में ऐतिहासिक आयोजन		1944 ई.
11.	गाँधी हत्याकाण्ड में मिथ्या आरोप में बन्दी		1948 ई.
12.	दस महीने बाद आरोप से ससम्मान बरी		1949 ई.
13.	श्रीरामजन्मभूमि मुक्ति आन्दोलन का नेतृत्व		1949 ई.
14.	षष्ठक पंजाबी सूबे के लिए मास्टर तारा सिंह के आमरण अनशन का सूझबूझ से समापन कराना		1956 ई.
15.	गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर की स्थापना		1958 ई.
16.	अखिल भारतीय षड्दर्शन सभा सम्मेलन हरिद्वार की अध्यक्षता		1960 ई.
17.	अखिल भारतीय हिन्दू सम्मेलन का दिल्ली में आयोजन		1961 ई.
18.	अखिल भारतीय हिन्दू महासभा के राष्ट्रीय अध्यक्ष (हिन्दू राष्ट्रपति) के रूप में निर्वाचन		1961 ई.
19.	महन्त जी द्वारा दिल्ली में अखिल विश्व हिन्दू सम्मेलन का आयोजन		1965 ई.
20.	गोरखपुर के सांसद निर्वाचित		1967 ई.
21.	चिर समाधि	28 सितम्बर	1969 ई.

भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार

: प्रधान संपादक :

डॉ. महेश कुमार शरण

: संपादक :

डॉ. प्रदीप कुमार राव

सुबोध कुमार मिश्र

डॉ. अजय कुमार सिंह

: प्रकाशक :

महाराणा प्रताप पी.जी. कालेज

जंगल धूसड़, गोरखपुर

: प्रकाशक :
महाराणा प्रताप पी.जी. कालेज
जंगल धूसड़, गोरखपुर
उत्तर प्रदेश-273014, भारत
ई-मेल : mpmpg5@gmail.com
वेबसाइट : www.mpm.edu.in

प्रथम संस्करण - 2020
सर्वाधिकार - प्रकाशकाधीन
ISBN - 978-93-89207-00-2
मूल्य - ₹350

इस पुस्तक का सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन है तथा इसके किसी भी भाग की फोटोकॉपी या प्रकाशन आदि करने से पहले प्रकाशक की अनुमति अनिवार्य है।

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् (ICHR), नई दिल्ली के वित्तीय एवं अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना, नई दिल्ली के अकादमिक सहयोग द्वारा प्रकाशित

भारत में प्रकाशित

The editor is not responsible for the opinion expressed by the contributors

मुद्रक - मोती पेपर कनवर्टर्स, गोरखपुर

सम्पादकीय ...

पृथ्वी पर प्राणियों की उत्पत्ति एवं उनके विकास क्रम पर ज्ञान-विज्ञान की विविध विधाओं में अनवरत शोधपूर्ण अध्ययन जारी है। आदिमानव के रूप में जीवन की विकास यात्रा के एकाधिक दार्शनिक-वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। उपर्युक्त विकास-यात्रा पर सामान्यतः मान्य प्रतिपादित मतों का आधार विशुद्ध वैज्ञानिक है। सभ्यता के उद्‌भव एवं विकास के क्रम में विज्ञान के साथ-साथ साहित्य का विकास हुआ। सभ्यता के साथ-साथ संस्कृति विकसित हुई। वाचिक मानव ने लिपियों का विकास किया। भाषा-साहित्य मानव सभ्यता एवं संस्कृति के अभिव्यक्ति का आधार बना। मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के गर्भ से अपनी पहचान, आत्मगौरव, आत्मसम्मान इत्यादि प्रवृत्तियों का विकास स्वाभाविक था। परिणामतः मानव-सभ्यताएं अपने मौलिक विकास के पथ पर अग्रसर हुईं। सीखने-सिखाने की प्रवृत्ति ने ही सभ्यता-संस्कृति को जन्म दिया। इसी प्रवृत्ति से मनुष्य एक दूसरे का अनुकरण कर सीख कर अपने एवं अपने समाज को अहर्निश श्रेष्ठ बनाने में जुटा रहा। मानव-समाज का यही प्रयत्न सभ्यता-संस्कृति के विकास की आधार-शिला बना।

हिन्दुकुश और हिमालय पर्वत श्रृंखलाओं से आच्छादित समुद्र पर्यन्त भारतीय भूभाग में सरस्वती-सिन्धु नदी के तट पर विकसित वैदिक सभ्यता-संस्कृति कालान्तर में भारतीय संस्कृति अथवा हिन्दू संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित हुयी। भारतीय संस्कृति ने अपनी विकास यात्रा में जिन मानव-मूल्यों का सृजन किया वे वैश्विक हैं, पूरे मानव-समाज के लिए हैं। आत्म-शुद्धिकरण, युगानुकुल परिवर्तन की क्षमता, विश्व की सभी संस्कृतियों से सीखने, सम्पूर्ण मानव-समाज के कल्याण की भावना, विश्व की सभी संस्कृतियों के सम्मान के भाव के कारण भारतीय संस्कृति अपने उद्‌भव-काल से लेकर अब तक निरन्तर विकासमान है। पुरुषार्थ, संस्कार, आश्रम-व्यवस्था, परिवार, जैसे सामाजिक-व्यवस्थाओं का अनुभवजन्य प्रतिपादन कर भारतीय संस्कृति ने सर्वस्वीकार्य मार्ग दिया। जन्म-पुनर्जन्म, विविध मत-पंथ के समन्वय, विविधता में एकता का दर्शन, निराकार ब्रह्म तक पहुंचने के विविध साकार मार्गों की भी स्वीकृति, योग-अध्यात्म की विशिष्ट अवधारणा, समय-समय पर लोक-कल्याणार्थ मतों का जन्म, विकास एवं प्रसार ने भारतीय संस्कृति को विश्व व्यापी बनाया।

वैदिक-हड़प्पा संस्कृति के समय भारत का मेसोपोटामिया, मिस्र, यूनान सहित दुनिया के देशों से व्यापारिक-सामाजिक सम्बन्धों के प्रमाण उपलब्ध हैं। बौद्धमत का मध्य एशिया तथा चीन में प्रभाव अब तक देखा जा सकता है। मौर्य सम्राट अशोक का मिस्र तक के देशों में लोक कल्याणकारी कार्यों के माध्यम से भारतीय संस्कृति के प्रसार की दुनिया साक्षी रही है। महायोगी गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथपंथ ने हिन्दुकुश एवं हिमालय की पर्वत श्रृंखलाओं से समुद्रपर्यन्त

दक्षिण-पूर्व एशिया में योग के माध्यम से भारतीय संस्कृति का प्रसार किया। पंतजलि एवं महायोगी गोरक्षनाथ प्रवर्तित योग की आधुनिक युग में भी एक बार स्वीकृति विश्व योग दिवस के रूप में अभी-अभी 2014 ई. में प्राप्त हुई है। दुनिया के लगभग 192 देशों में योग की स्वीकृति भारतीय संस्कृति के वर्तमान प्रभाव की सूचक है। आतंकवाद से जूझ रही दुनिया को भारतीय संस्कृति के शान्तप्रिय योग-अध्यात्मिक जीवन-दृष्टि में समाधान दिखायी दे रहा है। भौतिक विकास के चरम बिन्दु की ओर बढ़ते विश्व में असन्तोष, गलाकाट प्रतिस्पर्धा, अशान्त मन एक गम्भीर चुनौती बना हुआ है। अनवरत प्रगति पर बढ़ता मानव समाज सुख-शान्तिपूर्ण जीवन से दूर होता हुआ महसूस कर रहा है। ऐसे में भारतीय संस्कृति के सनातन-जीवन-मूल्यों की प्रासंगिकता पुनः बढ़ती जा रही है।

भारतीय संस्कृति का लोक-कल्याण एवं लोक-मंगल की दृष्टि से वैश्विक-उपयोगिता के लिए आवश्यक है कि उसके वैश्विक प्रभावों का मूल्यांकन किया जाय। भारतीय संस्कृति के अभ्युदय से लेकर अद्यतन उसके वैश्विक प्रसार का ऐतिहासिक विवेचन उन कारणों को खोजेगा जो भारतीय संस्कृति के लोक-प्रसिद्ध होने के आधार थे। वे तथ्य वर्तमान भारतीय समाज के साथ-साथ वैश्विक समाज को भौतिक विकास एवं सुख-शान्ति एक साथ प्राप्त करने का मार्ग सुझा सकते हैं। यह विचार दर्शन लौकिक के साथ पारलौकिक जीवन, भोग के साथ योग, उपलब्धि के साथ त्याग, विश्राम के माथ श्रम, आराम के साथ तप, स्वहित के साथ परहित, विज्ञान के साथ ज्ञान, वेदना के साथ संवेदना जैसे जीवन-मूल्यों के साथ मानव-जीवन के सौन्दर्य की पुनर्प्रतिष्ठा में सहायक होगा। अतः 'पुमान् पुमांस परि पातु विश्वतः। (ऋग् 6,75,14); 'यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि। (अथर्व 17,1.17); द्यौ शान्तिरन्तरिक्ष शान्ति; पृथ्वी शान्तिरायः.....। (यजु 36.17) समानं मनः सह चित्तमेषाम्। (ऋग् 10.191.3); माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याम्। (अथर्व.12.1.12) इत्यादि विश्व-भावना समेटे भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार विषय पर विचार-विमर्श एवं हो रहे शोधों से अवगत होना विश्व-शान्ति एवं मानवता के उत्थान हेतु आवश्यक है। श्री गोरक्षपीठ के पीठाधीश्वर द्वय महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज एवं महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज ने अपना पूरा जीवन भारतीय संस्कृति के प्रसार एवं लोक-कल्याण हेतु समर्पित कर दिया था। **यह वर्ष ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज की 125वीं जयन्ती वर्ष तथा ब्रह्मलीन महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज का जन्म शताब्दी वर्ष है।** अतः उनकी पावन स्मृति में भारतीय संस्कृति के विविधा पक्षों का स्मरण किया जाय एवं उन्हें जीवनोपयोगी बनाया जाना उन्हें वास्तविक श्रद्धांजलि होगी। ब्रह्मलीन युगपुरुष महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज के 125वीं जयन्ती वर्ष एवं ब्रह्मलीन महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज के जन्म शताब्दी वर्ष के पावन अवसर पर महाराणा प्रताप पी.जी. कालेज, जंगल धूसड़, गोरखपुर ने 'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी करने का निर्णय लिया।

भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली के आर्थिक सहयोग से यह राष्ट्रीय संगोष्ठी सफल हुई। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली के अध्यक्ष प्रो. अरविन्द पी. जामखेड़कर,

सचिव डॉ. कुमार रत्नम, शोध एवं प्रशासन निदेशक डॉ. ओम जी उपाध्याय का मैं हार्दिक आभारी हूँ, जिन्होंने इस राष्ट्रीय संगोष्ठी को सम्पन्न कराने में आर्थिक एवं अकादमिक सहयोग दिया।

'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी का सम्पूर्ण अधिष्ठान डॉ. महेश कुमार शरण एवं श्री सुबोध कुमार मिश्र ने तैयार किया। इन्हीं दोनों विद्वानों ने सभी सम्बन्धित विषय-विशेषज्ञों का चयन कर उनकी स्वीकृति प्राप्त की। डॉ. महेश कुमार शरण ने अपने शिष्य विश्व बुद्धिष्ट मिशन, जापान के अन्तर्राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. मेधांकर रवि की इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में उपस्थिति सुनिश्चित करायी। मैं डॉ. महेश कुमार शरण जी एवं डॉ. मेधांकर रवि के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

राष्ट्रीय संगोष्ठी में अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के राष्ट्रीय संगठन सचिव डॉ. बाल मुकुन्द पाण्डेय, नवनालन्दा महाबिहार के प्रो. प्रेम शंकर श्रीवास्तव, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली के प्रो. सन्तोष शुक्ल, माध्यमिक शिक्षा परिषद् उत्तर प्रदेश के सहायक सचिव डॉ. प्रभास कुमार झा, डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान पटना के शोध अन्वेषक डॉ. राकेश कुमार सिन्हा, राजकीय महिला महाविद्यालय, अलवर, राजस्थान के डॉ. धर्मपाल चौबे का अकादमिक योगदान अविस्मरणीय है। दी.द.उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर के प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग के पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो. विपुला दुबे, प्रो. राजवन्त राव तथा विभागाध्यक्ष प्रो. शीतला प्रसाद सिंह, इतिहास विभाग के पूर्व विभागाध्यक्ष एवं भारतीय इतिहास संकलन समिति गोरक्षप्रान्त के अध्यक्ष प्रो. हिमांशु चतुर्वेदी तथा विभागाध्यक्ष प्रो. मुकुन्द शरण त्रिपाठी, प्रो. प्रज्ञा चतुर्वेदी, भारतीय इतिहास संकलन समिति गोरक्षप्रान्त के महामंत्री प्रो. दिग्विजय नाथ मौर्य, प्रो. सुधाकर लाल श्रीवास्तव, डॉ. रामप्यारे मिश्र, डॉ. ध्यानेन्द्र दूबे, डॉ. सुशील कुमार पाण्डेय, डॉ. प्रवीण कुमार त्रिपाठी, डॉ. अजय सिंह, डॉ. कन्हैया सिंह, डॉ. आशुतोष त्रिपाठी, डॉ. सलिल कुमार पाण्डेय, डॉ. ध्रुव कुमार, डॉ. सर्वेश शुक्ल, डॉ. सचिन राय, डॉ. प्रवीन कुमार सिंह, इत्यादि विद्वानों के व्याख्यानों एवं शोधपत्रों की राष्ट्रीय संगोष्ठी को अपने अकादमिक लक्ष्य तक पहुँचने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। मैं सभी का हार्दिक आभारी हूँ।

राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्रों एवं सम्बन्धित विषय पर संकलित कुछ अन्य आलेख एवं शोधपत्र को प्रकशित किया जा रहा है। मुझे विश्वास है कि यह प्रकाशन शोधार्थियों एवं जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज की 125वीं जयन्ती तथा ब्रह्मलीन महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज के जन्म शताब्दी वर्ष के अवसर पर उनकी स्मृति को समर्पित यह प्रकाशित कृति आप के हाथों में प्रस्तुत है।

श्रावण शुक्ल पुर्णिमा विक्रम संवत 2077
तद्नुसार, 03 अगस्त, 2020

(डॉ. प्रदीप कुमार राव)

'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्घाटन अवसर पर मंचस्थ अतिथि प्रो. शीतला प्रसाद सिंह, डॉ. मेधांकर रवि, प्रो. महेश कुमार शरण, डॉ. बाल मुकुन्द पाण्डेय, प्रो. प्रेमशंकर सिंह एवं बौद्ध भिक्षुगण तथा संचालक श्री सुबोध कुमार मिश्र

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के समापन समारोह में मंचस्थ विद्वतजन

भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार

विषय-सूची

विषय वस्तु		पृष्ठ सं.
1.	भारतीय संस्कृति का वृहत्तर भारत में प्रसार **विजय शंकर श्रीवास्तव**	1
2.	दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व एशिया में हिन्दू संस्कृति **विष्णु शंकर श्रीवास्तव**	7
3.	भारतीय संस्कृति का विश्व संचार **मोहनलाल साहु एवं शकुन्तला साहु**	12
4.	दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को लिपि और भाषा के क्षेत्र में भारत का योगदान **महावीर प्रसाद जैन**	21
5.	विश्व संस्कृति पर बौद्ध धर्म का प्रभाव **ब्रह्मदेव नारायण शर्मा**	32
6.	विश्व-शान्ति के लिए बुद्ध-देशना की प्रासंगिकता **सत्य प्रकाश शर्मा**	40
7.	दक्षिण एवं दक्षिण पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रसार नाथ पंथ के विशेष संदर्भ में **अंजना राय**	46
8.	नेपाल में नाथपंथ **पद्मजा सिंह**	51
9.	भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार **सुशीलकुमार पाण्डेय 'साहित्येन्दु'**	61
10.	कम्बोडिया के अभिलेखों में भगवान् शिव-महादेव **सुबोध कुमार मिश्र एवं अजय कुमार सिंह**	66

11. बौद्धधर्म के वैश्विक प्रसार में भारतीय शासकों का योगदान
ऋषि कपूर 73

12. भारतीय आयुर्वेद का तिब्बत में प्रचार-प्रसार
स्वामी हींमानन्द सरस्वती (राम मनोज) 79

13. बहुसंस्कृतिवाद : वैष्विक सांस्कृतिक समावेशन
कृष्ण कुमार 83

14. आसियान में भारत की चुनौतियां और सम्भावना
जितेन्द्र कुमार 89

15. नेपाल में दान परम्परा (संस्कृत अभिलेखों के सन्दर्भ में)
कन्हैया सिंह 95

16. थाईलैण्ड में रामकथा
मनीषा शरण 102

17. भारतीय राष्ट्रीयता के प्रसार में नाथ पंथ का योगदान
सचिन राय 105

18. कम्बुज देश का देवराज संप्रदाय
प्रभास कुमार झा 117

19. Indian Buddhism survives in South-East Asia
Mahesh Kumar Sharan 120

20. Hindu Trinity in Laos
Ishwar Sharan Vishwakarma 129

21. Buddhist Approach to Harmonious Family Life in Modern Perspective with Special Reference to Vietnam
Prem Shankar Shrivastava 135

22. Ploughing Ceremony of Thailand : Indian Origin
Preeti Vishwakarma 155

23. Kambuja Polity : Indian Origin
Salil Kumar Pandey 161

24. Hindu Religion in Indonesia
Babita Kumari 175

25. Borobudur - One of the wonders of the world
Moti Lal Ram 183

26. Global Buddhism in the New World Order (NWO)
S.K. Pathak 187

पुनर्पाठ

1. Emigration and Settlement of Indians Abroad
J. C. Jha 194

2. Expansion of Indian Culture in South East Asia: A Historiographical Critique
Vijay Kumar Thakur 201

3. A Note on the Indian Culture in Afghanistan
C. S. Upasak 207

4. Indian Culture in Laos
Umesh Chandra Dwivedi 213

संगोष्ठी रिपोर्ट

..... 219

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के दौरान आयोजित सामूहिक परिचर्चा सत्र में
उपस्थित विषय विशेषज्ञ एवं श्रोतागण

राष्ट्रीय संगोष्ठी के द्वितीय तकनीकी सत्र में उपस्थित छात्र-छात्राएं

भारतीय संस्कृति का वृहत्तर भारत में प्रसार

विजय शंकर श्रीवास्तव*

वैदिक आर्यो ने ''कृण्वन्ता विश्वमार्यम्'' की उद्घोषणा के साथ भारतीय संस्कृति को विश्वभर में व्यापक बनाने का संकल्प किया था। भारतीय संस्कृति का प्रसार भारतीयों के विदेशों से व्यापार के माध्यम से सम्पन्न हुआ। ई.पू. 600 ई.पू. 400 के काल में भारतीयों के व्यापारिक सम्बन्ध विदेशों के साथ स्थापित हुये। 'संस्कृति' शब्द 'कृ' धातु में 'सम' उपसर्ग और 'क्रिन' प्रत्यय के लगाने से बना है। कृति का अर्थ है मनुष्य का किया हुआ कार्य आचार अथवा व्यवहार मनुष्य के क्रिया कलापों का लेखा-जोखा ही संस्कृति के विषय है।

संस्कृति का अर्थ है – 'अच्छी स्थिति' 'सुधारना सवारना' एवं 'शोधन' करना अंग्रेजी में इसे कल्चर (Culture) कहते है। जो लैटिन भाषा के कल्चुरा से निकला है। इसी कल्चुरा शब्द से जर्मन शब्द (Kalture) और अंग्रेजी के शब्द कल्चर (Culture) बने हैं जिसका अर्थ हैं उपजना या पनपना। इसी आधार पर मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिए भी संस्कृति शब्द का प्रयोग किया जाता है।

यजुर्वेद के अनुसार संस्कृतिः प्रथम विश्वधारा या विश्व उन्नयन करने वाली थी। संस्कृति का सम्बन्ध कल्याण, परिष्कार, सुन्दर तथा उन्नत से है। संस्कृति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। साहित्यकारों ने सामाजिक आकर्षण एवं बौद्धिक श्रेष्ठता को प्रकट करने के लिए संस्कृति शब्द का प्रयोग किया है। संस्कृत और संस्कृति दोनों ही शब्द ''संस्कार'' से बने है। संस्कार का अर्थ है कुछ कृत्यों की पूर्ति करना। एक मनुष्य सामाजिक जीवन में विभिन्न प्रकार के संस्कार सम्पन्न करता है और इस क्रम में इसे विभिन्न प्रकार की भूमिकाएं निभानी पड़ती है। अतः संस्कृति का अर्थ हुआ-विभिन्न संस्कारों द्वारा सामूहिक जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करना।

प्रारम्भिक मानवशास्त्रियों में सर्वप्रथम श्री टायलर (Tylor) ने 'संस्कृति' शब्द को परिभाषित किया। इनके अनुसार, ''संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार कानून, प्रथा और ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य

*सहायक प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राम लखन सिंह यादव कॉलेज, औरंगाबाद (बिहार)

के नाते प्राप्त करता है।''[1] संस्कृति प्रकृति की देन नहीं, बल्कि समाज की देन है, यह समाज का मानव को श्रेष्ठतम वरदान है। इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए लैण्डिस (Landis) ने लिखा है कि ''संस्कृति वह दुनिया है जिसमें कि एक व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक निवास करता है, चलता-फिरता है और अपने अस्तित्व को बनाए रखता है।''[2] श्री पिंडिगटन (Piddington) ने संस्कृति को एक दूसरे ढ़ंग से परिभाषित किया है। इनके अनुसार ''संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों या उपकरणों का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।''[3]

प्रो. रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने संस्कृति को एक प्रतिमान (Pattern) के रूप में माना है। इनके शब्दों में, ''व्यक्ति की भाँति संस्कृति भी विचार और क्रिया का एक बहुत-कुछ सुस्थिर प्रतिमान है।''[4] इस अर्थ में संस्कृति एक बहुत-कुछ सुस्थिर प्रतिमान या व्यवस्था है जिसमें मानव के सामाजिक जीवन के विचार और क्रियाओं का समावेश होता है। श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) के अनुसार, ''संस्कृति प्राप्त आवश्यकताओं की एक व्यवस्था तथा उद्देश्यमूलक क्रियाओं की एक संगठित व्यवस्था है।''[5] इनके अनुसार संस्कृति के अन्तर्गत जीवन के समय, तरीके या ढ़ंग (total ways of life) आ जाते हैं जोकि व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते है। श्री हॉबल (Hoebel) के अनुसार व्यवहार एवं प्रतिमानों (behaviour patterns) की समग्रता को संस्कृति कहते है जिन्हें मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है। इनके अनुसार ''संस्कृति सम्बन्धित सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग है जोकि एक समाज के सदस्यों की विशेषताओं को बताना है, और जो इसीलिए प्राणिशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं होता है।''[6] श्री होंबल के मतानुसार संस्कृति वंशानुक्रमण के द्वारा निर्धारित नहीं होती है। यह पूर्णतया सामाजिक आविष्कारों का परिणाम होती है।

उपरोक्त परिभाषाओं की विवेचना से स्पष्ट है कि मानवशास्त्री, जैसा कि सर्वश्री बील्स तथा होइजर (Beals and Hoijer) ने लिखा है, ''संस्कृति शब्द का प्रयोग कुछ निश्चित अर्थों में करते हैं जैसे, संस्कृति (1) समस्त मानव-जाति में एक समय-विशेष में सामान्य जीवन के तरीके (ways of life) या जीवनयापन या रहन-सहन के नमूने (designs for living) है या (2) समाजों के एक समूह, जिनमें कि थोड़ी-बहुत अन्तः क्रिया होता रहती है, के रहन-सहन के तरीके हैं या (3) व्यवहार के प्रतिमान (patterns of behaviour) हैं जोकि एक समाज-विशेष में विशिष्ट रूप में पाए जाते है, या (4) व्यवहार करने के वे विशिष्ट तरीके है जोकि बड़े और जटिल रूप में संगठित समाज के विभिन्न भागों में विशेष रूप से पाए जाते है।[7]

प्रथम शताब्दी से लेकर तृतीय शताब्दी तक मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार-प्रसार हुआ। ईसा की प्रथम शताब्दी में कुषाण सम्राट् कनिष्क ने चतुर्थ बौद्ध संगीति का

आयोजन किया था, जिसमें परिणामस्वरूप बौद्ध प्रचारक मध्य एशिया में पहुँच सके। इन बौद्ध प्रचारकों ने बाख्त्री को अपना सांस्कृतिक उपनिवेश बनाया। बाद में धीरे-धीरे काशगर, यारकन्द एवं खोतान भी अच्छे भारतीय उपनिवेश बन गये। यहाँ अनेक बौद्ध मठ एवं विहार प्राप्त हुये हैं। पामीर तथा लेपनूर में भी भारतीय संस्कृति के प्रचार को सूचित करने वाले अवशेष यदा-कदा प्राप्त हुये हैं। कुची नामक स्थान पर कई भारतीय राजाओं ने राज्य किया था, जिनमें सुवर्णपुष्प, हरिषेण, हरिपुष्प आदि के नाम आज भी आदर के साथ लिये जाते हैं। अग्निदेश में प्राप्त गणेश, शिव एवं कुबेर की मूर्तियों से यह पता चलता हैं, कि मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार तीसरी सदी से पूर्व की व्यापक रूप में हो चुका था।

चीन से हमारे देश के व्यापारिक सम्बन्ध ई.पू. छठी सदी से प्रारम्भ हो गये थे। चीन से व्यापारिक सम्बन्ध प्रायः जल एवं थल दोनों मार्गों से ही था। इतिहास में चीन और भारत के व्यापारिक सम्बन्धों के तीन मार्गों का पता चलता है-पहला अफगानिस्तान से हिन्दुकुश होकर बलख तक जाता था, दूसरा बर्मा से होते हुए दक्षिणी चीन तक पहुँचता था, तीसरा पूर्वी द्वीपसमूह से होकर जलमार्ग के रूप में जाना जाता था। ई.पू. द्वितीय शताब्दी में महायानी बौद्धों ने धर्मदूतों की मंडलियाँ चीन भेजी थीं। ये धर्मप्रचारक भारतीय व्यापारियों के साथ यात्रा करके चीन पहुँचे। इस तरह जल्दी ही जिससे मध्य एशिया व चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार सम्भव हुआ। ई.पू. प्रथम शताब्दी में बौद्ध आचार्य काश्यप मातग जीन गये तथा वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार-प्रसार किया। मध्य एशिया से भी कई भिक्षु धर्मप्रचारार्थ चीन पहुँचे थे।

तिब्बत यद्यपि स्वतन्त्र था, तथापि चीन का प्रभुत्व उस पर हमेशा से अपना शिकंजा कसे हुये रहा। तिब्बत में भारतीय धर्म एवं संस्कृति के प्रचार में भारत के साथ-साथ चीन का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। तिब्बत में भारतीय संस्कृति के समानान्तर बौद्ध संस्कृति का भी विकास प्रारम्भ हुआ। मठों एवं विहारों का गुहाओं में निर्माण होने से बौद्ध कला में भी प्रगति हुई। सप्तम शती में ब्रह्मा लिपि में काफी साहित्य चीन में लिखा गया तथा अनूदित किया गया। बारहवीं शताब्दी के बख्तियार के आक्रमण से नालन्दा विश्वविद्यालय के अनेक बौद्ध-भिक्षु, तिब्बत चले गये, फलस्वरूप तिब्बत भारत का सांस्कृतिक उपनिवेश बन गया और वहाँ बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार-प्रसार हुआ।

नेपाल भारत का पड़ोसी देश होने के साथ-साथ भारत का सांस्कृतिक उपनिवेश भी रहा है। ई.पू. तृतीय शती में नेपाल-नरेश का सम्राट अशोक के साथ भेंट का उल्लेख मिलता है, जिससे यह पता चलता है कि मौर्यकाल में नेपाल से भारत के सम्बन्ध बनना प्रारम्भ हुये थे। गुप्तकाल में तो नेपाल भारत का ही अंग रहा था। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से इस बात की जानकारी उपलब्ध होती है, कि समुद्रगुप्त ने नेपाल पर विजय प्राप्त कर उस पर अपना अधिकार कर लिया था।[8]

इतिहासकारों के मतानुसार चौथी शताब्दी में नेपाल को समुद्रगुप्त के सीमान्त राज्यों में गिना जाता था। नेपाल के राजा प्राय: सूर्यवंशी चन्द्रवंशी आदि रहे हैं, इससे उनका भारतीय होना सिद्ध है।

नेपाल में भारतीय धर्म को दी धारायें प्रवाहित हुई-बौद्ध धर्म एवं पौराणिक धर्म। चीन, तिब्बत एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया में जाने वाले अनेक भिक्षु नेपाल होकर ही वहाँ पहुँचे थे। अत: नेपाल में बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ, किन्तु पौराणिक धर्म वहाँ पहले से विद्यमान था। छठी सदी से सोलहवीं सदी तक दोनों धर्मों ने भारतीय संस्कृति की जड़ें व्यापक रूप से जमा ली थीं।

दक्षिण पूर्व एशिया के अन्तर्गत बर्मा (म्यांमार) मलाया, स्याम एवं पूर्वी द्वीपसमूह (जावा, सुमात्रा, बोर्नियो) आदि देश आते हैं। इसका प्राचीन नाम स्वर्णभूमि था। बौद्धों के जातकग्रन्थों के अनुसार तीसरी शती ई.पू. में यह स्थान सुवर्णभूमि के नाम से ही विख्यात था। गुप्तकाल में भारत के व्यापारिक सम्बन्ध पश्चिम एशिया एवं दक्षिण पूर्व एशिया के साथ घनिष्ठ थे। गंगा नदी के मुखप्रदेश में स्थित ताम्रलिपि बन्दरगाह में दक्षिण पूर्व एशिया के सुवर्णभूमि (सुमात्रा), यवद्वीप (जावा), और कम्बोज (कम्बोडिया) जैसे देशों के साथ सबसे अधिक व्यापार होता था।

भड़ौंच, सोपारा, कल्याणी पश्चिमी तट के ऐसे बन्दरगाह थे, जहाँ से भी दक्षिण-पूर्व को जहाज भेजे जाते थे। व्यापार के साथ-साथ भारतीय धर्म एवं संस्कृति बौद्धधर्म, हिन्दूधर्म, संस्कृत भाषा, कला तथा भारतीय संस्कृति की अन्यान्य विशेषतायें दक्षिण-पूर्व एशिया में पहुँची। दक्षिण-पूर्व एशिया के लोगों ने भारतीय संस्कृति के कुछ पहलुओं को पसन्द किया और उन्हें अपना लिया। यद्यपि उन्होंने अपनी परम्पराओं और अपनी संस्कृति को कायम रखा। आज भी भारत एवं दक्षिण-पूर्व एशिया की संस्कृति में काफी समानतायें देखी जाती हैं। डॉ. रोमिला थापर के अनुसार "मालाबार तट पर स्थित अनेक बन्दरगाहों से भारतीय वस्तुयें अफ्रीका, अरब, ईरान तथा भूमध्यसागरीय देशों को ले जायी जाती थीं। व्यापारियों के काफिले और धर्मप्रचारकों को मंडलियाँ भी स्थलमार्ग से दक्षिण-पूर्व एशिया, मध्य एशिया और चीन जाया करती थीं।"

पाँचवीं शताब्दी में जावा तथा सुमात्रा में हिन्दू राज्य की स्थापना हुई थी। इन दोनों द्वीपों में बौद्ध धर्म के साथ-साथ शैवधर्म की भी पूर्ण प्रतिष्ठा थी। सातवीं सदी में जावा में शैलेन्द्र वंश की स्थापना हुई। यह भी भारतीय राजवंश ही था। नवीं शती में जावा में दक्ष भारतीय राजा था, जिसने अपने शिव-मंदिरों का निर्माण कराया था। चौथी शताब्जी में बोर्नियों के राजा मूलवर्मा ने यूपों का निर्माण करवाकर उन पर शिलालेख उत्कीर्ण कराये थे। इन सबसे यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है, कि दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति पर्याप्त रूप से फली-फूली थी।

पश्चिम-एशिया से भारत का सम्पर्क ई.पू. 400 से ही देखने को मिलता है। भारत के भड़ौंच बन्दरगाह से पश्चिम-एशिया को जहाजों द्वारा माल निर्यात करने के उल्लेख उपलब्ध होते है। मौर्यकाल में सम्राट अशोक की नीति ने भी इसमें पर्याप्त योगदान दिया। अशोक ने धर्मदूतों के कई

दल पश्चिम-एशिया के राजदरबारों में भेजे। वहाँ के कई यूनानी राजाओं का उल्लेख अशोक के एक अभिलेख में किया गया है। भारतीय अतिप्राचीन काल में पश्चिम-एशिया को शाकद्वीप के नाम से जानते थ। इस शाकद्वीप में भारतीय संस्कृति ईस्वी पूर्व से ही प्रसृत थी। ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी में पश्चिम-एशिया भारत का सांस्कृतिक उपनिवेश था। इतिहासकार अलबरूनी के अनुसार पश्चिम-एशिया में भारत की संस्कृति खुरासान, ईरान, ईराक, मासुल एवं मीरिया तक फैली हुई थी।

ईस्वी पूर्व 300 से ईस्वी पूर्व 200 के बीच भारत के व्यापारिक सम्बन्ध यूनान एवं रोम से भी काफी अच्छे थ। रोमन जहाज व्यापार की तलाश में मलाबर तट एवं तमिलनाडु के पूर्वी तट पर पहुँचते थे। उस समय रोम के साम्राज्य का भूमध्यसागर के सभी देशों पर अधिकार था और रोम बाजारों में भारत में बनी विलास की वस्तुओं की बड़ी माँग थी। रोमन लोग भारत से मसाले, कपड़े, कीमती पत्थर और बन्दर तथा मोर जैसे पशु-पक्षी मँगवाते थे। रोमन जहाज लालसागर से चलकर अरबसागर पार करके मलाबार तट या पूर्वी समुद्र तट पर मन्नार की खाड़ी तक पहुँचते थे। उन्हें जिन चीजों की जरूरत होती, उन्हें वे जहाजों में भर लेते थे, तथा सोना देकर रोम वापस चले जाते थे। रोम के सोने ने दक्षिण भारत के राज्यों को काफी समृद्ध बना दिया था।

लंका से भारत के सम्बन्ध अति प्राचीनकाल से रहे हैं। रामायण के नायक श्रीराम ने लंका के राजा रावण को मार कर वहाँ विभीषण के साम्राज्य की स्थापना करवायी थी तथा इस रूप में लंका एक प्रकार से भारत का सांस्कृतिक उपनिवेश बन गया था। ईस्वी पूर्व 5वीं शताब्दी में लंका में बौद्ध संस्कृति का विकास हुआ। यहाँ का राजा विजय भारतीय था तथा उसने लंका पर कूटनीतिक विजय प्राप्त की थी। मौर्यकाल में अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री संघमित्र को बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ लंका भेजा था।

गुप्तयुग में भी सम्राट् समुद्रगुप्त ने लंका पर विजय पायी थी तथा वहाँ के राजा मेघवर्ण के साथ राजनीतिक सम्बन्ध बनाये थे। लंका में सिगरिया के भित्तिचित्रों पर अजन्ता के भित्तिचित्रों का प्रभाव यह सिद्ध कर देता है, कि सांस्कृतिक क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभाव कला पर पड़ा था। दसवीं सदी में चोल देश के राजा राजराज चोल ने लंका के उतरी भाग पर अपना अधिकार कर लिया था तथा उसे सांस्कृति उपनिवेश का स्वरूप प्रदान किया था। तेरहवीं सदी में पाण्ड्य देश के राजा महावर्मन् ने भी लंका पर विजय प्राप्त की थी।

अतः भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार-प्रसार राज्यलिप्सा अथवा संघर्ष एवं युद्धों का परिणाम नहीं अपितु श्रेष्ठ एवं समुन्नत संस्कृति का स्वाभाविक प्रवाह था, जिसके फलस्वरूप विश्व का आधे से भी अधिक हिस्सा प्रभावित हुआ। विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में भारतीय संस्कृति ने मानव को सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाया। इस दृष्टि से विश्व-मानव सांस्कृतिक उन्नति के लिए भारतीय संस्कृति का चिरकाल तक ऋणी रहेगा।

संदर्भ

1. E.B. Tylor, Primitive Culture, New York, 1874, pp. 1
2. Landis, pp. 125
3. Ralph Piddington, An Induction of Social Anthopology, Oliver and Boyd, London, 1952, pp 3-4
4. Ruth Benedict, Patterns of Culture, Routledge ad Kegan Paul Ltd., London, 1904, pp. 46
5. Malanowaski Boonislaw, The Dynamic and Culture change (New Haven)
6. E.A. Hoebel, Man in the Primitive world, MC Graw Hill Book Co., New York, 1958, pp. 7
7. Beals and Hoijer, An Introduction Anthropology, The Macmillan Co., New York, 1959, pp. 228-229
8. समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशास्ति।
9. P.N. Prabhu, Hindu Social Organsation, pp. 214.

दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति

डॉ. विष्णु शंकर श्रीवास्तव*

भारतीय संस्कृति किसी न किसी रूप में अति प्राचीन काल से भारतीय समाज को प्रभावित करती रही है। किसी भी समाज में जब कोई परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत होता तो जीवन के सांस्कृतिक पक्ष में उत्पन्न होकर सामाजिक व्यवस्था में परिवर्त्तन उत्पन्न कर देता है।[1] भारतीय संस्कृति में प्रतीकों तथा पौराणिक गाथाओं का विशेष स्थान है। भारतीय संस्कृति में पौराणिक गाथाओं तथा प्रतीकों का सर्वप्रथम वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले विद्वानों में **मैक्स मूलर** (Max Muller) का नाम सदैव याद किया जाता रहेगा। इनके अनुसार हिन्दुओं की पौराणिक गाथाएँ निश्चय ही भारतीय संस्कृति का दृढ़ आधार हैं और वे पश्चिमी विचारक अपने ज्ञान में अत्यधिक पिछड़े हुए हैं जो अतिशय सभ्य आर्य जाति की गाथाओं का सम्बन्ध संसार की बर्बर-जातियों के रीति-रिवाजों से जोड़ना चाहते हैं।[2] **मैलीनॉस्की** (Malinowski) ने भी अन्ततः यह स्वीकार किया है कि हिन्दुओं की पौराणिक गाथाएँ केवल कपोल-कल्पित नहीं हैं, बल्कि यह व्यक्तियों की मानसिक आवश्यकताओं को उतना ही सन्तुष्ट करती हैं जितना भोजन के द्वारा उनकी शारीरिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है।[3]

हिन्दू संस्कृति का मूल रूप वेदों में निहित है, लेकिन वेदों का इतिहास और इनमें वर्णित जीवन-दर्शन अत्यधिक अस्पष्ट और जटिल होने के कारण उपनिषदकाल से ही अनेक व्यवस्थाकारों ने इसकी विवेचना अपने-अपने ढंग से करता आरम्भ कर दी। यद्यपि शतपथ ब्राह्मण में पुराणों को वेदों के समान ही प्राचीन कह गया है।[4] केरैन के अनुसार "विज्ञान के आधार पर जिस वस्तु को न समझा जा सकता हो, उसकी सरल धार्मिक अभिव्यक्ति को ही 'गाथा' कहा जाता है।"[5] मार्कण्डेय की गाथा विष्णु की माया का एक प्रतीकात्मक विवेचन है जिसमें है जिसमें प्रलय से लेकर सृष्टि के आरम्भ तक की घटनाओं को विष्णु की एक माया के रूप में स्पष्ट किया गया है।[6]

इस गाथा के अन्तर्गत सम्पूर्ण सृष्टि को मकड़े के जाले के समान स्पष्ट किया गया है। इसके बाद नारद की गाथा का मुख्य उल्लेख मत्स्य पुराण में मिलता है। नारद की गाथा जहाँ एक ओर विष्णु की 'माया' के स्वरूप को स्पष्ट करती है, वहीं दूसरी ओर इससे हिन्दू संस्कृति में जल के

*103, शान्ति देव, किशोरी मोहन कॉम्प्लेक्स, गया-823001 (बिहार)

अस्तित्व और इसके प्रतीकात्मक महत्व पर भी प्रकाश पड़ता है।[7]

दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों में आधुनिक ब्रह्मा या **बर्मा, हिन्दचीन या** इण्डो-चीन मलाया, सुमात्रा, जावा, बाली, बोर्नियो, फिलीपाइन और सेलेबीज द्वीपसमूह हैं। इन देशों में प्राचीन काल से ही भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रचार होता रहा किसी समय इन देशों के निवासी बर्बर और असभ्य वन्य जातियों के थे। इन देशों में विशेषकर जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो में बहुमूल्य मसाले उत्पन्न होते थे। विश्व के मसाले के व्यापार का एकाधिकार इन्हीं द्वीपों को था। इन द्वीपों और देशों के मसालों की बाहुल्यता, भूमि की उर्वरता और खनिज पदार्थों की सम्पन्नता से शीघ्र ही इन द्वीपों और देशों की ओर भारतीय आकर्षित हो गये। भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र से कामरूप या असम से ब्रह्मा और हिन्दचीन तथा अन्य पूर्वी देशों को आने-जाने के व्यापारिक मार्ग थे। हिन्दू-युग में गंगा के मुहाने से कुमारी अन्तरीप तक के समुद्र-तट के बन्दरगाहों से अनेक भारतीय जल-मार्गों से समुद्री यात्रा करते हुए इन देशों और द्वीपों को आते-जाते थे। इससे इन देशों और भारत में परस्पर व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्धा स्थापित हो गया था। सुदूर पूर्व के इन द्वीपों को भारतीय **स्वर्ण-भूमि** कहते थे। इन लोगों ने भारतीय लिपि, संस्कृत, भाषा, साहित्य, हिन्दू-धर्म और संस्कृति का असाधारण प्रचार भी किया।

दक्षिण-पूर्वी एशिया या सुवर्ण-भूमि का एक अंग **बर्मा या ब्रह्मा** था। इसके दक्षिण के भाग को श्री-क्षेत्र कहते थे। ऐसा अनुमान है कि अशोक के दो धर्म प्रचारक भिक्षु स्थविर उत्तर में और सोण बर्मा गये थे। उन्होंने बर्मा में बौद्ध धर्म का प्रचार किया और बौद्ध संघ की स्थापना की। ब्रह्मा के दक्षिण भाग में हीनयान मत का प्रचार हुआ और वह इस सम्प्रदाय का केन्द्र बन गया। इसके पार्श्ववर्ती प्रदेशों में यहाँ से हीनयान सम्प्रदाय का अधिक प्रसार हुआ। ब्रह्मा में बौद्ध धर्म का वास्तविक प्रचारक और धर्मदूत प्रसिद्ध सिंहली प्राचार्य बुद्धघोष था जो सन् 450 में लंका से ब्रह्मा गया और वहाँ उसने बौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय का अत्यधिक प्रचार किया। दक्षिण ब्रह्मा में प्रोम नगर से आठ किलोमीटर दूर, हयावजा नामक स्थान में शिलालेख और पाली भाषा में हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि ईसा सन् की पाँचवीं सदी तक दक्षिण ब्रह्मा में भारतीय भाषा, लिपि और धर्म पूर्ण रूप से प्रचलित हो चुका था।

बर्मा के पूर्व में आधुनिक **स्याम या थाईलैण्ड** का स्वतन्त्र देश है। ईस्वी सन् की दूसरी या तीसरी सदी में स्याम के केन्द्रीय प्रदेश में द्वारावती नामक एक भारतीय राज्य का अभ्युदय हुआ। सम्भवत: इसके संस्थापक भारतीय थे। स्याम के एक भाग को विदेह राज्य कहा जाता था और उसकी राजधानी मिथिला थी। इसी प्रकार ईरावती और सालबीन नदियों के क्षेत्र को कौशाम्बी कहा जाता था। इसके हिन्दू राजवंश के नरेशों ने कौशाम्बी एवं गान्धार राज्य का अत्यधिक विस्तार किया। सातवीं सदी में सन् 1253 में चीन के सम्राट् कुबलाई खाँ ने इस राज्य को जीत लिया। भारतीयों के

प्रभाव से स्याम में हिन्दू और बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रचार हुआ। स्याम के समीप के हिन्दू उपनिवेश कम्बोडिया या कम्बुज में बौद्ध धर्म का महायान सम्प्रदाय प्रवेश कर गया। परन्तु यहाँ हीनयान सम्प्रदाय का प्रचार सिंहल या लंका के बौद्ध संघ ने किया। कालान्तर में हिन्दू और बौद्ध धार्मिक साहित्य तथा कला ने स्याम देश की भाषा, साहित्य, कला और सामाजिक संस्थाओं को अत्यधिक प्रभावित किया। स्याम में अमरावती शैली की कांसे की बौद्ध प्रतिमाएँ, गंगा की घाटी में निर्मित गुप्तकालीन मूतियों, बौद्ध स्तूपों और विहारों के भगनावशेष तथा दक्षिण भारत की पल्लव लिपि में अंकित बौद्ध धर्म के सिद्धान्त उपलब्ध हुए हैं। इससे विदित होता है कि स्याम में शिव, विष्णु और बुद्ध की पूजा होती थी। भारत से बोधिवृक्ष की एक शाखा को लाकर स्याम में लगाया गया। स्याम में हिन्दू नामों उपाधियों को अपना लिया गया। वहाँ के स्थानों, नगरों, लोगों और राजाओं के नाम और पदवियों तथा विरूद आज भी हिन्दू प्रभाव के अनेक अवशिष्ट चिह्न प्रकट करते हैं। अनेकानेक हिन्दू सामाजिक प्रथायें, रूढ़ियों, त्योहार आदि आज भी सोलहवीं सदी तक स्याम के निवासी भारतीय संस्कृति के प्रभाव के अन्तर्गत रहे।

स्याम से आगे पूर्व में हिन्दचीन या इण्डोचाइना का देश है। हिन्द-चीन में भारतीयों का सबसे प्राचीन उपनिवेश **चम्पा** था। चम्पा का राज्य हिन्दचीन के दक्षिण प्रान्त के कम्बोडिया के उत्तर-पूर्व में था। इसमें दक्षिण अन्नाम और कोचीन प्रदेश थे। सम्भवतः पूर्वोत्तर बिहार के भारतीयों ने अंग राज्य की राजधानी चम्पा के नाम पर यह उपनिवेश बसाया था। सम्भवतः यह दूसरी सदी में स्थापित किया गया था। चम्पा की राजधानी अमरावती थी। यह भारतीय उपनिवेश तेरह सौ वर्षों (सन् 150 से 1471) तक समृद्धशाली रहा। वह चीनी और भारतीय सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्धों के मध्य में एक महत्वपूर्ण राज्य था। चम्पा का प्रथम भारतीय हिन्दू राजा श्रीमार था। इसने ईस्वीं सन् की दूसरी सदी के अन्तिम भाग में शासन किया। और कहा जाता है कि उसने चम्पा के हिन्दू राजवंश की स्थापना की। श्रीमार के बाद फनवेन नाम राजा ने सन् 347 में चीन पर आक्रमण करके चीन के एक उपजाऊ प्रान्त न्हुत-नाम को जीत कर **चम्पा** राज्य की समा को होन-सोन पर्वत-श्रेणी तक बढ़ा दिया। भद्रवर्मा ने शिव के परमभक्त होने से अपनी राजधानी मिसोन (My Son) में एक भव्य शिव मन्दिर बनवाया और उसमें ''भर्देश्वर स्वामी'' नामक शिव की मूर्ति प्रतिष्ठत की। चम्पा में भर्देश्वर स्वामी का मन्दिर राष्ट्रीय मन्दिर बन गया और वह धर्म तथा संस्कृति का केन्द्र हो गया।

हिन्दचीन में दक्षिण में कम्बोडिया प्रान्त में प्राचीन हिन्दू राज्य था। इसे चीनी **फूनान** कहते थे। इस राज्य के अन्तर्गत कम्बोडिया, कोचीन का एक भाग और मीकांग नदी के नीचे का क्षेत्र था। ईस्वी सन् की प्रारम्भिक सदियों में फूनान के निवासी अर्द्ध सभ्य थे। वे नग्न रूप में रहते थे और शरीर पर गोदने गुदाते थे। ईसा की पहली सदी में कुछ हिन्दू कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण के नेतृत्व में फूनान पहुँचे। कौण्डिन्य ने वहाँ के मूल-निवासियों की रानी सोमा को पराजित किया और उसके

साथ विवाह करके नवीन हिन्दू राज-वंश की स्थापना की। पाँचवी सदी के प्रारम्भ में रचित दक्षिण थाईलैण्ड के इतिहास में फूनान राज्य की स्थापना का वर्णन है, और उसमें कौण्डिन्य अनुश्रुति का उल्लेख है। इसके अनुसार फूनान की रानी लियू-यी (Lieou-Ye) थी। एक नाथ में समुद्र पार से हुएन-तेन (Heoun-Ten) नामक व्यक्ति फूनान आया। हुएन-तेन (कौण्डिन्य का चीनी रूपान्तरण) द्वारा स्थापित फूनान एक शाक्तिशाली राज्य था। इसमें ब्राह्मण और व्यापारी भारत से आकर बस गये थे और भारतीय संस्कृति का प्रसार किया था।

इन्डोचायना के दक्षिण में **कम्बोडिया** प्रांत में **कम्बुज** राज्य था। वह भी भारतीयों का एक औपनिवेशिक राज्य था। **कम्बुज** राज्य उन हिन्दुओं ने स्थापित किया था जो भारत से ईस्वी सन् के पूर्व मेकांग नदी के मुहाने तक चले गये थे। प्रारम्भ में यह राज्य छोटा एवं फूनान राज्य के अन्तर्गत था। परन्तु 8वीं सदी तक यह हिन्द चीन का सबसे बड़ा हिन्दू राज्य बन गया। कम्बुज के इस विशाल साम्राज्य पर 15वीं सदी तक शासन किया और वहाँ भी भारतीय संस्कृति को विकसित किया।

मलाया प्रायद्वीप में भी भारतीयों ने अपने उपनिवेश स्थापित किये। मलाया के पुरातत्व विभाग की खोजो और उत्खनन कार्यो से तथा उपलब्ध अभिलेखों से विदित होता है कि ईस्वी सन् की चौथी एवं पाँचवी सदियों ने भारत से आने वालों ने मलाया प्रायद्वीप में अनेक हिन्दू उपनिवेश स्थापित किये। मलाया में कई हिन्दु एवं बौद्ध मंदिरो एवं प्राप्त गरूड़वाहिनी विष्णु प्रतिमा एवं संस्कृत के अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि यहाँ भारतीय भाषा, धर्म एवं संस्कृति व्यापक रूप से प्रचलित थे।

मलाया प्रायद्वीप से दक्षिण पूर्व की ओर **सुमात्रा** द्वीप है। वर्तमान में यह इण्डोनेशिया का अंग है। यहाँ भी कलिंग से आये भारतीयों ने अपना उपनिवेश स्थापित किया एवं भारतीय संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार किया।

आधुनिक इण्डोनेशिया देश का एक अन्य प्रमुख भाग **जावा** है। जावा और सुमात्रा दोनों ही बड़े द्वीप है, जो एक दूसरे के समीप है। ईस्वी सन् की प्रथम सदी में भारतीय यहाँ पहुँच गये थे। कलिंग प्रदेश के भारतीयों ने औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया शुरू की थी और स्वतंत्र हिन्दू राज्य स्थापित किया था। भारतीय कला, भाषा, साहित्य धर्म और संस्कृति अन्य देशों की अपेक्षा जावा में अधिक विस्तृत रूप से प्रसारित एवं समृद्ध थे।

पूर्वी द्वीप समूहों में **बाली** एक द्वीप है। इसमें आज भी हिन्दू धर्म और संस्कृति विद्यमान है। बाली द्वीप की स्थापत्यकला और मूर्तिकला भी भारतीय कला के सिद्धान्तों पर विकसित हुई। बाली की कला एवं संस्कृति पर भारतीय कला एवं संस्कृति की गहरी छाप है। पूर्वी द्वीप समूह में **बोर्नियो** द्वीप सबसे बड़ा है। बोर्नियो में पुरातत्व सम्बन्धी जो प्रमाण मिले हैं उससे ज्ञात होता है कि पश्चिमी

बोर्नियो और कपुआत नदी के घाटी में हिन्दुओं ने कई उपनिवेश स्थापित किये और वहाँ भारतीय संस्कृति विकसित था जो आज भी वहाँ विद्यमान है। दक्षिण भारत में हिन्दू प्रशान्त महासगर में स्थित फिलीपाईन द्वीप समूह में भी हिन्दुओं ने अपने उपनिवेश स्थापित किये। भारतीय संस्कृति का **चीन** पर भी बहुत प्रभाव था। तीसरी सदी से छठी सदी तक चीन मे अनेक बौद्ध स्मारक निर्मित हुये और चीन में बौद्ध धर्म अत्यधिक प्रचार हुआ। बौद्ध साहित्य के चीन में प्राप्त होने के कारण चीन बौद्ध धर्म का केन्द्र बन गया। गुप्तकाल तक चीन में बौद्ध धर्म एवं भारतीय संस्कृति का एक क्षत्र साम्राज्य था।

इस प्रकार दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया में भारतीय हिन्दू संस्कृति सभी देशो में विकसित हुई एवं हिन्दू संस्कृति का व्यापक प्रचार एवं प्रसार हुआ।

संदर्भ

1. एच.सी. श्रीवास्तव, भारतीय समाज संरचना, पृ. 147
2. Max Muller, Contribution of the Science of Mythology.
3. Malinowski, Myths in Primitive Psychology.
4. शतपथ ब्राह्मण 13/4/3/13
5. Jung and Kerenye, Introduction to the Science of Mythology.
6. ''यशोर्णनाभिः सृजते गृहयतेय'' मार्कण्डेय पुराण।
7. Zimmer, Myths and Syblos in Indain Art and Civilization, pp. 35-50
8. Zimmer, Op Cit, pp. 27-35

दक्षिणी-पूर्वी एशिया : भारतीय स्थापत्य एवं विरासत के विशेष सन्दर्भ में

मोहनलाल साहु* एवं शकुन्तला साहु**

प्राचीन काल में जिस संस्कृति ने सम्पूर्ण विश्व में संचार किया वह है भारतीय संस्कृति और यह संचार सैनिक आक्रमण नहीं, अपितु सांस्कृतिक विनिमय के स्वरूप का था। भारत का इतिहास एवं संस्कृति अपने प्रारम्भिक काल से ही गौरवमय रही है। उत्खनन एवं पुरातात्त्विक अवशेषों के आधार पर भी हमें भारतीय संस्कृति का विश्व स्वरूप दिखायी देता है।

शक्ति संगम तंत्र में उल्लिखित मिलता है कि प्राचीन इतिहास में पाँच प्रस्थों का वर्णन मिलता है- इन्द्रप्रस्थ, यमप्रस्थ, वरुणप्रस्थ, कूर्मप्रस्थ तथा देवप्रस्थ। इन पाँच प्रस्थों में 56 देश समाहित थे। इन्द्रप्रस्थ का महाभारत में उल्लेख मिलता है। वरुणप्रस्थ पूर्व की ओर राजावर्त (राजस्थान), उत्तर की ओर हिंगुला नदी और पश्चिम की ओर मक्केश्वर/मक्का तक विस्तृत था।[1] आर.सी. मजूमदार ने लिखा है कि सुदूर पूर्व में भारतीयों की सामुद्रिक और औपनिवेशक साहसिक कृत्यों के प्रमाण हैं।[2] कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र, वृहत्कथा, मिलिन्द पन्हो, जातक कथाओं में सुवर्ण द्वीप से निरन्तर व्यापार बढ़ने के प्रमाण मिले हैं। डॉ. के.पी. जायसवाल ने लिखा है कि भारशिव वाकाटक युग में वृहत्तर भारत को भारतवर्ष का अंग माना जाता था। वर्तमान दक्षिणी-पूर्वी एशियाई देशों का सम्पूर्ण क्षेत्र वृहत्तर भारत का क्षेत्र माना जाता था। मलाया प्रायद्वीप में भारतीयों के परिचय का प्रमाण वहाँ स्थित वैलेजनी जिले में प्राप्त चौथी शताब्दी ई. के शिलालेख से मिलते हैं। टॉलमी ने मलाया प्रायद्वीप जावा सुमात्र के बन्दरगाहों का और पल्लुर के भारतीय बन्दरगाह का उल्लेख किया है जहाँ से सामान सीधा भी भेजा जाता था। इतिहासकार म्यूर ने लिखा है कि भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य की भव्यता विविधता और वनस्पतियों के उत्पादन की समूची दुनिया में बराबरी नहीं है। सरवाल्टर रैले ने लिखा है- 'प्रथम मानव प्राणी का निर्माण भारत खण्ड में हुआ। कर्नल अल्काट ने मानव संस्कृति का उद्‌गम स्थल भारतवर्ष को ही माना है।'[3]

---

*अध्यक्ष, भारतीय इतिहास संकलन समिति, चित्तौड़ प्रान्त, कोटा (राजस्थान)

**प्राचार्य, राज उच्च मध्य विद्यालय, केशवपुरा, कोटा (राजस्थान)

जब फ्रांसीसी दार्शनिक वाल्टेयर को ऋग्वेद की एक प्रति भेंट की गयी, तब उनके उद्‌गार थे– यह देन इतनी अमूल्य है कि पाश्चात्य राष्ट्र सदैव पूर्व के प्रति ऋणी रहेंगे। मेक्समूलर ने लिखा– यदि कोई मुझसे पूछे कि मानवीय अन्तःकरण एवं बुद्धि की परिपूर्णता व शक्ति किस देश में अधिक चरम सीमा तक पहुँची है? संसार के गूढ़तम रहस्यों का विश्लेषण किस देश में हुआ है? प्लेटो कैंट आदि के दर्शन के अध्ययन के बाद भी अध्ययन योग्य विषय किस देश में सुलझाये गये हैं? तो मैं त्रिबार उत्तर दूँगा– हिन्दुस्तान में।[4] अरबी भूगोलशास्त्री अल मसूदी ने 943 ई. में लिखा है, ''भारत उस समय समुद्र व स्थल दोनों पर फैला हुआ था और अपनी सीमा जाबाग (सुमात्रा या वृहत्तर जावा) तक विस्तृत थी, जहाँ इन द्वीपों का शासन करता था।''[5] लार्ड मैकाले ने भी कहा है, ''ईसा मसीह से कई शताब्दियों पूर्व जब इंग्लैण्ड के लोग जानवरों की खालें पहनते थे, अपने शरीर पर चित्रकारियाँ बनाते थे और जंगलों में नंगे घूमते थे, उस समय भारत की सभ्यता अपने चरम वैभव पर थी।''[6]

जर्मनी के विश्वविद्यालयों में आज भी वेदों की दुर्लभ प्रतियाँ सुरक्षित रखी हुई हैं और उनमें वर्णित गूढ़तम विद्याओं पर वहाँ के वैज्ञानिक अन्वेषणरत हैं।[7] अग्निपुराण में भारत को जम्बूद्वीप की संज्ञा दी गयी है। समुद्र के पार भारतीय प्रदेशों को दीपान्तर कहा जाता था। भारतीय साहित्य में इन नवद्वीपों का उल्लेख मिलता है– इन्द्रद्वीप, कसेरू, ताम्रवर्ण, गभासितमन, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व और वरुण द्वीप। सांस्कृतिक भारत में वर्तमान कम्बोडिया (कम्बुज) थाईलैण्ड (श्याम), वियतनाम (चम्पा), लाओस (लवदेश), जावा (यवद्वीप), मलाया (मलयद्वीप), बोर्नियो (बहरीन द्वीप), कलिंग (फिलीपाइन्स द्वीप), सुमात्रा (सुवर्णद्वीप), ब्रह्मदेश (बर्मा), लंका आदि सम्मिलित थे। उस समय के सांस्कृतिक भारत की सीमाएँ अफगानिस्तान से लेकर सम्पूर्ण दक्षिणी-पूर्वी एशिया में फैली हुई थी। शक्तिशाली जलयानों में बैठकर भारतीय ब्रह्मदेश, श्याम, इण्डोनेशिया, मलेशिया, आस्ट्रेलिया, बोर्नियो, फिलीपीन, जापान और कोरिया तक पहुँचे और वहीं अपना राजनीतिक तथा सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित किया।

भारत भूमि पुत्रों की अति प्राचीन काल से ही यह जिज्ञासा रही थी कि सागर के उस पार क्या है। उनकी इच्छा थी कि विश्व के सभी लोगों का सुसंस्कृत बनाना होगा। आर्य (श्रेष्ठ) बनाना होगा। हमारे प्राचीन ऋषियों के महान् उद्‌घोष – **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** के साथ भारतीय सागर पार कर गये और इसको वास्तविक स्वरूप प्रदान किया। जावा में आज भी शक काल गणना प्रचलित है, जो भारत से सम्बन्ध बताती है। इन देशों में स्थान-स्थान पर शिव, विष्णु व बुद्ध के मन्दिर हैं जो वहाँ के समाज का हिन्दू धर्म से निकट सम्बन्ध प्रकट करते हैं। बोरो बुदूर व अंगकोरवाट के भव्य मन्दिर शिल्प अजन्ता और एलोरा के शिल्प के सामीप्य है।[8] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वर्तमान दक्षिणी-पूर्वी एशियाई देशों का क्षेत्र भारतीय क्षेत्र ही रहा और यहाँ पर हिन्दू साम्राज्य था, जिसके प्रमाण के रूप में आज भी कई अवशेष वहाँ के इतिहास का बयान कर रहे हैं।[9]

जावा में 'आगस्त्य पर्व' नामक एक ग्रन्थ है। इसमें सृष्टि निर्माण एवं प्रलय, मनु मन्वन्तर, स्वर्ग-नरक कल्पना, दक्ष प्रजापति और उसकी कन्याएँ देव गन्धर्व विद्याधर आदि चरित्रों के सम्बन्ध में प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों पर आधारित विवरण मिलता है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उल्लेख है कि समुद्रगुप्त का प्रमुख में सिंहल एवं अन्य द्वीपों के लोगों का उल्लेख मिलता है। सातवीं-आठवीं शताब्दी के संस्कृत-चीनी शब्दकोश में दक्षिणी समुद्र में स्थित प्रदेशों को 'जिपत्रक' कहा जाता था। यूरोपीय विद्वान सिलवेन लेवी ने इस शब्द का अर्थ 'समीपकर्ता द्वीपों सहित भारतीय द्वीप समूह' लगाया है। दोनों खण्ड समुद्र के द्वारा एक दूसरे से कटे हुए थे। दोनों खण्डों को मिलाकर भारतवर्ष कहा गया है। आर.सी. मजूमदार ने लिखा है कि साहित्यिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि व्यापार ने ही भारत व सुदूरपूर्व के सम्बन्धों को प्रोत्साहित किया। वहाँ भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। इन देशों में भारतीय संस्कृति और धर्म की अनेक धरोहरों का निर्माण हुआ जो आज भी इस क्षेत्र में भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य की गवाह है। धर्मप्रचारक भी इन देशों में पहुँचे।

चम्पा-यहाँ पर हिन्दू वंश की स्थापना 150 से 200 ई. में हुई। इलियट के अनुसार यहाँ विजेता चाम थे, इसलिए इसका नाम चम्पा पड़ा। वायु पुराण में इसे अंगदेश कहा है। प्रमुख हिन्दू धरोहरों में मैसन में भद्रेश्वर स्वामी का मन्दिर (शिव) है, जो यहाँ का राष्ट्रीय मन्दिर बन गया। आर. सी. मजूमदार द्वारा संकलित 130 अभिलेखों में से 92 में शिव का उल्लेख है। यहाँ भारतीय पोशाक, हिन्दू पंचांग तथा तबला व बाँसुरी जैसे भारतीय वाद्य-यंत्रों का प्रचलन था। अभिलेखों में ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होता था।

जावा के शासक पूर्णवर्मा द्वारा गोमती नामक नहर खुदवाये जाने का उल्लेख मिलता है। उसके द्वारा एक हजार गायों की दक्षिणा दिये जाने का भी उल्लेख है। अनेक मन्दिर के अवशेष मिले हैं। बेयान में प्रसिद्ध शिव मन्दिर है। ब्रह्मा, विष्णु व महेश की पूजा होती थी। राजा के विजय यात्रा की तुलना विष्णु के तीन कदमों से की गयी है। पंचतत्त्व की अवधारणा का भी प्रचलन था। डायंग पठार में चान्दी, पुन्तदेव, भीम श्रीखण्ड पावोन और अर्जुन नामक हिन्दू मन्दिरों का समूह भारतीय धारोहर का प्रमुख प्रमाण है।

यवद्वीप का प्रम्बनन घाटी मन्दिर समूह

जावा की प्रम्बनन घाटी में 156 मन्दिरों का एक समूह है। वह 'लारा जोग्रांग' के नाम से पहचाना जाता है। इस लारा जोग्रांग के विषय में एक रम्य आख्यायिका जावा में प्रचलित है। मध्य भाग में आठ देवालय हैं और उनके चारों ओर प्राचीर, फिर छोटे-छोटे मन्दिर, उनके चारों ओर पुनः प्राचीर, इस प्रकार मन्दिरों की चार पंक्तियाँ हैं।

महान शिवालय

यहाँ शिव-मन्दिर की लम्बाई 90 पफीट है। दस पफीट चौड़ा चौतरा और सात पफीट चौड़ा परिक्रमा-मार्ग है। गर्भगृह में महेश्वर के साथ आदिशक्ति दुर्गा की मूर्ति भी है। दुर्गा के दर्शन से प्रसन्नचित्त होकर बाहर आने पर अनुपम शिल्प का परिक्रमा-पथ है। प्रभु रामचन्द्र के वनवास के चौदह वर्षों का कथाभाग सबके अन्त:करण को स्पर्श करने वाला है। सीता-हरण के प्रसंग का चित्रण देखने पर लगता है मानो साक्षात् यह घटना सामने घटित हो रही है। दशानन के मुख पर व्यक्त आसुरी आनन्द, शिल्प के अचेतन होने के भान से ऊपर उठकर, मन को दु:ख देता है और उसके हाथों से मुक्त होने का प्रयास कर हताश हुई भूमिकन्या के मुख के करुण भाव अन्त:करण को हिला देते हैं।

बोरोबुदूर बौद्ध स्तूप

जवा का बोरोबुदूर का बौद्ध स्तूप बौद्ध कला का उत्कृष्ट प्रमाण है। इसका रचनाकाल 750 ई. माना गया है। रचना और अलंकार की दृष्टि से बोरोबुदूर स्तूप अत्यन्त सुव्यवस्थित है और अन्य दृष्टियों से भी अद्वितीय है। जावा, सुमात्रा और मलाया प्रायद्वीप से मिलकर बने श्रीविजय राज्य के शैलेन्द्र राजाओं ने केदु के उपजाऊ मैदानों में एक रम्य, प्राकृतिक पहाड़ी की चोटी पर इसे बनाया था। शैलेन्द्र ने अपने वैभवपूर्ण शासन का एक स्थायी आध्यात्मिक स्मारक बना रखा है, जो देखते ही बनता है। गौतम बुद्ध की जन्म-भूमि में भी इतना बड़ा स्तूप नहीं है। नौ मंजिल की प्रचण्ड और फिर भी सुन्दर वास्तु है सारी इमारत के आधार पर छ: वर्गाकार चबूतरे हैं जिनके किनारे दो-दो आलों वाले हैं और उनके ऊपर तीन गोलाकार चबूतरे हैं। सबसे ऊपर वाले गोलाकार चबूतरे पर एक विशाल 'दागाब' है जिसका व्यास 52 पफीट है और उसका आकार भारतीय स्तूप जैसा है जो सारे स्मारक पर छाया हुआ है। तीनों गोलाकार चबूतरों पर ''छोटे दागाब हैं, जो तीन संकेन्द्रीय वृत्तों में जोड़े गये हैं और संख्या में क्रमश: 32, 24 और 16 हैं, और ये 72 दागाब बौद्ध संसार में किसी और स्थान पर देखने को नहीं मिलते।'' वे ठोस नहीं हैं बल्कि घण्टी के आकार के छिद्रित गुम्बद हैं और उनके नीचे धर्म-चक्र मुद्रा में बुद्ध की एक-एक मूर्ति है। विशाल आकार पर बने चार वर्गाकार चबूतरों में से प्रत्येक में ठोस पत्थर का एक प्रकार है जो एक प्रकार का जंथला है, आकाश की ओर खुलते हुए चार प्रवेश द्वारों के साथ चार प्रकार के ध्यानी बुद्धों की चार प्रकार की चार पंक्तियाँ रखी गयी हैं। इनमें से प्रत्येक में 92 मूर्तियाँ हैं जो 92 गवाक्षों में रखी हैं। इसके अतिरिक्त बौद्ध मूर्तियों की एक ऊपरी पंक्ति है, जिसे 64 बार दोहराया गया है और इसे सबसे ऊँचे वर्गाकार चबूतरे के साथ-साथ रखा गया है। पहली सीढ़ी से नवीं सीढ़ी तक की ऊँचाई एक सौ पचास फीट है।

मूर्तियों से सुसज्जित फलकों की पंक्तियाँ हैं जो संख्या में लगभग 1500 हैं और उन्हें

साथ-साथ रखा जाय तो वे तीन मील लम्बी होंगी। ये फलक मुख्य दीवारों पर और बरामदों के साथ-साथ जंगलों पर रखे हैं। इन मूर्तियों में मानव आकृतियाँ, हाथी, बन्दर तथा अन्य जानवर हैं। जंगलों के दृश्य भी अंकित किये गये हैं। वोगल का कथन है कि ''निस्सन्देह वे सबके सब इतने श्रेष्ठ नहीं है, किन्तु उनमें से अधिकांश साधारण से ऊँचे हैं और कई वास्तव में उत्कृष्ट।'' थोड़ी-सी आकृतियाँ वस्त्र-पहने दाढ़ी वाले ब्राह्मणों की हैं। बढ़िया वस्त्र और काफी आभूषण पहने हुए व्यक्ति राजा, राजकुमार और सामन्त हैं, किन्तु वे देव भी हो सकते हैं।

प्रथम उपदेश के बाद बुद्ध की जीवन-कथा, जिस प्रकार उसे 'ललितविस्तार' में दिया गया है, 120 फलकों में प्रस्तुत की गयी है जिन्हें पहली चित्रशाला की मुख्य दीवारों के साथ-साथ दो-दो पंक्तियों में रखा गया है। ऊर्ध्वांकित चित्रों में कई जातक-कथाओं को प्रस्तुत किया गया है। इसमें महायान-कथाओं के सहस्रावधि प्रसंग पाषाणों पर चित्रित किये गये हैं। जातक-कथाओं के सैकड़ों प्रसंगों को कलाकारों ने शिल्प-पटों पर साकार किया है।

कम्बुज में हिन्दू संस्कृति का विकास सर्वाधिक उल्लेखनीय रहा है। वहाँ के नगरों के नाम भी भारतीय थे; जैसे ताम्रपुर, विक्रमपुर, ध्रुवपुर, अध्यपुर आदि। इन नगरों में विप्रशाला, शास्त्र और आरोग्य शाला जैसी संस्थाएँ थीं। संस्कृत में हिन्दू धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया जाता था। रामायण, महाभारत और पुराणों की कथाएँ होती थीं। कौण्डिन्य नाम के वीर ने फूनान संस्कृति का निर्माण किया। कम्बु कम्बोडिया पहुँचा। चम्पा और अनाम के बलाढ्य हिन्दू राज्य उदित हुए।

अंगकोरवाट एवं अंगकोरथाम

सूर्यवर्मन द्वितीय वीर, राजनीतिज्ञ और विद्या, कलाओं का आश्रयदाता था। उसने दक्षिण द्रविड़ प्रणाली की बनावट का, विष्णु-मन्दिर बनवाया। मन्दिर का नाम अंगकोरवाट मन्दिर है। आकार में तत्कालीन संसार में सबसे बड़ा, सुन्दरता और बेलबूटों के काम में उतना ही कौशलपूर्ण है। 1,000 पफीट लम्बा, 750 पफीट चौड़ा और 40 पफीट ऊँचा कलात्मक उत्कीर्णनयुक्त (नक्काशीदार), काले पाषाण का पीठ (चबूतरा), मन्दिर के शिखर की ऊँचाई 210 पफीट, पहली अटारी है 795 पफीट लम्बी और 672 पफीट चौड़ी। मुख्य शिखर के चारों ओर चार कोनों में चार कलात्मक उत्कीर्णनयुक्त छोटे शिखर हैं, और गर्भगृह में गरुड़वाहन, शंख-चक्र-गदा-पधारी भगवान् विष्णु की स्वर्ण-मूर्ति। मन्दिर के चारों ओर रमणीय उद्यान और जल से भरे-पूरे कमल पुष्पों के तड़ाग। चतुर्दिक् 650 पफीट चौड़ी खाई, जिसमें से होकर मन्दिर के प्रवेश दार तक जाने वाला 1,560 पफीट लम्बा प्रशस्त मार्ग है। उसके कटघरे पर कलात्मक उत्कीर्णन है।

कम्बोडिया स्थापत्य कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण अंगकोरवाट मन्दिर समूह है, जिनका निर्माण राजा सूर्यवर्मा द्वितीय ने 1113-1145 ई. में करवाया। चारों ओर 650 पफीट चौड़ी 4 किमी.

लम्बी नहर है। एक और के ऊपर दूसरे बने हुए हैं और उनमें निरन्तर स्तम्भों वाले लम्बे-लम्बे बरामदे हैं, और सबसे ऊपर अन्तिम स्तम्भ है जो एक अद्‌भुत संगति लिए आकाश में ऊँचे खड़े हैं। लम्बा पुल चौड़ाई में 40 पफीट है। यह मार्ग पश्चिमी प्रवेश द्वार से पूर्वी प्रवेश द्वार तक चला गया है। सर्प का शरीर जंगला है और सात फनों वाला मुँह मन्दिर के प्रवेश स्थान पर बना हुआ है। बरामदों की दीवारों के साथ-साथ नक्काज़ी का काम है, जैसे राजा, सैनिक और पुरोहितों के जुलूस और महाकाव्यों से लिये गये दृश्य हैं। सैकड़ों देव और अप्सराएँ दीवारों से प्रसन्नतापूर्वक मुस्करा रही हैं। बड़े-बड़े स्तम्भों के प्रत्येक पत्थर पर सुन्दर नक्काशी की गयी है। सिंहद्वार और उनके साथ की सीढ़ियाँ चार मुख्य स्थानों पर बनी हैं और अन्त में घण्टी के आकार के एक स्थान में केन्द्रीय स्तम्भ के नीचे मिल जाते हैं। माना जाता है कि इस स्थान पर राजा ने स्वर्ग के प्रति अपने उत्तर दिये थे।

अंगकोरवाट के विषय में रॉलिन्सन ने इस प्रकार लिखा है: ''यदि ख्मेरों ने केवल यहीं एकमात्र स्मारक ही बनाया होता तो भी उनका नाम संसार के महत्तम कलाकारों में लिया जाता, क्योंकि उसकी शिल्प-कला अत्यधिक परिपूर्ण है और कला अत्यधिक दुर्लभ है।'' डॉ. आर.सी. मजूमदार के अनुसार, ''कम्बुज की कला सर्वोत्तम है। अंगकोर थोम के नगर और इसके समीप के स्मारकों को देखने से चकाचौंध करने वाली उत्कृष्टता का ऐसा प्रभाव उत्पन्न होता है जो उसका सूक्ष्म निरीक्षण करने पर भी कम नहीं होता। वस्तुत: यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि संसार के किसी और स्थान में अंगकोर जैसे भव्य स्मारक नहीं मिलते। अंगकोरवाट को ठीक ही कम्बुज के सर्वश्रेष्ठ स्मारकों में गिना जाता है।'' स्वामी सदानन्द ने अंगकोरवाट मन्दिर के बारे में लिखा है, ''जब हम सुन्दर भित्ति-चित्रों, गम्बददार छतों से युक्त लम्बी गैलरियों, चौड़े भवनों, छज्जेदार दरवाजों तथा छोटे-छोटे छितरे भवनों से युक्त (जिनके अब केवल खण्डहर ही बचे हैं) विस्तृत आंगनों के मण्डल को देखते हैं तो हम उसकी शोभा को निहारते नहीं थकते। प्राचीन प्रथा के विपरीत मुख्य द्वार पश्चिम को खुलता है। सिंहद्वार स्वयं में अति विशाल है। यह 753 फुट लम्बा है। दरवाजों की चोटियों पर सुन्दर खुदाई की गयी है। 10 फुट ऊँची विष्णु प्रतिमा उचित वेदी पर खड़ी है। मुख्य द्वार से बाह्य खुली सीढ़ियों की दूरी लगभग 628 गज है, बीच में 30 फुट चौड़े रास्तों पर पत्थर लगे हैं। पूजा स्थल अभी भी श्रेष्ठ बने हैं।

''केन्द्रीय भाग के दोनों ओर वर्गाकार स्तम्भों से युक्त बरामदे तथा आच्छादित गैलरियाँ हैं जिनके आधार पर 575 गज लम्बी उभरी हुई नक्काशी की गयी है। वे 12वीं सदी के कम्बोडियावासियों के विचारों के अनुसार स्वर्ग-नर्क का चित्र उपस्थित करती हैं। उनमें से अधिकांश टूट-टूटकर मिट्‌टी में मिलते रहते हैं। दीवारों पर कुछ चित्रकारी भी है। उनमें भीष्म पितामह को शरशैय्या पर सोया हुआ दिखाया गया है, देवासुर समुद्र मंथन तथा यम के निर्णय के दृश्य दिखाई देते हैं। एक चित्र में नारायण अपने वाहन गरुड़ पर बैठे हैं। उनके चारों हाथों में राक्षसों के नेताओं को मारने के लिए विभिन्न शस्त्र हैं। एक चित्र अनिरुद्ध की मुक्ति से सम्बद्ध है और तीसरे चित्र में हरि को कालनेमि

से लड़ते दिखाया गया है। ''सम्भवतः हिन्दू महाकाव्यों में से सबसे अधिक भव्य चित्र राम-रावण संग्राम का है। अवध के राजकुमार की वानर सेना का नेतृत्व स्वामिभक्त हनुमान को सौंपा गया है जो बीच भुजा वाले रावण के ऊपर से कूद जाता है। राम अपने राज्य से दूर होने के कारण पैदल लड़ता है। दूसरी ओर सोने की लंका का राजा रावण रथ में बैठकर लड़ता है। उसके रथ के पहियों के नीचे दोनों ओर के अनेक घायल सैनिक कुचल जाते हैं।''[10]

मन्दिर के भीतर प्रवेश करने पर भारतीय संस्कृति की साक्षात् अनुभूति कराने वाला भव्य शिल्प दृष्टिगत होता है। आज भी अवशिष्ट भग्न अंश हमें उस रम्य भूतकाल में हठात् ले जाते हैं। दीवारों, दीर्घाओं, प्रवेश-द्वारों, स्तम्भों पर सर्वत्र रामायण, महाभारत और हरिवंश के प्रसंग उत्कीर्ण किये हैं। मारीच-वधा, बालि-युद्ध, गोवर्धन-उद्धरण, कैलास-तोलन आदि असंख्य शिल्प-चित्र चलाभास और चैतन्य-निर्माण करते हैं। प्रवेश-द्वचत्र के कठरे पर 20 फीट ऊँचा देव-दानवों के समुद्र-मंथन का शिल्पचित्र दिखाई देता है। बाहर की दीवारों पर 1750 अप्सराएँ दर्शकों का मन मोहित करती हैं। सम्राट सूर्यवर्मन द्वितीय भी ऐसा ही शिल्पोन्मत्त था। उसने अंगकोरवाट से लगभग एक मील उत्तर की ओर अपनी अंगकोरथोम नामक राजधानी का निर्माण किया। चौकोर आकार की राजधानी दो मील लम्बी और दो मील चौड़ी थी। चारों ओर आठ मील परिधि की ऊँची प्राचीर और तट के चारों ओर राजधानी की रक्षा करने वाली 110 गज चौड़ी साढ़े आठ मील लम्बी व गहरी खाई थी। खाई पर पाँच बड़े द्वार थे और पाँच पत्थर के पुल थे। पुलों के दोनों ओर के किनारे सात फनों वाले नागों की आकृति पाषाणों के बने थे। प्रवेश द्वार एक विशाल महराव का बना हुआ है जो 10 फुट ऊँची और 10 फीट चौड़ी है और दोनों ओर कक्ष हैं। अंगकोरथोम का द्वार संसार में अत्यधिक प्रभावशाली और कला की दृष्टि से उत्कृष्ट माना जाता है।

राजधानी के पथ 100 फीट चौड़े प्रशस्त और सुरेखित थे। राजधानी की दिशा में आने वाले प्रत्येक राजमार्ग पर अनेक विश्रामगृह एवं अतिथिशालाएँ थीं। आज इस नगरी और मन्दिरों के भग्नावशेष देखते हुए भी भान होता है कि कम्बुज देश की यह शिल्प रचना में भारतीय स्थापत्य एवं शिल्पकला के रूप विद्यमान हैं। वास्तव में इस शिल्प की आत्मा ही भारतीय है। भारतीय संस्कृति का साक्षात्कार कराने वाला यह पाषाण-स्थित महाकाव्य है। सूर्यवर्मन की रानी जयराजदेवी भी संस्कृत-पण्डिता थी। वह अत्यन्त दानदात्री के रूप में विख्यात थी।

बौद्ध पंथ का अनुयायी होते हुए भी वह भगवान शंकर का भी भक्त था। मन्दिर में अनेक देवताओं की मूर्तियाँ और शिवलिंग भी था। बोधिसत्व की एक दशभुजा मूर्ति भी थी। मन्दिर के पचास शिखर थे। प्रमुख शिखर विशुद्ध स्वर्ण का था। सूर्यवर्मन द्वारा बनवाये गये मन्दिरों की संख्या एक हजार के लगभग होगी। सहस्रों लोग मन्दिरों के प्रबन्ध में व्यस्त थे। इन मन्दिरों का उपयोग विश्वविद्यालयों के लिए होता था। सैकड़ों आचार्य इन मन्दिरों में शिक्षा देने का कार्य करते थे। **बाली**

में शवों को आज भी जलाया जाता है। जाति व्यवस्था भारत की तरह थी। श्रेष्ठ परिवारों में सती प्रथा का भी चलन था। चीनी विवरण से जानकारी मिलती है कि बाली धनी व सुसभ्य हिन्दू उपनिवेशों का राज्य था।

बर्मा में भी भारतीय संस्कृति के कई प्रमाण मिले हैं। अशोक के प्रचारकों सोन और उत्तर ने सुवर्ण भूमि में बौद्ध धर्म का प्रसार किया। बर्मा में अराकान, तागौंग, श्री क्षेत्र यातौन व पेगू में हिन्दी उपनिवेश थे। टालगी ने लिखा है कि बर्मा में अनेक स्थानों के संस्कृत नाम थे। इसी प्रकार चीनी विवरण से बर्मा में एक राज्य में एक लाख से अधिक परिवार और कई हजार भिक्षुक थे। बर्मा के कई अभिलेख संस्कृत और पालि भाषा में हैं। सुमात्रा में भी श्रीविजय का वैभवपूर्ण साम्राज्य का उदय हुआ। अश्ववर्मन नामक साहसी वीर बोर्नियो पहुँचा। हमारे यहाँ के साहसी वीर अमेरिकी तट तक पहुँच गये। इस प्रकार के सुसंस्कृत जन आर्य भारत से विश्व के समस्त देशों में जल तथा थल मार्ग से पहुँचे। वहाँ अपने धर्म, संस्कृति और सभ्यता का प्रचार कर वहाँ के वासियों को भारतीय संस्कृति से परिचित करवाया। इन साहसी वीरों ने भारतीय दर्शन, विज्ञान, ज्योतिष, गणित, स्थापत्य युद्ध शास्त्र, नीति शास्त्र, संगीत वैदिक ग्रन्थों का विश्व में प्रसार किया। इण्डोनेशिया, कम्बोडिया, इण्डोचाइना, बोर्नियो से संस्कृत भाषा के सैकड़ों लेख मिले हैं। जावा में आज भी शक काल गणना का प्रचलन है। यहाँ के शिव, विष्णु व बौद्ध मन्दिर भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। बोरोबुदूर व अंगकोरवाट का भव्य शिल्प अजन्ता एलोरा की समानता बताते हैं। चम्पा अनाम पाण्डुरंग, इन्द्रपुर बाली, कलिंग जैसे नगरों के नाम या राम, वर्मा जैसे व्यक्तियों के नाम भारतीय परम्परा से अटूट सम्बन्ध बताते हैं। इन देशों का रहन-सहन, परम्परा, पूजा पद्धति, शास्त्र विधि, नीति कल्पना, आचार-व्यवहार आदि में भारतीय परम्परा झलकती है।

सम्राट् सूर्यवर्मन सप्तम भी ऐसा ही शिल्पोन्मत्त था। उसने समग्र स्थापत्य और शिल्पशास्त्र को दाव पर लगाकर अपनी अंगकोरथाम नामक राजधानी का निर्माण किया। चौकोर आकार की राजधानी दो मील लम्बी और दो मील चौड़ी थी। चारों ओर आठ मील परिधि की ऊँची प्राचीर और तट के चारों ओर राजधानी की रक्षा करने वाली 110 फीट चौड़ी गहरी खाई। खाई पर पाँच पत्थरी पुल थे। पुलों के दोनों ओर के कठरे सात फनों वाले नागों की आकृति वाले पाषाणों के बने थे। राजधानी के पथ 100 फीट चौड़े प्रशस्त और सुरेखित थे। राजधानी की दिशा में आनेवाले प्रत्येक राजमार्ग पर अनेक विश्रामगृह एवं अतिथिशालाएँ थीं। आज इस नगरी और मन्दिरों के भग्नावशेष देखते हुए भी भान होता है कि कम्बुज देश की यह शिल्प रचना में भारतीय स्थापत्य एवं शिल्पकला के रूप विद्यमान हैं। वास्तव में इस शिल्प की आत्मा ही भारतीय है। भारतीय संस्कृति का साक्षात्कार कराने वाला यह पाषाण-स्थित महाकाव्य है। सूर्यवर्मन की रानी जयराजदेवी भी संस्कृत-पण्डिता थी। वह अत्यन्त दानदात्री के रूप में विख्यात थी।

सन्दर्भः

1. शक्ति संगम तंत्र-3, 7/56
2. R.C. Majumdar, Ancient Indian Colonies in the far East, p.7
3. विश्वव्यापिनी हिन्दू संस्कृति, पृ. 34
4. वही, पृ. 35-36
5. Al Masoodi, Meados of the Gold 9.
6. डॉ. शिवकुमार अस्थाना, भारत का सांस्कृतिक साम्राज्य, पृ. 45, लोकहित प्रकाशन, राजेन्द्रनगर, लखनऊ-2000
7. वही, पृ. 7
8. डॉ. शरद हेवाल्कर, भारतीय संस्कृति का विश्व संचार - सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली 2014, पृ. 10
9. वही, पृ. 67-68
10. Swami Sadanand- Hindu Culture in Greater India, 1949, p.95-96

अन्य सन्दर्भः

1. N.P. Chakravarti – India and Central Asia, Calcutta, 1927
2. R.C. Majumdar – Ancient Indian Colonies in the Far East, Vol-I, Champa, Lahore-1927
3. R.C. Majumdar – The Age of Imperial Unity, Bombay, 1955
4. R.Le. May – The Culture os South East (London 1954)
5. R.C. Majumdar – Suvarndvipa, Vol I, II, Calcutta
6. R.C. Majumdar – Hindu Colonies in the far East, Calcutta, 1964
7. History of Shrivajay, Madras 1949
8. B.R. Chatterji – Indian Cultural Influence in Cambodia, 1932.

दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को लिपि और भाषा के क्षेत्र में भारत का योगदान

महावीर प्रसाद जैन*

भारत की सभ्यता संसार की तीन सबसे प्राचीनतम सभ्यताओं में गणना होती है। साथ ही इसका विस्तार इन तीनों में सर्वाधिक माना जाता है। दो हजार ईस्वी पूर्व से भी पहले भारत के साहसी व्यापार करने वालों तथा धर्मगुरुओं के साथ भारतीय परम्पराएँ, शासन पद्धति, लिपि, भाषा, धार्मिक और कथा साहित्य, चिकित्सा पद्धति, दर्शन, भवन निर्माण कला आदि यूरेशिया के सभी देशों, विशेषकर समुद्रपार दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा उत्तरी एशिया के देशों में पहुँचे। सिन्धु घाटी काल में कांसे की ढलाई होती थी।[1] बाद में, सरस्वती क्षेत्र की आबादी के अन्यत्र पलायन के बाद, भारत के अन्य क्षेत्रों (विशेषकर दक्षिण भारत) में कांसे के कार्य के लिए टिन (त्रपु) की बड़े पैमाने पर आवश्यकता थी। दक्षिण-पूर्वी एशिया में म्यांमार से इण्डोनेशिया तक 2800 किलोमीटर लम्बा और 400 किलोमीटर चौड़ा टिन क्षेत्र है जो चीन के दक्षिण-पूर्वी भाग युन्नान को छोड़कर यूरेशियन विश्व का एकमात्र टिन उत्पादन का क्षेत्र है। स्वाभाविक है कि भारतीय व्यापारी टिन के लिए इस क्षेत्र में जाते थे।[2] अन्य प्रमुख व्यापारिक वस्तु कपूर जावा, सुमात्रा और बोर्नियो में उपलब्ध होती थी तथा अच्छा रक्त चन्दन मलयेशिया से आता था।[3] भारतीय व्यापारी इनका व्यापार करते थे इसलिए कपूर और चन्दन के लिए प्रयुक्त होने वाले भारतीय शब्दों से ही विश्व की सभी भाषाओं में इन वस्तुओं के लिए शब्द बने हैं।

लिखित भाषा का महत्त्व

अभिव्यक्ति और संवाद के युग के साथ-साथ कालान्तर में लेखन कला का सूत्रपात हुआ। विश्व भर में राज्यों और नगरों का विकास लेखन कला से प्रभावित हुआ है। धातु विज्ञान के विकास के पश्चात् सुदूर व्यापार और लिखित अनुबन्ध तथा न्याय व्यवस्था एक आवश्यकता बन गई। यह लेखन कला के बिना सम्भव नहीं था। मिट्टी की पटलिका, चर्म, प्रस्तर, चट्टान, ताम्रपत्र, ताड़पत्र, भोजपत्र, बांस, लकड़ी, किसी भी सामग्री पर लिखित चिह्न, अंकन या साहित्य, बातों को स्मृति में

*126, अशोकनगर, उदयपुर, Mob. 98872-41408, Mail-mpj1941@rediffmail.com

रखने के लिए एक माध्यम है। इससे मनुष्य की याददाश्त में जितनी बातें रह सकती हैं उससे कहीं अधिक को लेखबद्ध करके रखना सम्भव हो जाता है। यह घनी आबादी वाली संस्कृतियों के लिए बहुत उपयोगी होता है। इससे कृषि उपज और उस पर कर का हिसाब रखना आसान हो जाता है। लेखन के कारण जानकारी का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी और एक जन समुदाय से दूसरे जन समुदाय तक संचरण सम्भव हुआ है। इसके कारण ही न्याय व्यवस्था का निर्माण और विकास भी सम्भव हुआ है जो व्यापार के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता थी।

भारत में ब्राह्मी लिपि का विकास

डेविड फॉली के कथन को कि ''वैदिक संस्कृति नगरीय बस्तियों सहित भारत की महान सभ्यता का प्रतिनिधित्व करती है।'' एक स्थापित सत्य माना जा सकता है।[4] सरस्वती नदी के एक हकीकत के रूप में स्थापित होने के पश्चात् वैदिक संस्कृति और हड़प्पा संस्कृति में कोई भेद नहीं है यह बात लगभग सिद्ध हो चुकी है। इस काल में कोई वर्णमाला की बीज रूपी लिपि विकसित हो गई थी इस बारे में मत-वैभिन्य निराधार है। यह धारणा तर्कसंगत लगती है कि वैदिक युग में लिपि का विकास हो गया था तथा उसी लिपि से ही धीरे-धीरे ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ है।

सरस्वती-सिन्धु क्षेत्र में विकसित हुई इस लेखन पद्धति का संसार की विकसित लिपियों में विशिष्ट स्थान है। कुछ विद्वान यह मानते रहे हैं कि हरप्पा सभ्यता के पश्चात् वैदिक सभ्यता का काल है इसलिए हड़प्पा लिपि से वैदिक सभ्यता का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता और इस लिपि की आगे कोई निरन्तरता नहीं है। किन्तु वास्तव में वर्तमान भारतीय समाज के लोग सरस्वति-हड़प्पा युग के समाज के ही उत्तराधिकारी हैं और लिपि में भी निरन्तरता है।

इस तरह अनेक विद्वानों का यह सोच कि सिन्धु लिपि से ब्राह्मी का उद्भव हुआ है तर्कसंगत लगता है। जिस तरह भारतीय समाज और परम्पराओं में परिवर्तन और निरन्तरता (change and continuity) है उसी तरह लिपि में भी परिवर्तन और निरन्तरता है। प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् शिकारीपुरा रंगनाथ राव का निष्कर्ष है कि सिन्धु (सरस्वति) घाटी की लिपि के उच्चारण-इकाई चिह्न स्वर और व्यंजन के लिए बने हैं और उनकी भाषा द्रविड़ियन नहीं अपितु एक तरह की संस्कृत है। राव के अनुसार सिन्धु लिपि में वेदों में वर्णित कुछ नाम मिलते हैं। उनका मत है कि इस लेखन पद्धति का शनैः-शनैः हजारों वर्षों में जटिल से सरल की ओर विकास हुआ है।[7]

प्रो. जेक गुडी का सोच है कि सम्भवतया प्राचीन भारत में साहित्य रचना और इसके संचरण की मौखिक परम्परा के साथ ही बहुत प्राचीन लेखन की स्वीकृति थी क्योंकि वैदिक साहित्य बहुत विशाल है जिसका संरक्षण और प्रसार लेखन के बिना नहीं हो सकता था।[8] याज्ञवल्क्य शिक्षा के एक श्लोक से वैदिक काल में लेखन परम्परा सिद्ध हो जाती है।

'गीति शिघ्री शिरः कम्पी तथा लिखित पाठकः।
अनर्थज्ञोल्पकण्ठश्च पठेते पाठकाधामाः।।'[9]

इस श्लोक में जिन पाँच तरह के पाठकों को अधम पाठक कहा गया है उनमें एक वे भी हैं जो लिखे हुए को पढ़ते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि लिखित सामग्री (text) भी होती थी, पर अध्ययन-अध्यापन में उसका उपयोग अच्छा नहीं माना जाता था। इस आधार पर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[10], राजबली पांडे[11] तथा डी.आर. भण्डारकर[12] का विचार कि वैदिक काल में लेखन कला का ज्ञान था पूरी तरह यह सही सिद्ध होता है। दिनेशचन्द्र सरकार के अनुसार ब्राह्मी लिपि और सिन्धु घाटी की लिपि के बीच ऐतिहासिक सम्बन्ध होने और ब्राह्मी के सिन्धु लिपि से विकास होने की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता[13] (जो प्रकारान्तर से वैदिक सभ्यता ही है)। रिचार्ड सेलोमन इस बात में सन्देह प्रकट करते हैं कि ब्राह्मी का विकास बिना बाहरी प्रभाव के हुआ होगा।[14]

जॉन मार्शल, स्टीफेन लेंगडोन, कम्प्यूटर विज्ञानी सुभाष काक, जर्मन विद्वान जॉर्ज फ्युरस्टीन, अमेरिकी विद्वान डेविड फ्रोली और अंग्रेज पुरातत्त्वविद् रेमण्ड ऑल्विन भी कैम्ब्रिज के प्रोफेसर जेक गुडी के इस मत से सहमत हैं कि प्राचीन भारत में लेखन की संस्कृति थी। दूसरा मत कि ब्राह्मी लिपि का सेमेटिक क्षेत्र की लिपि खरोष्ठी से उद्भव हुआ है लगभग अस्वीकृत हो गया है।

जैन तीर्थंकर ऋषभदेव, जिनका वर्णन यजुर्वेद तथा भागवत पुराण में मिलता है, को अन्य बातों के साथ लेखन कला प्रारम्भ करने का श्रेय दिया जाता है। जैन वृत्तान्तों के अनुसार उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपि और सुन्दरी को अंक विद्या का ज्ञान दिया। यह केवल अनुश्रुति हो तो भी इसका अर्थ यह हुआ कि लेखन कला का प्रारम्भ वैदिक काल में हुआ है।

वैदिक काल में शिक्षण में सही उच्चारण को महत्त्व

वैदिक कालीन भारत में लोक शिक्षण के लिए सही ध्वनियों के शिक्षण को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। पातंजल महाभाष्य में कहा गया है-

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधत्।।[15]

अर्थात् गलत तरीके से उच्चारित शब्द से यजमान की मृत्यु हो सकती है इसलिए शब्दों का उच्चारण पूरी तरह सही होना चाहिए।

षड्वेदांग के शिक्षा वेदांग में उच्चारण का शिक्षण होता था। वैदिक प्रातिशाख्य साहित्य से भारतीय शिक्षण पद्धति में उच्चारण के महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है। इसका प्रभाव भारतीय लेखन पद्धति पर देखा जा सकता है। इस पद्धति में लघुतम ध्वनि-इकाई को वर्ण कहा जाता

है तथा यह लेखन पद्धति के लिए आधार था। वर्णों को व्यंजन और स्वर में बाँटा गया है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के काल में व्यंजन भेद और स्वर भेद को शिक्षण में स्थान दिया गया था। इस उपनिषद् में इसका वर्णन करते हुए कहा गया है-

शीक्षां व्याख्यायास्याम:।
वर्ण: स्वर:। मात्र बलम्।
साम मन्तान:। इत्युद्र: शीक्षाध्याय:।।[16]

अर्थात् व्यंजन, स्वर और मात्राओं के सामर्थ्य को ठीक से समझना, अक्षर के पश्चात् आने वाले अक्षर के बीच ध्वनि का सामंजस्य यह शिक्षा का अध्ययन है। व्यंजन, स्वर और मात्राओं के वर्णन का अर्थ है कि वैदिक काल में व्यंजन और स्वर वाली अत्यन्त विकसित लिपि का विकास हो चुका था।

वैदिक काल के साहित्यिक सन्दर्भ के पश्चात् भगवान् बुद्ध और महावीर के काल के वर्णनों के बीच लिपि के विकास का वर्णन नहीं मिलता है। राजबली पाण्डे उसका कारण नष्ट होने वाली वस्तु पर लिखा जाना बताते हैं।[17] अंगुत्तर निकाय में अक्खर शब्द प्रयुक्त हुआ है।[18] अशोक के बारे में जानकारी का अभाव है। चौथी शती ईस्वी पूर्व के पश्चात् के साहित्य में इस सम्बन्ध में निरन्तर विनय पिटक से जानकारी मिलती है। श्रीलंका में अनुराधपुर में अशोक से दो सदी पूर्व के मृद्भाण्ड के टुकड़े मिले हैं जिन पर ब्राह्मी प्रतीत होने वाले अक्षर अंकित हैं।[19]

ललित विस्तार और जैन पन्नवणा सूत्र में ब्राह्मी लिपि का वर्णन है।[20] जैन समवायांग सूत्र में ईसा पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी में डमिल (तमिल) वर्णमाला का जिक्र है।[21] अष्टाध्यायी में स्वरिका (स्वरों के लिए चिह्न प्रणाली) का जिक्र है।[22] अष्टाध्यायी में लिपि और लिपिकार का भी वर्णन है।[23]

ब्राह्मी लिपि तथा संस्कृत व अन्य भारतीय भाषाओं का व्यापारियों और धर्म प्रचारकों के कारण वर्तमान भारत और भारत के बाहर एशिया के बड़े भू-भाग में शान्तिपूर्ण तरीके से प्रसार हुआ। ब्राह्मी लिपि तथा भारतीय भाषाओं के विस्तार के कारण भारतीय ज्ञान और संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं की शब्दावली तथा भारतीय धार्मिक तथा कथा साहित्य एशिया के विस्तृत क्षेत्रों में पहुँचा। इन क्षेत्रों में सभी बोलियाँ बोलने वालों ने अपने लिए ग्राह्य होने के कारण ब्राह्मी लिपि के आधार पर अपनी स्वयं की लिपियों का भी विकास किया जिन्हें वर्णमालात्मक (bugida script) कहा जाता है। इस तरह ब्राह्मी को विश्व की सबसे अधिक प्रभावशाली लेखन परम्पराओं में गिना जा सकता है।

ब्राह्मी की विशेषता

जो लिपि जितनी वैज्ञानिक और विकसित होती है उतनी ही आसानी उसके माध्यम से शिक्षण में होती है। विश्व में दो और ऐसी लिपियाँ हैं जो इस दृष्टि से ब्राह्मी से उद्भूत देवनागरी के समकक्ष हैं। उनमें से एक कोरियाई का सम्बन्धा ब्राह्मी से है। दूसरी कनाडा के मूल निवासियों की है जिसमें ब्राह्मी की ही तरह व्यंजन और स्वर हैं।

दक्षिणी ब्राह्मी

जब जैन और बौद्ध मतों का दक्षिण भारत की ओर विस्तार हुआ तो ब्राह्मी का तमिल भाषा के लिए उपयोग होने लगा तथा इस हेतु ब्राह्मी का एक भिन्न प्रकार विकसित हुआ। इसमें तमिल ध्वनियों के लिए चार पृथक अक्षर हैं। दक्षिणी ब्राह्मी से पल्लव साम्राज्य काल (275-897 ई.) में ग्रन्थ लिपि विकसित हुई। संस्कृत ग्रन्थ इस लिपि में लिखे गये साथ ही तमिल ग्रन्थ भी लिखे गये। तमिल के लिए 8वीं शती में वेट्टेलुट्टु लिपि का विकास हुआ।

उत्तर भारतीय ब्राह्मी

इससे सबसे पहले कश्मीर की शारदा लिपि का विकास हुआ। तत्पश्चात् सिद्धम (सिद्धमात्रका) प्रचलन में आई जो छठीं से बारहवीं शती तक संस्कृत भाषा के लिए प्रयुक्त हुई। इससे बंगाली, असमी, मैथिली आदि के अतिरिक्त तिब्बती लिपि का उद्भव हुआ। इसका पूर्वी एशिया की लिपियों पर भी प्रभाव पड़ा। देवनागरी का पहली शती के पश्चात् धीरे-धीरे विकास हुआ है। इसे उत्तरी ब्राह्मी भी नाम दिया जाता है। इससे शारदा तथा सिद्धम से प्रभावित क्षेत्रों के अतिरिक्त भारत के महाराष्ट्र क्षेत्र से उत्तर की सभी लिपियाँ निर्मित हुई हैं।

उत्तरी ब्राह्मी से गुप्त लिपि का उद्भव हुआ। इसी से आगे चलकर छठीं शती में सिद्धम, नवीं शती में शारदा और दसवीं शती में देवनागरी लिपियों का विकास हुआ।

दक्षिणी ब्राह्मी से बनी लिपियाँ

म्यांमार तथा इसके दक्षिण-पूर्व के देशों में दक्षिणी ब्राह्मी से प्रभावित लिपियाँ विकसित हुईं। इसी से अक्षर जावा का विकास हुआ जिसका जावा में कवि भाषा और संस्कृत आदि के लिए उपयोग हुआ। फिलिपीन्स में बैबाइन और उससे बुहिद, हनुनो और टागबन्वा लिपियाँ विकसित हुईं। म्यांमार में कदम्ब या पल्लव से मोन लिपि निःसृत हुई। उसी लिपि का परिष्कृत रूप आज भी यहाँ प्रचलन में है। कम्बोडिया में ख्मेर लिपि यहाँ की राष्ट्रीय भाषा के अतिरिक्त कम्बोडियन और थाई बौद्ध पूजा में प्रयुक्त होती है। थाईलैण्ड की अक्सोन (अक्षर) थाई, लाओस की अक्सोन (अक्षर) लाओ, उत्तरी थाईलैण्ड की ईशान थाई तथा श्रीलंका की अक्षर माला (व) आदि सभी प्रत्यक्ष या

अप्रत्यक्ष रूप से दक्षिणी ब्राह्मी (पल्लव-कदम्ब) लिपि से निकली हैं। इनमें वर्तमान देवनागरी की लगभग सभी ध्वनियों के लिए स्वर-व्यंजन हैं। श्रीलंका की सिंहली लिपि में दो वर्णमालाएँ हैं जिन्हें शुद्ध सिंहल और मिश्र सिंहल के नाम से जाना जाता है। मिश्र सिंहल पालि और संस्कृत शब्दों के उच्चारण के लिए है।

उत्तर भारतीय या गुप्त लिपि के प्रभाव से तिब्बत, भूटान और सिक्किम की लिपियाँ बनी हैं। तिब्बत के शासक द्वारा थोन्मी सम्भोता को छठी शताब्दी में लिपि सीखने के लिए भारत भेजा गया। सम्भोता द्वारा बनायी गयी शारदा के आधार पर निर्मित वर्णमाला को भूटान में भी कुछ परिवर्तन के साथ द्जोन्खा भाषा के लिए अपनाया गया। सिक्किम की लेपचा वर्णमाला आकार के अतिरिक्त अधिकांशतया देवनागरी से मेल खाती है। थोन्मी ने भारतीय पद्धति के आधार पर व्याकरण की भी रचना की।

अनेक मंगोल लेखन पद्धतियाँ अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय लेखन पद्धतियों से प्रभावित हुई हैं। इनमें फाग्स-पा, गालिक, टोडो और सोयोम्बो के नाम लिये जा सकते हैं। ये सभी वर्णमालात्मक हैं और भारत से प्रभावित तिब्बती लिपि से प्रभावित हैं। फाग्स-पा लिपि का निर्माण एक तिब्बती साधु फाग्स-पा ने 13वीं शती में कुबलाइ खाँ के मंगोल साम्राज्य के लिए किया था।

कोरिया की हंगुल (हन्युल) लिपि

लिपियों का वर्णन करते हुए कोरिया की हंगुल लिपि का जिक्र आवश्यक है। यह लिपि फाग्स-पा लिपि से प्रभावित थी जो तिब्बती के माध्यम से ब्राह्मी से ही उद्भूत है। इस लिपि का निर्माण 1443 ईस्वी में कोरिया के जोसिओन वंश के महान शासक सेजोंग ने करवाया था। इस कार्य के लिए एक समिति गठित की गयी थी। यह लिपि 20वीं शती में उत्तरी और दक्षिणी दोनों कोरिया में लेखन के माध्यम के रूप में स्वीकार कर ली गयी। वहाँ इस लिपि के लागू होने के दिन, 9 अक्टूबर को, 1945 से सार्वजनिक अवकाश के रूप में मनाया जाता है। भाषा और लिपियों के अध्येता प्रो. मेरी कीथ लेडयार्ड (Mary Keith Ledyard) इस लिपि के विशेषज्ञ हैं। वे मानते हैं कि इस लिपि के पाँच मर्म या बीज अक्षर फाग्स-पा लिपि से लिये गये हैं तथा शेष भी न्यूनाधिक उससे प्रभावित हैं। इसे विशेषज्ञ विश्व की सर्वश्रेष्ठ लिपि मानते हैं। इसे सीखने में होने वाली आसानी के बारे में कहा जाता है कि "A wise man can acquaint himself with them (its letters) before the morning is over; a stupid man can learn them in the space of 10 days."[24]

भाषा और साहित्य

दक्षिण-पूर्वी देशों में प्रारम्भ में सम्पूर्ण हिन्दू मन्दिर शिव मन्दिर थे। सातवीं शती में

कम्बोडिया में महाभारत का वाचन होता था। कम्बोडिया और लाओस में कुरुक्षेत्र और महाभारत विशेष रूप से लोकप्रिय रहे हैं। सारे व्यापारिक मार्गों पर संन्यासी और धर्मगुरु यात्राएँ करते थे। कम्बोडिया के कई अभिलेखों में शंकराचार्य का वर्णन है। इन अभिलेखों में भारतीय विद्वानों और संन्यासियों के, जिनमें से कुछ जगद्गुरु शंकराचार्य के शिष्य थे, यहाँ के शासकों के आमंत्रण पर आकर बसने का वर्णन हैं।[25] कुछ नदियों में स्नान को गंगा स्नान के समान माना जाता था। पाँचवीं शती में मीकोंग नदी के किनारे एक बड़ा तीर्थ बनाया गया था।[26]

सबसे पहले संस्कृत भाषा के ग्रन्थ रामायण, महाभारत और धर्मशास्त्र (स्मृतियाँ) आदि पल्लव लिपि के माध्यम से म्यांमार, थाईलैण्ड, कम्बोडिया, लाओस, वियतनाम, श्रीलंका आदि देशों में पहुँचे। पालि भाषा उत्तर भारत की भाषा थी। इसके माध्यम से थेरवाद ग्रन्थ त्रिपिटक उपरोक्त देशों में लोकप्रिय हुए और 18वीं शती तक जनसामान्य द्वारा पढ़े जाते रहे। 500 ईस्वी तक हीनयान म्यांमार में लोकप्रिय हो गया और इसके बाद थाईलैण्ड, कम्बोडिया, लाओस, वियतनाम आदि में इसका प्रसार हुआ। हीनयान के प्रसार से जातक कथाओं के साथ ही पंचतंत्र की कहानियाँ भी सभी बौद्ध देशों में लोकप्रिय हुई। पाँचवीं शती में त्रिपिटक भारत से तिब्बत पहुँचा। यहाँ बड़े पैमाने पर बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य हुआ। तिब्बत में इस हेतु द्विभाष्ठी शब्दकोष, महाव्युत्पत्ति का निर्माण किया गया। यहाँ बुद्ध वचन के सारे ग्रन्थों का अनुवाद किया गया जिसे कन्युर या कन्जुर कहा जाता है। तेन्यूर या तन्जूर भारत के बौद्ध विद्वानों द्वारा बुद्ध वचन पर लिखी टीकाओं का तिब्बती में अनूदित संकलन है।

रामायण की लोकप्रियता

म्यांमार में रामायण गैर सरकारी तौर पर राम जातक के नाम से राष्ट्रीय महाकाव्य है। जावा जावी भाषा में संस्कृत रामायण को काकविन (19 मात्रा के शार्दूलविक्रीडित) छन्द में लिखा गया। कम्बोडिया में रामायण रामकरती के नाम से जनप्रिय है। थाईलैण्ड में इसे रामाकियन (रामाख्यान) के नाम से जाना जाता है। लाओस में यह फ्र लक-फ्र राम (वर लक्ष्मण वर राम) के नाम से राष्ट्रीय महाकाव्य है। फिलिपीन्स में रामायण पर महारादिया लावण (महाराजा रावण) के नाम से नृत्य नाटक प्रसिद्ध है। नेपाल में आदि कवि भानू भक्त की रामायण अत्यन्त लोकप्रिय है। तिब्बत की डनहुआंग गुफाओं में प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थों में प्राप्त रामायण की प्रतियों से वहाँ इसकी लोकप्रियता के बारे में जानकारी का पता चलता है।[27]

इस लिपि के प्रसार से भाषा पर प्रभाव

दक्षिण-पूर्वी देशों में हिन्दू और बौद्ध राज्यों की स्थापना का इन देशों की भाषा पर होने वाला प्रभाव अन्य बातों के साथ नगरों, नदियों, पहाड़ों, व्यक्तियों आदि के नाम तथा आदरसूचक शब्दों आदि से स्पष्ट होता है।

थाईलैण्ड

यहाँ अधिकांश प्रान्तों के नाम संस्कृत में हैं या भारतीय हैं; जैसे- उत्तरादित, सुरिन्द्रपुरी, पुरी राम, राजापुरी, नगर नायोक, प्राचीन पुरी, जलपुरी समुद्रप्राकार, समुद्र सागर, समुद्र संग्राम, बेंग कोक (नाम के साथ महानगर जुड़ा है), सूरत थानी, नगर श्री धर्मराज, सुखोदय, विष्णुलोक नगर फनोम, महा सरखाम, जयभूम, यशोधन, स्वर्गनगर, उदय थानी, सुवर्णपुरी, उबोन राजधानी, जय नट, लवपुरी, नगर राजासीमा, उत्तर नगर, सारापुरी, नोन्थापुरी, कंचनपुरी, पट्नी, नरअधिवास एवं नगर श्री अयोध्या। दो नगरों के नाम अरण्यक हैं। यहाँ 1782 मे चक्री वंश का शासन है और शासक राम प्रथम, द्वितीय आदि कहलाते हैं। यहाँ पूर्व शासक नवम का नाम भूमिबल अतूल्यतेज था। राज परिवार के सभी सदस्यों के नाम भारतीय हैं। थाईलैण्ड का अयोधया नगर प्राचीन काल में एक साम्राज्य की राजधानी था।

ब्रुनेइ

यह बोर्नियो द्वीप का भाग है जिसका नाम वरुण से बना है। यहाँ मुस्लिम सल्तनत की स्थापना से पहले विजयपुर राज्य था। इस मुस्लिम राज्य के सबसे बड़े बन्दरगाह और राजधानी का नाम बन्दर श्री भगवान है। यहाँ सुल्तानों के लिए आदरसूचक उपाधि में भगवान शब्द का भी प्रयोग होता है। ब्रुनेइ राजपरिवार के लोगों के लिए आज भी आदरसूचक नहा, श्री, राजा, श्री भगवान, भगवान राजा, नगर, पुत्र-वधु के लिए इस्तरी, पुत्री के लिए पुतेरी आदि का प्रचलन है।

कम्बोडिया (कम्बोजदेश)

कम्बू स्वयंभू ने यहाँ हिन्दू राज्य की स्थापना की थी। श्रेष्ठवर्मन उसका उत्तराधिकारी हुआ जिमने श्रेष्ठपुर बसाया। छठीं शती में भववर्मन यहाँ का प्रतापी शासक हुआ। तब से 15वीं शती तक यहाँ ख्मेर राज्य रहा। रघुवंश में कम्बोजवासियों के लिए कहा गया है- ''कम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः'' (कम्बोज लोग युद्ध में उसके (रघु के) पराक्रम को सहन करने में समर्थ थे)[28] अंकोर (नगर) वाट (बाड़ा) का मूल नाम वर विष्णुलोक था। अंकोर से 40 किलोमीटर की दूरी पर महेन्द्रपर्वत नाम का अपने समय का औद्योगीकरण से पूर्व का संसार का सबसे घना बसा नगर था। इस 1200 वर्ष पूर्व बसाई गई ख्मेर राजधानी के अप्रतिम वैभव के साहित्यिक वृत्तान्त मिलते हैं। उसे खोजने का प्रारम्भ 2012 के पश्चात् ज्यां बतीस शेवान्स (Jean Baptiste Chevance) तथा डेमियन इवान्स ने हेलिकॉप्टर के नीचे लीडार उपकरण बाँधकर आधुनिकतम (Lidar) तकनीक (Light Detection and Ranging) का प्रयोग करते हुए किया है। इन खोजियों ने कई दिन तक हेलिकॉप्टर से उड़ानें करके 20 गुणा 15 किलोमीटर के क्षेत्र में 30 के लगभग अब तक अज्ञात विशाल मन्दिरों, कई समानान्तर सड़कों, नहरों, बाँधों आदि का पता लगाया है। महेन्द्र पर्वत के निकट

हरिहरालय और अमरेन्द्रपुर, यशोधरपुर अन्य राजधानियाँ थीं। यशोधरपुर की आबादी लगभग एक हजार वर्ष पूर्व 10 लाख थी। बीसवीं शती में राजा नरोत्तम सिंहानुक ने 1941 से 1955 तथा 1993 से 2004 के बीच शासन किया। वर्तमान में कम्बोडिया में प्रान्तों के नाम ओड्डर मीन चेइ (इसमें उत्तर और जय शब्द आये हैं), रत्नागिरि, मंडलगिरि आदि हैं।

इण्डोनेशिया

इण्डोनेशिया के प्रमुख द्वीपों के नाम यवद्वीप, समुद्र (सुमात्रा) तथा काली मन्थन थे। इसे व्यापार के लिए आकर्षण का केन्द्र होने के कारण सुवर्ण द्वीप या सुवर्ण भूमि नाम से जाना जाता था। इण्डोनेशिया के नगरों में जकार्ता, सुखभूमि, सुरकर्ता, योग्यकर्ता, जयपुर, श्रीविजय आदि प्रमुख हैं। पर्वतों के सुमेरु, सुमंत्री, जय, विजय, मेरापि (मेरु-अपि अर्थात् अग्नि पर्वत), राजबास, कालीमन्तन (कालमन्थन अर्थात् झुलसाने वाली गर्मी) आदि नाम हैं। नदियों में सरयू एक नदी है। व्यक्तियों के नाम सुकर्ण, मेघावती, सुकर्णो पुत्री (पुत्र), सुहार्तो (सुहृद), सुशान्ति, सुप्राप्त आदि सामान्य जानकारी में है। आदरसूचक शब्द प्रधान, श्री, सु श्री आदि प्रयुक्त होते हैं। भाषा के लिए बहासा, भूमी के लिए बूमी आदि शब्द हैं। इण्डोनेशिया का राज-चिह्न 'गरुड़ पंचशील' है। इसमें गरुड़ के पंजों में लिखित पट्टिका है जिस पर 'भिन्नेका तुंगल इका' (अनेकता में एकता) लिखा है। इसमें भिन्न और इका शब्द संस्कृत के हैं।

वियतनाम

यहाँ प्राचीन काल में चम्पा राज्य में राजा प्रकाशधर्म, विक्रमवर्मन, इन्द्रवर्मन आदि ने शासन किया तथा नगरों के रुद्रपुर, इन्द्रपुर, विजय, अमरावती, पाण्डुरंग आदि नाम मिलते हैं।

मलेशिया

इसका नाम तमिल भाषा के शब्द मला और यू (पहाड़ और धरती) से बना है। यहाँ की भाषा में संस्कृत शब्दों की बहुतायत है। नगरों के नाम पेटलिंग जय, नूसा जय बन्दरगाह आदि हैं। यहाँ वर्तमान सुल्तानों के लिए आदरसूचक श्री सुल्तान, महाराज जैसे विरुद प्रयुक्त होते हैं। हाथी के लिए गज शब्द है।

म्यांमार

यहाँ पर्वत पोपा का नाम संस्कृत पुष्प से (करनाटक में पुष्पगिरि) बना है। म्यांमार के 11 पर्वतों के अन्त में तथा एक के प्रारम्भ में तुंग (संस्कृत पर्वत की चोटी) लगा है। यहाँ की सबसे बड़ी नदी इरावदी का नाम पंजाब की वैदिक रावी नदी से लिया गया है।

लाओस

यहाँ जिलों और प्रान्तों के नाम चान्थबुली (चन्दपुरी), मै बुरी (पुरी), सैन्याबुली (सेनापुरी) आदि हैं। यहाँ मध्यकालीन राजाओं के विष्णुस्थ, विष्णु, जयश्रेष्ठ, श्रेष्ठअतिरथ, विजय आदि नाम मिलते हैं। उपरोक्त देशों में से अधिकांश में मन्दिर के लिए प्रासाद शब्द का प्रयोग होता था। अनेक देशों में नाम या नाम के अन्तिम अंश अभी भी संस्कृत मूल के होते हैं- जैसे वंश, सिंह या सिह, चान, चान्ह या चान्थ (चान्द), राचा तथा रासा (राजा), सवन या सवन्ह (स्वर्ग), सी या श्री, वोर तथा फ्र (वर), चल या सय (जय) आदि।

श्रीलंका

यहाँ नगरों के नाम श्री जयवर्धनपुर कोट्टे, अनुराधापुर, तिरूकोनमलाइ (ट्रिन्कोमाली "Lord of the Sacred Hill") आदि हैं। तिरूकोनमलाइ को 'दक्षिण कैलासम्' कहा जाता है। यह पतंजलि का जन्मस्थान है। समीप ही गोकर्णपत्तन है। रत्नपुर एक प्रान्त की राजधानी है। कुरूनेगला का प्राचीन नाम हस्तीशैलपुर था। यहाँ 13वीं शती से 17वीं सदी के प्रारम्भ तक आर्यचक्रवर्ती राज्य था।

निष्कर्ष में ब्राह्मी लिपि का वर्णन करते हुए हम कह सकते हैं कि सरस्वती-हरप्पा संस्कृति की विश्व को इस लिपि के रूप में महान देन है। इस लिपि से निःसृत लिपियाँ विश्व के लगभग एक तिहाई लोगों द्वारा प्रयुक्त हो रही हैं। ब्राह्मी से प्रभूत लिपियों में रोमन लिपि की तरह शब्दों के हिज्जे (spellings) रटने की आवश्यकता नहीं होती है। साथ ही इन लिपियों में स्वरों के लिये लिखे जाने वाले अक्षरों की ध्वनियों में अनिश्चितता नहीं होती है। रोमन लिपि में स्वरों के लिए जो पाँच अक्षर हैं उनसे उच्चारण में अनिश्चितता है तथा परम्परा पर निर्भरता होती है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मी मे बनने वाली लिपियों में रोमन लिपियों की अपेक्षा बहुत कम अक्षरों की आवश्यकता होती है। इन लिपियों में अक्षरों का क, च, ट, त, तथा प वर्ग में विभाजन तथा स्वरों के लिए विशेषक चिह्नों की व्यवस्था अत्यन्त वैज्ञानिक है। इसीलिए जहाँ भी भारतीय पहुँचे वहाँ जन समुदायों ने इस लिपि को तुरन्त अपना लिया। यही नहीं ज्ञात जानकारी के अनुसार तिब्बत, मंगोलिया और कोरिया जैसे देशों ने प्रयत्नपूर्वक विद्वानों के शिष्टमण्डल भेजकर या विशेषज्ञों की समिति गठित कर के ब्राह्मी या इससे उद्भूत लिपियों से अपनी भाषा के लिए लिपियों का निर्माण किया।

सन्दर्भ :

1. Anam Sayeed *Mattahrgical Techniques of Indus Valley Civilization*, posted on August 30, 2009.

2. Hedge 1979, p. 39 Hedge, K.T.M. (1979), "Sources of ancient tin in India", in Franklin, A.D.; Olin, J.S.; Wertime, T.A., The Search for Ancient Tin, Washington, D.C.: A seminar organized by Theodore A. Wertime and held at the Smithsonian Institution and the National Bureau of Standards, Washington D.C., March 14-15, 1977, pp. 14-15.

3. Purna Avdan Manuscripts Part III.2, Quo. By Moti Chandra, *Trade and Trade Routes in Ancient India*, Abhinav Publications New Delhi, 1977, p. 64.

4. Dr. David Frawley (Pandit Vamadeva Shastri) ICHR Foundation Day Lecture, 27 March 2015.

5. Interview to Scroll. In Aug 14, 2015.

6. In an overview for introducing his book, "Indus Script deciphered": Rosetta stones, Miecchita vikalp, 'Mehuhha cipher' Kindle Edition.

7. S.R. Rao, The Epigraphical Society of India, Fifth Annual Conference Souvenir, February, 1979.

8. A. Jack Goody, *The Interface Between the Written and the Oral*, Cambridge University Press, 1987, pp. 110-114, B, Jack Goody 2010, *Myth, Ritual and the Oral*, Cambridge University Press, 2010, pp. 42-47, 65-81.

9. याज्ञवल्क्य शिक्षा।

10. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, **प्राचीन लिपिमाला**, पृ. 12. Quoted by Kc Jain, Lord Mahavir and His Times, Motilal Banarasidas Delhi, 1972, p. 353.

11. Rajbali Pandey, *Indian Paleography*, p. 15, 253.

12. Sir Ashutosh Mukerjee Silver Jubilee Commoration Volumes, volume III, p. 494 ff Quoted by Kailash Chandra Jain, op cit.

13. D. C. Sircar, Indian Epigraphy, South Asia Research Series (ed) Richard Lariviere, The University of Texas Centre for Asian Studies and Oxford University Press, p. 29.

14. Richard Salomon, *Indian Epygraphy*, New York Oxford University Press 1998, p. 20

15. दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधत्।। पाजंजलि महाभाष्य-1।

16. Taittiriya Upanishad 1.2, Shikshavalli.

17. Rajbali Pandey, *Indian Paleography*, p. 15

18. Anguttar Nikay I-72, III-107, Quoted by K.C. Jain, op cit, p. 354.

19. Kenneth Roy Norman (2005). Buddhist Forum Volume V: Philological Approach to Buddhism Routledge. pp. 67, 56-57, 65-73.

20. समवायांग एवं ललित विस्तार, Quoted by Kailash Chandra Jain, op cit. p. 354

21. समवायांग सूत्र Quoted by Kailash Chandra Jain, op cit. p. 354

22. पाणिनि 1-3-11Kailash Chandra Jain, op cit. p. 354

23. पाणिनि 13-2-21 ibid. 354

24. R.A. Stein, *Tibetan Civilization*, (1972), pp. 51, 58. Stanford University Press.

25. Across Space and Time, Dr. Suresh's field research in Cambodia ponsored by Ramu Endowments, Chennai, The Hindu, Sunday Magzine, March 29, 2009.

26. John Guy, Lost Kingdoms_Hindu Buddhist Sculpture, Yale University Press, 2014, p. 09.

27. Uirica Roesler, *The Adventure of Rama, Sita and Ravana*. In The Other Ramayan Woman, Edited by John Brockington and Mary Brockington with Mandakranta Bose, Routledge 2016.

विश्व संस्कृति पर बौद्ध धर्म का प्रभाव

ब्रह्मदेव नारायण शर्मा*

भगवान् बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश दिया वह मानवमात्र के लिए कल्याणकारी था। बहुजनहिताय और बहुजनसुखाय था। मानवमात्र को दुःख की ज्वाला से निकालकर शान्त और शीतल स्थान तक ले जाने वाला था। इसीलिए बौद्धधर्म विश्व के आधे से अधिक गोलार्द्ध में समग्र रूप से श्रद्धा के साथ पूजित हुआ। वह धर्म विश्वजनीनता की भावनाओं से अनुप्राणित है। यही कारण है कि भारत की भूमि से उद्भूत हो वह विश्व के अनेक देशों में आज तक फलता-फूलता रहा है। इस धर्म में संकुचित राष्ट्रीय आदर्शों की अभिव्यक्ति नहीं है, वरन् मानवमात्र की समस्याओं के समाधान की आशा है। यहाँ कोई ऐसा विशिष्ट विश्वास नहीं है जो मानव मानव के बीच भेद उत्पन्न कर सके। यहाँ केवल नैतिक आदर्शवाद है, मनुष्य को मनुष्य बनाने का प्रयत्न है, यदि धर्म के नाम पर मानवता का अपलाप होता है तो बौद्धधर्म उसका प्रतिकार करने के लिए आह्वान करता है। यदि मानवता के गठबन्धन में बँधना ही विश्वमानव के भावी कल्याण का एकमात्र मार्ग है और इसी के लिए चारों ओर से प्रगति करनी है, तो उसके लिए भी बौद्ध विचार सबसे पहले हमारा आह्वान करते हैं और हमारा मार्ग दर्शन करते हैं। यही सब कारण है जिससे बौद्धधर्म के रूप में आज भी असंख्य जनों को आध्यात्मिक शान्ति का मार्ग प्रशस्त कर रहा है।

भगवान् बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश दिया वह शील, समाधि और प्रज्ञा के उच्चतम आदर्शों से प्रतिमण्डित है। शील सभी कुशल धर्मों का आधार है। वह कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्धता का अधिवचन है। समाधि मन की एकाग्रता का तथा प्रज्ञा कुशल चित्त सम्प्रयुक्त विपश्यना ज्ञान का अधिवचन है। इनके माध्यम से प्रत्येक मनुष्य दुःख से मुक्त हो सकता है, यह तथागत का निर्घोष है। भगवान् बुद्ध ने जिन चार आर्य सत्यों का आख्यान किया है वह दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध एवं दुःख निरोधगामिनि प्रतिपदा के नाम से सुआख्यात है। दुःख समस्त जगत् की समस्या है। बौद्धधर्म सम्पूर्ण मानव की समस्याओं को तथा उससे मुक्त होने के मार्ग को स्पष्टतः प्रतिपादित करता है इसीलिए इन उदात्त विचारों के कारण इसका प्रभाव विश्व संस्कृति पर अक्षुण्ण रूप से व्याप्त है।

भगवान् बुद्ध के अनुसार ईश्वर मार्गद्रष्टा हो सकता है सृष्टिकर्ता नहीं। अतः बुद्ध के अनुसार

*श्रमण विद्या संकाय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रयत्न व सत्कर्मों से ईश्वर स्वयं बन सकता है। यह ईश्वर के प्रसाद पर निर्भर नहीं, वरन् उसके स्वयं का पुरुषार्थ उसे परमार्थ तक पहुँचा देता है।[1] उसकी मूल भावना आचिन्तन है। चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र सभी को स्वचिन्तन एवं मुक्ति प्राप्त करने का समान अधिकार है। कोई भी व्यक्ति मात्र गोत्र अथवा धन से श्रेष्ठ नहीं उसकी श्रेष्ठता तो उसके सत्कर्म, विद्या, धर्म एवं शील से है[2] चित्त स्वरूपत: निर्मल और निर्विकार है[3] हमारे कर्म उसके मूल स्वरूप को आवृत कर लेते हैं। चित्त के इस विकार भाव को दूर करने के लिए साधना अपेक्षित है। इस प्रकार साधना, समानता, सच्चरित्रता तथा पुरुषार्थ बौद्ध संस्कृति की मूलभूत विशेषताएँ हैं, जिनके कारण यह विश्व को अपनी ओर आकर्षित करने में सक्षम रही है। साथ ही मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि सांस्कृतिक मूल्यों के सामने संसार नतमस्तक होकर तथागत के चरणों में शान्ति का अनुभव करता है।

ऊपर जिन सांस्कृतिक मूल्यों की चर्चा की गयी उसका स्वरूप किसी जाति या राष्ट्र विशेष तक ही सीमित नहीं है अपितु यह विश्वजनीन भावना से अनुप्राणित है, विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत है, और मानवमात्र के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है। काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, द्वेष, घृणा, स्वार्थ, घमण्ड, क्रूरता इत्यादि अकुशल भावों को समाप्त कर प्रेम, सद्भाव, सहानुभूति, सहयोग, सेवा, त्याग तथा उपकार आदि कुशल भावों को विकसित करता है। इसीलिए विश्व संस्कृति ने इसे आत्मसात् कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को इससे अनुप्राणित किया। इस दिशा में श्रीलंका, बर्मा, थाईलैण्ड, कम्बोडिया आदि दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों तथा नेपाल, तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान आदि उत्तर देशों का जन-जीवन उल्लेख्य है जिनमें बौद्ध संस्कृति की ज्योति प्रज्ज्वलित है तथा करोड़ों लोग आध्यात्मिक शान्ति के आलोक से आलोकित हैं।

धर्म, साहित्य, राजनीतिक परिस्थिति तथा सामाजिक संगठन ये चार कसौटियाँ हैं जिनसे संस्कृति के इतिहास का पता चलता है। इनमें से धर्म के अन्तर्गत दर्शन, साहित्य में भाषा, तथा सामाजिक संगठन में जाति व्यवस्था एवं शिक्षा, कला आदि का समावेश होता है। कला, साहित्य एवं विभिन्न संस्थाएँ, संस्कृति के कार्य हैं जो इसको मूर्त रूप देती हैं। संस्थाओं को चलाती है, साहित्य का निर्माण करती है तथा जीवन के आदर्श एवं सिद्धान्तों को प्रकाश प्रदान करती है। अत: इसका धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, संगीत आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

इस दिशा में श्रीलंका का स्थान सर्वप्रथम है जहाँ बौद्ध संस्कृति जन-जन में व्याप्त है, बौद्ध धर्म ही वहाँ राष्ट्र-धर्म है। जो सर्वप्रथम देवानंपियतिस्स के काल में प्रतिष्ठापित हुआ था। सिंहल के इतिहास में राजा वट्टगामनी अभय (ईसा पू. तीसरी सदी) तदनन्तर (ई.पू. 29-17) ने बौद्ध धर्म को सक्रिय बने रहने में पर्याप्त योगदान दिया। तब तक श्रुति परम्परा में स्थित त्रिपिटक को इसी ने लिपिबद्ध कराया। इसमे साहित्य के क्षेत्र में बौद्ध संस्कृति के प्रभाव को समझा जा सकता है। अनेक

महाविहारों का निर्माण कराया जहाँ सभी भिक्षु एकत्र होकर साहित्य तथा समाज के निर्माण में सक्रिय सहयोग कर सकें। अनुराधपुर का महाविहार बहुत दिनों तक उस द्वीप में बौद्धधर्म का केन्द्र बना रहा। इस प्रकार श्रीलंका में बौद्धधर्म का जो आदर आज तक रहा है उससे सभी विद्वान परिचित हैं। तब से लेकर आज तक बौद्धधर्म का साहित्य जो पालि भाषा में है, उस पर विपुल ग्रन्थ राशि लिखी गयी। बौद्ध साहित्य और दर्शन का चिन्तन नित्यनवोनमुखता की ओर अग्रसर रहा। श्रीलंका आज भी अत्यन्त कृतज्ञता के साथ बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में रहकर अपने को कृतार्थ मानता है। श्रीलंका से बौद्ध संस्कृति का प्रभाव बर्मा तथा स्याम (थाईलैण्ड) पर पड़ा।

इसी प्रकार हम पाते हैं कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के लोगों के जीवन में बौद्ध संस्कृति का अधिक प्रभाव रहा है। बर्मा, स्याम, कम्बोज, लाओस, वियतनाम, मलाया, सुमात्रा, जावा, बाली, बोर्नियो आदि द्वीप समूह बौद्ध सभ्यता, धर्म, कला-कौशल, वास्तुकला, साहित्य और जीवन दर्शन से अत्यन्त प्रभावित हुए हैं। चम्पा (दक्षिण वियतनाम) के प्राचीनतम शिलालेख मिले हैं जिनमें ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों का प्रभाव दिखाई देता है जो ईसा की तीसरी शताब्दी की है। बर्मा में बौद्ध धर्म तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व ही सम्भवतः पहुँच गया था। कुछ विद्वानों का मत है कि 450 ई. में बुद्धघोष ने लंका से बर्मा में बौद्धमत के हीनयान की प्रतिष्ठा की थी। जल और स्थल दोनों में भारतीय संस्कृति की अनवरत धारा बह रही थी, जो अराकान में 5वीं शताब्दी और पेगू में छठीं शताब्दी में प्रगट हुई। वहाँ बौद्धधर्म सब रूपों में वर्तमान था। अनिरुद्ध के शासन काल में बौद्धधर्म के हीनयान सम्प्रदाय ने महायान को दबा दिया था। धर्मग्रन्थों की भाषा पालि हो चुकी थी। पालि बौद्धग्रन्थों का बर्मी भाषा में अनुवाद कराया। इस तरह बर्मा में धर्म और कला का पुनरुद्धार हुआ। भव्य विहारों, चैत्यों, बुद्ध मन्दिरों का निर्माण हुआ। बर्मा की राजधानी पगान 250 वर्षों से अधिक दिनों तक बौद्ध संस्कृति और सभ्यता के केन्द्र रहा। अनेक आपदाओं के आने पर भी बर्मा बौद्ध देश बना रहा उस पर बौद्ध संस्कृति का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता रहा। बर्मा की अधिकांश जनता शिक्षित है क्योंकि बौद्ध भिक्षु सदा उन्हें शिक्षा देते रहते हैं। वहाँ की 85 प्रतिशत जनता में शिक्षा और बौद्धधर्म समान रूप से गृहीत है। बर्मा की बौद्ध रीतियों के अनुसार प्रत्येक बालक बहुत छोटी उम्र में ही बौद्ध शिक्षा ग्रहण कर लेता है। वह काषाय वस्त्र धारण करके विहार में भिक्षु का अनुसरण करता है। इस तरह प्रत्येक बर्मा निवासी बौद्ध भिक्षुओं के निकट सम्पर्क में आ जाता है और उसका सारा जीवन बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित रहता है। यहाँ के धर्म, धार्मिक साहित्य और अधिकांश लोक प्रचलित धार्मिक विश्वासों के मूल उपदेश हैं। बर्मा ने बौद्धधर्म के हीनयान रूप के उसके पालि में लिखे धर्मग्रन्थों का विकास किया। यहाँ बौद्धधर्म के ग्रन्थों और उनकी अट्ठकथा का अध्ययन तथा बर्मी भाषा में अनुवाद आज तक उत्साह के साथ हो रहा है। अभिधम्म का जैसा उच्च कोटि का अध्ययन-अध्यापन आज भी वहाँ की जनता में भगवान् बुद्ध के उपदेशों को अपने जीवन में समाविष्ट कर शान्ति पद को प्राप्त कर रही है। आज भी अनेक बौद्ध-विहार, चैत्य एवं स्तूप बौद्ध संस्कृति के प्रभाव को मुखरित कर

रहे हैं। 1852-77 ई. में संगमरमर की 729 पट्टियों पर त्रिपिटक उत्कीर्ण कराया गया।

स्याम (थाईलैण्ड) एक बौद्ध देश है। उनके परम्परागत नियमों, कला, लिपियों और भाषाओं पर बौद्ध संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है। कम्बोज, बर्मा और लंका से वहाँ हीनयानी बौद्ध धर्म पहुँचा। स्याम में गत वर्ष जनगणना के अनुसार 28996 बौद्ध विहार और 339648 बौद्ध भिक्षु बताये जाते हैं। बैंकाक में बेचवोजित के मन्दिरों के बाहरी ताखों में रखी हुई बुद्ध के पूर्ण आकार की खड़ी मूर्तियाँ हैं, जो सर्वोत्कृष्ट हैं। इस प्रकार स्याम पूर्णतः बौद्ध संस्कृति से प्रभावित है। उसकी धार्मिक भाषा पर पालि भाषा का प्रभाव है। सम्पूर्ण त्रिपिटक यहाँ की लिपि में लिपिबद्ध है तथा आज भी उन पर अनेक टीकाएँ लिखी जा रही हैं। इस प्रकार उसकी धार्मिक भाषा, वहाँ की सामाजिक और नागरिक संस्थाएँ लेखन कला सब पर बौद्ध संस्कृति के प्रभाव देखे जा सकते हैं।

कम्बोज, लाओस और चम्पा (वियतनाम) तीनों देश भी बौद्ध हैं। चम्पा की संस्कृति पर बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव रहा है। यहाँ संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद कराया गया और देश भर में बौद्ध मन्दिर बनवाये गये। 980 ई. में विनीताश्य राजा हुआ जो बौद्ध था। उन्होंने 14 वर्ष तक बौद्ध धर्म का संगठन किया। उन्होंने नवयुवक बौद्धों को प्रशिक्षण दिया और जनता में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। 1000 वर्ष तक यह देश बौद्ध धर्म से अनुप्राणित रहा। यहाँ की दो करोड़ जनता में एक करोड़ अस्सी लाख बौद्ध हैं। प्रत्येक गाँव में एक बौद्ध मन्दिर और विहार है। बौद्धधर्म में लोगों की अनन्य श्रद्धा है।

कम्बोज या कम्बोडिया में भी बौद्ध संस्कृति का अत्यन्त प्रभाव है। जयवर्मा सप्तम (1181-1201) के शासनकाल में बौद्ध धर्म कम्बोज का राजधर्म हो गया था। वह बौद्ध धर्म का अनन्य अनुयायी था। आज भी कम्बोज बौद्ध देश है। यहाँ अनेक बौद्धविहार तथा बौद्धमूर्तियों का निर्माण बौद्ध संस्कृति का परिचायक है। यहाँ स्थविरवादी बौद्ध धर्म आज भी उत्कर्ष पर है।

मलय द्वीप के जनजीवन में बौद्ध संस्कृति का प्रबल प्रभाव था। केडा के समीप 4थीं, 5वीं शती का बौद्धमन्दिर प्रसिद्ध है। यहाँ दो शिलालेख मिले हैं जो बौद्धधर्म से सम्बन्धित हैं। यहाँ महायान बौद्ध का व्यापक प्रभाव था। लगभग आठवीं शती तक यहाँ बौद्धधर्म सुदृढ़ रहा और वहाँ की संस्कृति को प्रभावित किया।

गुप्तकाल में सुमात्रा भी बौद्धधर्म का प्रधान केन्द्र था। 684 ई. में जयनाग श्री विजय का शासक था। यह महायान बौद्धधर्म से अत्यन्त प्रभावित था। जनश्रुति है कि सुवर्णद्वीप के प्रकाण्ड पण्डित धर्मकीर्ति तथा आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान से (981-1054 ई.) बहुत दिनों तक बौद्धधर्म बढ़ता रहा। यहाँ के जन-जीवन में महायान साधना का अत्यधिक प्रभाव रहा। नालन्दा से प्राप्त ताम्रपट्ट अभिलेख में सुमात्रा के राजा बालपुत्र देव द्वारा 7 गाँवों के दान का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार जावा के जन-जीवन पर बौद्ध संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यहाँ 5वीं शताब्दी में गुणवर्मा

ने बौद्धधर्म का प्रचार किया था। नागार्जुनकोंडा से प्राप्त शिलालेखों से स्पष्ट हो जाता है कि ईसा की तृतीय शताब्दी में सिंहल, चीन और मलय तक बौद्ध संस्कृति का व्यापक प्रभाव था। बोरोबुदूर का महाचैत्य, चण्डीमेदूत, चण्डीसेबू खंडरमेनदूत और चण्डीपावन मन्दिर बौद्धकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं इसी प्रकार बालिद्वीप तथा बोर्नियो पर बौद्धसंस्कृति का प्रभाव वहाँ की मूर्तिकला से स्पष्ट हो जाता है। दक्षिण-पूर्वी बोर्नियो के मर्त्तपुर जिले में गुनंककूपांग के बीच उत्खनन में बोधसत्व मञ्जुश्री की पाषाणमूर्ति मिली है। बोर्नियो में प्राप्त पीतल की एक बुद्धमूर्ति बौद्धसंस्कृति के प्रभाव को उजागर करती है।

अफगानिस्तान और मध्यएशिया में बौद्धसंस्कृति के अनेक अवशेष प्राप्त हुए हैं। बुद्ध काल में अफगानिस्तान को उद्धयान कहा जाता था। बुद्ध के जीवन काल में ही उनका धर्म वहाँ तक पहुँच चुका था। परम्परानुसार अशोक ने 84 हजार स्तूप बनवाये थे। उनमें से एक तक्षशिला में था। तृतीय संगीति के फलस्वरूप भिक्षु मज्झन्तिके को कश्मीर गन्धार में बौद्धधर्म के प्रचार के लिए भेजा गया था। मौर्य वंश के बाद कश्मीर और गन्धार बौद्धधर्म के केन्द्रस्थल हो गये। गन्धार की मूर्तिकला प्रसिद्ध है। असंग और वसुबन्धु जैसे प्रकाण्ड बौद्ध दार्शनिक भी गन्धार से ही मिले। लगभग दसवीं शताब्दी तक बौद्धधर्म यहाँ रहा। आज भी यहाँ बौद्धकला के अवशेष दर्शनीय हैं।

पश्चिमी मध्यएशिया में बुखारा बौद्धधर्म का स्मरण दिलाता है। मंगोलियन आज भी विहार के लिए बुखार कहा करते हैं। खोतान में महायानी साधना का प्रचार था। वहाँ बुद्ध की मूर्तिपूजा उत्साह के साथ की जाती थी। मध्यएशिया की संस्कृति पर बौद्धधर्म का प्रभाव अमिट रहा है। काशगर और खोतान पर कनिष्क का भी अधिकार रहा है। उस समय वहाँ बौद्धधर्म अवश्य था। विशेष रूप से सर्वास्तिवाद का प्रचार था। चीन से पश्चिम की ओर कूचा भी बौद्धधर्म का केन्द्र था। यहाँ से चीनी सेना कुमारजीव को हटात् चीन ले गयी, जहाँ कुमारजीव ने बौद्धग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया। सातवीं शताब्दी तक कूचा बौद्धधर्म का केन्द्र रहा। हीनयान और महायान दोनों साधनाएँ समान रूप से प्रचलित रहीं। प्रतीत्यसमुत्पाद, शुकप्रश्न, महापरिनिर्वाण, उदानवर्ग, उदानालकार, अवदान, करुणापुण्डरीक आदि गन्थ कूची भाषा में उपलब्ध हुए हैं। इसी प्रकार तुखारी भाषा में जातक आदि अनेक ग्रन्थ मिलते हैं।

बौद्ध देश में चीन का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यहाँ के जनजीवन पर बौद्धधर्म का अत्यन्त प्रभाव रहा, अनेक बौद्धागम आज केवल चीनी भाषा में ही उपलब्ध हैं। कहा जाता है कि पूर्वी हानवंश के सम्राट् मिड़ती (58-75 ई.) बौद्धधर्म के प्रति आकर्षित हुआ। सम्राट् ने वाङत्सुन के नेतृत्व में 17 व्यक्तियों के दल को बुद्ध के धर्म की खोज में भेजा। यह दल काश्यप मातङ तथा शान्तिभिक्षु और धार्मिक ग्रन्थों के साथ राजधानी लौट आया। काश्यप मातङ तक्षशिला के आचार्य थे। उन्होंने सर्वप्रथम चीनी भाषा में द्वाचत्वारिशंत सूत्र का अनुवाद किया। मिड़ती ने श्वेताश्व विहार

बनवाकर बौद्धधर्म के अस्तित्व को और भी सबल बनाया। मार्त के बाद भी अनुवाद परम्परा बनी रही। सोकाउ ने लगभग 95 बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। बौद्धधर्म के उत्थान की दृष्टिट से हानवंज़ का राज्यकाल बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। हूण्जे के राज्यकाल में बौद्धधर्म की प्रतिद्वन्द्विता में ताउवाद खड़ा हुआ था फिर भी वह बौद्धधर्म का प्रचार नहीं रोक सका। पश्चिमी छिनवंश (215-316 ई.) के राज्यकाल में इन अनुवादकों में 36 भाषाओं के ज्ञाता धर्मरक्ष प्रमुख थे, उन्होंने 211 ग्रन्थों का अनुवाद किया था। प्रज्ञापारमिता, दशभूतिकसूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक, ललित विस्तर आदि ग्रन्थों का नाम इस दिशा में उल्लेखनीय है। धर्मरक्ष ने अवलोकितेश्वर के नाम पर अवलोकित सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इस प्रकार अनेक ग्रन्थों का अनुवाद, वहाँ के राजाओं पर बौद्धधर्म का प्रभाव, बौद्धविहारों का निर्माण आदि से बौद्धधर्म एवं बौद्धसंस्कृति के प्रभाव को समझा जा सकता है।

इसी प्रकार कोरिया, जापान, तिब्बत, भूटान तथा नेपाल भी बौद्धधर्म से अत्यन्त प्रभावित देशों में है। यहाँ के जनजीवन में आज भी बौद्धधर्म के प्रभाव को देखा जा सकता है। जापान का राज्य धर्म बौद्धधर्म है। 604 ई. में शोतोकू ने बौद्धधर्म से आप्लावित संविधान बनाया जो आज भी एक गौरव की वस्तु मानी जाती है। शोतोकू के बाद सम्राट् शोम (724-59 ई.) दूसरे बौद्धधर्मावलम्बी राजा थे। उन्होंने 752 ई. में विश्व की प्राचीनतम और उच्चतम पीतल की बुद्धमूर्ति दाईवुत्सु (महाबुद्ध) को प्रतिष्ठित किया। वहाँ अनेक बौद्धविहार और बुद्धमन्दिर का निर्माण कराया गया। जापान में बौद्धधर्म के अनेक सम्प्रदाय हैं, जिसमें प्रमुख सम्प्रदायों का उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता है- केगोन, तेन्दई, ज़िमोन, जेन, जोदो, निचिरेन सम्प्रदाय आदि।

केगोन सम्प्रदाय-यह सम्प्रदाय योगाचार का अंग है। अबतंसक (केगोन) सूत्र इस सम्प्रदाय का मूलग्रन्थ है। इसका मुख्य सिद्धान्त है 'एकचित्तान्तर्गतधर्मलोकः' अर्थात् एक ही चित्त के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण विश्व है।

तेन्दई सम्प्रदाय-इसका मूल ग्रन्थ है, सन्दर्भ पुण्डरीक। इसके अनुसार व्यवहार और परमार्थ सत्य परस्पर पूरक हैं।

शिगोन सम्प्रदाय-यह मंत्रयान से सम्बद्ध है। मंत्रयान के प्रधान देवता बैरोचन का चित्रण जापान और तिब्बत में कलाकारों ने किया है।

जेन सम्प्रदाय-इसे ध्यान सम्प्रदाय कहा जा सकता है। इसका मूल ग्रन्थ लंकावतार सूत्र है। ध्यान और आत्मसंयम को ये प्रधानता देते हैं। बोधिसत्व मन्जुश्री और उनकी शक्ति अंचला की पूजा इस सम्प्रदाय में की जाती है।

जोदो सम्प्रदाय-यह मुख्यतः भक्ति पर आधारित है। अमिताभ इसके प्रधान इष्टदेव हैं

जिनके प्रति समर्पण भाव से प्रार्थना करने से उद्देश्य की पूर्ति होती है।

निचिरेन सम्प्रदाय-सद्धर्मपुण्डरीक इसका आधारग्रन्थ है इसके अनुसार बुद्ध सर्वव्यापक हैं।

इस प्रकार जापान के जनजीवन पर बौद्धधर्म के प्रभाव को देखा जा सकता है। तिब्बत के जनजीवन साहित्य तथा संस्कृति बौद्धधर्म से अत्यन्त प्रभावित हैं। यहाँ का सम्राट् स्त्रोङ् गचन स्वामणे ने 640 ई. में खंग तथा रमोछो मन्दिरों का निर्माण किया। ये बौद्धमन्दिर आज भी अपने इतिहास का स्मरण दिलाते हैं। भोट भाषा में बौद्ध ग्रन्थों का अक्षरश: अनुवाद कराया। आज भी भारतीय ग्रन्थ जो लुप्त हो गये हैं उनका अनुवाद तिब्बती भाषा में उपलब्ध है। 802 ई. में रिप्र-सोङ्-लदे-वचन राजसिंहासन पर बैठा। उसने बौद्धधर्म को सुदृढ़ बनाने के लिए शान्तरक्षित को निर्मंत्रित किया। शान्तरक्षित ने विविध विषयों पर उपदेश दिये। राजा ने विशाल विहार और मठ बनवाये।

13वीं शताब्दी में रिन-छेन्-गुव ने उपलब्ध ग्रन्थों का क्रमानुसार संग्रह किया। यह दो भागों में विभाजित है। सक-ग्युर (कन्जूर) अर्थात् बुद्धवचन और सतम्-उम्युर (तन्जुर) अर्थात् बुद्ध वचन से भिन्न दर्शन, काव्य, ज्योतिष आदि। इसके बाद चोंगरकधा, बनरतन, धर्मपाल तथा लामा तारानाथ आदि विद्वानों ने बौद्धधर्म की अपूर्व सेवा की। आज भी दलाईलामा और पंचनलामा बौद्ध श्रेष्ठ हैं तथा बुद्धधर्म और संस्कृति के पोषक हैं। इस प्रकार तिब्बत देश की संस्कृति, साहित्य और कला बौद्ध संस्कृति, साहित्य और कला पर आहूत है।

मंगोलिया के जनजीवन पर बौद्धधर्म का अत्यन्त प्रभाव रहा है। बौद्धधर्म का प्रभाव यहाँ प्रथम शताब्दी से ही दृष्टिगत होता है। बौद्धधर्म वहाँ का राष्ट्रीय धर्म है। चोंगरवापा सुमतिकीर्ति और उसके शिष्यों द्वारा स्थापित तिब्बती महाविद्यालयों में मंगोलिया के छात्र अध्ययन करने लगे। फलत: बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार बढ़ने लगा। तृतीय और चतुर्थ दलाईलामा मंगोलिया के ही थे। पंचम दलाईलामा के समय मंगोलियन सेना ने बौद्ध भिक्षुओं पर हुए अत्याचार को समाप्त कर दिया था। इससे स्पष्ट है कि मंगोलिया में बौद्धधर्म अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। कन्जुर तथा तन्जुर का वहाँ अनुवाद भी कराया गया है।

नेपाल बौद्धधर्म का सबसे पवित्र तीर्थस्थान कहा जा सकता है। भगवान् बुद्ध का जन्म वहाँ के लुम्बिनी ग्राम में हुआ था। नेपाल के बौद्धधर्म के इतिहास में राजा अंशु वर्मन (7वीं शती) का विशेष स्थान है। वह कट्टर बौद्ध शासक था। उसने संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद कराया। नेपाल में आज भी अनेक बौद्धग्रन्थ सुरक्षित हैं। आजकल वहाँ बौद्धधर्म के चार सम्प्रदाय प्रमुख रूप से हैं- स्वाभाविक, ईश्वरिक, कार्मिक और यांत्रिक। नेपाल भारत और तिब्बत के बीच एक अजस्र कड़ी रहा है, जिससे दोनों देशों के बीच एक सांस्कृतिक सम्बन्ध जोड़े गये हैं। आज भी नेपाल में बौद्धधर्म का प्रभाव देखा जा सकता है। यहाँ सैकड़ों बौद्ध विहार हैं जहाँ अनेक भिक्षु निवास करते हैं, तथा बौद्धधर्म से सम्बन्धित सपमितय का निर्माण कर रहे हैं।

इस प्रकार बौद्धधर्म प्रारम्भ से ही विश्व के लिए आध्यात्मिक प्रेरणा और शान्ति का सन्देशवाहक रहा है। उसने न केवल आध्यात्मिक अपितु राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्र में भी विश्व का मार्गदर्शन किया है।

सन्दर्भः

1. अत्तदीपो भवथ अत्तसरणां अनञ्ञसरणाति। (यं. पालि. सं.दीघ निकाय)
   अत्ताहि अत्तनो नाथो कोहि नाथो परोसिया।
   अत्तनाव सुदन्तेन नाथो लभति दुत्तरं। (धा.प.)
2. कम्मं विज्जा च धम्मो च सीलं जीवितमुत्तमं।
   एतेन मच्चा सुज्झन्ति न गोतेन धनेन वा।।
3. पकतिपभस्सरमिदं चित्तं आगन्तुकेहि मलेहि उपक्लिट्ठं होति। (अंगुत्तर निकाय)
4. Thai Buddhism – by Pharamaha Rajavarani.

विश्व-शान्ति के लिए बुद्ध-देशना की प्रासंगिकता

सत्य प्रकाश शर्मा*

आहार, निद्रा, भय और मैथुन - प्राणिमात्र की सहज प्रवृत्तियाँ हैं। रोटी, कपड़ा और मकान का साम्यवादी धारा भी इन्हीं सहज प्रवृत्तियों की ओर इंगित करता है। इन प्रवृत्तियों किंवा आवश्यकताओं के परिप्रेषण में प्रत्येक प्राणी को प्रतिपक्ष की सदा चुनौती रहती है। फलतः प्राणियों का पारस्परिक विरोध भी उतना ही स्वाभाविक है। किन्तु यह विगेध की प्रवृत्ति ही प्राणियों में एक ऐसी ऊर्जा उत्पन्न करती है जो सर्वथा नवीन सृष्टि का कारण बनती है। बुद्ध का सिद्धान्त केवल दार्शनिक नहीं, विशुद्ध व्यावहारिक है। किन्तु वह विशेष यदि किसी सृष्टि के लिए खोना अर्थात् इसका उद्देश्य रचनात्मक होगा तभी सृष्टि सम्भव होगी। निरुद्देश्य आविचारित एवं बेमेल मेल भी मात्र विध्वंस का कारण होता है।

इस विशाल सृष्टि में मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है जिसे विधाता ने सर्वाधिक बुद्धि सम्पन्न बनाया है। किन्तु उसमें भी पाशविक प्रवृत्ति अनेक अंशों में विद्यमान है और रहेगी - इसे नकारा नहीं जा सकता। मत्स्य-न्याय की प्रवृत्ति मानवीय सभ्यता के उदय काल से ही मानव समाज में देखी जाती है। किन्तु इस आत्मविनाशी प्रवृत्ति ने ही मानव को ऊर्जा के अनेक आयाम दिये हैं जिनके फलस्वरूप उसने एक ओर शारीरिक तथा सामूहिक शक्ति अर्जित करने के लिए प्रोत्साहित किया। एक ओर वीरों का, वीर-राष्ट्रों का उदय हुआ जो सदा ही आपस में झगड़ते रहे और निर्बलों को सताते रहे, न्याय के नाम पर तरह-तरह के दण्ड निर्धारित कर शोसित वर्ग का दमन करते रहे तो दूसरी ओर कुछ-कुछ ऐसी महान विभूतियाँ भी उत्पन्न हुईं जिनके उदात्त विचारों, निश्चल प्रेम और अहैतुकी करुणा ने पाशविक शक्ति को भी प्राणिमात्र के कल्याण में नियोजित कर दिया। भगवान् बुद्ध ऐसी ही विभूतियों के सिरमौर थे। आज भी जहाँ सम्पूर्ण विश्व धार्मिक आतंकवाद, उन्मत्त राष्ट्रवाद, अमर्यादित क्षेत्रवाद, उच्छृंखल नस्लवाद के कारण आसन्न युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त है, बड़े राष्ट्रों की एकाधिकारवादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप छोटे राष्ट्र अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत हैं वहीं मानवमात्र को एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो उदात्त हो, विवेकपूर्ण विचारों से परिपूर्ण हो, आत्मानुशासित एवं संगठित हो। सौभाग्य से भगवान् तथागत की देशनाएँ ऐसे ही

*आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत-पालि विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

धर्म का प्रतिपादन करती हैं- वहाँ 'बुद्ध', प्रबुद्ध विवेकशील की वन्दना है, विवेक ही शरण है, सभी पापों का न करना, अच्छे कार्यों की सम्पत्ति जुटाना और अपने चित्त को शुद्ध बनाना ही धर्म है, तथा आत्मानुशासित धर्मनिष्ठ संगठन ही 'श्रेयस्कर' है।

यहाँ बुद्ध-देशना की उन कतिपय विशेषताओं का उल्लेख करना हमें अभीष्ट है जिनके कारण विश्वशान्ति के लिए बौद्धधर्म न केवल प्रासंगिक है अपितु अनिवार्य है।

वैमनस्य का सर्वथा विरोध

भगवान् बुद्ध ने क्रोध और वैमनस्य के सर्वथा परित्याग की बात कही है। यह केवल मनुष्यों के लिए नहीं, राष्ट्रों के लिए भी उनकी नसीहत है। उनकी स्पष्ट घोषणा है-

अक्कोच्छि मं अवधि मं अर्जिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति वेरं तेसं न सम्मति।। धम्म. 1/3

शत्रुता तो शत्रुता से कभी शान्त नहीं होती, वह तो केवल शत्रुभाव के त्यागने से ही शान्त हो सकती है और यही विश्व का शाश्वत नियम है, यही सनातन धर्म है-

न ही वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो।। धम्म. 1/5

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन सच्चेनालीकवादिनं।। धम्म. 17/3

इसी प्रसंग में भगवान् दण्डत्याग की भी बात कहते हैं- 'सभी दण्ड से डरते हैं, जीवन सभी को प्रिय है, अतः सभी को अपने समान समझकर न मारें और मारने के लिए प्रेरित करें'-

अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये।। धम्म. 10/2

धार्मिक सहिष्णुता के लिए बोधसत्त्व का निम्नलिखित वचन आज भी प्रासंगिक है-

प्रतिमास्तूपसद्धर्मनाशकाक्रोशकेषु च।
न युज्यते भयक्रोधौ बुद्धादीनां न हि व्यथा।। धम्म. 6/64

प्रतिमा, स्तूप और सद्धर्म के नाशकों तथा निन्दकों पर मेरा क्रोध करना उचित है क्योंकि इन कामों से बुद्ध आदि को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

रूढ़िवादिता एवं सम्प्रदायवाद का विरोध

बौद्धधर्म की सबसे बड़ी विशेषता है कि यह रूढ़िवादिता एवं साम्प्रदायिकता का घोर विरोध करता है। यदि यह कहा जाय कि भगवान् बुद्ध का आविर्भाव ही रूढ़िवाद एवं सम्प्रदायवाद के

विरोध में हुआ था, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। भगवान् बुद्ध ने कहीं भी और कभी भी यह नहीं कहा कि वह किसी नए धर्म या सम्प्रदाय का प्रवर्तन कर रहे हैं। उन्होंने तो सर्वत्र ही 'एस धम्मो सनन्तनो' कहकर सनातन धर्म अर्थात् धर्म के शाश्वत स्वरूप का ही उद्‌घाटन किया है। किन्तु, उनका यह सनातन धर्म रूढ़िवादी नहीं है। उन्होंने तो बड़े खुले दिल से संसार की सभी अच्छी बातों को चाहे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय की क्यों न हों, बुद्ध वचन मानकर स्वीकार करने की बात कही- ''यत्किञ्चित् सुभाषितं सर्वं तद्‌बुद्धभाषितम्।''[2] उन्होंने कभी भी किसी व्यक्ति या धर्म का चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, अनुकरण करने के लिए नहीं कहा- अपना भी नहीं। कलामों के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं, ''तुम्हें विभिन्न सन्तों एवं आचार्यों के उपदेशों के फेर में नहीं पड़ना चाहिए, तुम्हें वे सिद्धान्त भी केवल इसीलिए स्वीकार नहीं कर लेने चाहिए कि तुम्हारे प्राचीन धर्मग्रन्थों या प्राचीन परम्परा में सन्निहित है और न ही इसीलिए स्वीकार कर लेने चाहिए कि उन सिद्धान्तों का प्रचारक आपका कोई आदरणीय व्यक्ति है अथवा बहुमत के द्वारा स्वीकृत है। इसके विपरीत हे कालामों! जब कोई आचार्य या सन्त अपने सिद्धान्त को मानने के लिए आपको प्रेरित करता है तो आपको खुले दिमाग से उस सिद्धान्त की अच्छाइयों और बुराइयों को सोचना चाहिए।''[3] यही नहीं भगवान् बुद्ध सभी प्रकार की चरमताओं के विरुद्ध थे। उन्होंने हमेशा मध्यम-मार्ग (मच्छिमा पटिपदा) अपनाने का ही उपदेश दिया।[4] भगवान् बुद्ध के दृष्टिकोण का यह लचीलापन, औदार्य या विशालता एक अनूठी विशेषता है।

व्यक्तिपूजा का निषेध

भगवान् बुद्ध ने व्यक्तिवाद का विरोध करते हुए व्यक्तिपूजा यहाँ तक कि स्वयं अपनी (बुद्ध की) पूजा का भी निषेध किया था। अपने महापरिनिर्वाण के अवसर पर आनन्द को सम्बोधित करते हुए उन्होंने निर्देश दिया कि हे आनन्द! तथागत के पार्थिव शरीर की पूजा-सत्कार की चिन्ता मत करो। केवल सत्य-प्राप्ति का प्रयत्न कर चिर-सत्य की प्राप्ति के लिए उठ खड़े हो।[5] एक अन्य स्थल पर बक्कलि को उपदेश देते हुए भगवान् कहते हैं- ''हे बक्कलि, इस अपवित्र पार्थिव शरीर के दर्शन से कोई लाभ नहीं है, जो धम्म का दर्शन करता है, मेरा दर्शन करता है और जो मेरा दर्शन करता है वह धम्म का दर्शन करता है।''[6] भगवान् का स्पष्ट आदेश है कि दूसरों पर, भले ही वे ब्रह्मा और इन्द्र जैसे देवता क्यों न हों, निर्भर करना जीवन को बदतर बनाना है।[7]

मानवमात्र का महत्त्व

प्राय: सभी धर्मों में मानवमात्र को उत्कृष्ट दैवीशक्तियों के अधीन एक परतंत्र प्राणी के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसीलिए उसे ईश्वरोपासना करने तथा संसार की उपेक्षा करने का उपदेश दिया जाता है। किन्तु भगवान् बुद्ध ने इसके ठीक विपरीत 'अत्ता हि अतनो नाथे को हि नाथो परो सिया'[8] अर्थात् मनुष्य अपना स्वामी स्वयं है, कोई दूसरा स्वामी नहीं हो सकता। उन्होंने मनुष्य को

देवता बनने के लिए प्रेरित नहीं किया, अपितु उल्टे देवताओं को ही मनुष्य बनने के लिए प्रेरित किया जिससे वे निर्वाण-प्राप्ति कर सके।[9] बौद्ध धर्म के अनुसार निर्वाण-प्राप्ति केवल मानवजीवन में ही सम्भव है। बोधिसत्त्वों को भी निर्वाण प्राप्ति के लिए मानवयोनि में जन्म लेना होता है।

कर्म की महत्ता

बौद्धधर्म के कर्म की महत्ता सर्वत्र स्वीकार की गई है चाहे वह सुख-दु:ख के सन्दर्भ में हो या पुनर्जन्म के सम्बन्ध में। यहाँ- ''अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम। दास मलूका कह गए, सबके दाता राम।।'' जैसे सिद्धान्तों के लिए कोई अवकाश नहीं है। भगवान् बुद्ध तो पवित्र हृदय एवं शुद्ध मस्तिष्क (विचारों) से सभी कर्तव्यों को पूरा करने, उत्तरदायित्वों को निर्वाह करने और कठोर परिश्रम करने का उपदेश देते हैं।[10] वे स्पष्ट कहते हैं कि 'तथागत को केवल दैवी शक्ति का सहारा नहीं है, अत: यह कर्म करने के लिए स्वतंत्र है। अत: उसे कर्म करने में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए।[11] प्रमाद की सर्वत्र निन्दा की जाती है और अप्रमाद की प्रशंसा। अप्रमादपूर्वक कर्म करने से ही इन्द्र देवताओं का स्वामी बना है-

अप्पमादेन मधवा, देवानं सेट्ठतं गतो।
अप्पमादं पसंसन्ति, पमादो गरहितो सदा।।[12]

सामाजिक-सामंजस्य

भगवान् बुद्ध ने सामाजिक-सामंजस्य बनाये रखने के लिए सामाजिक वर्गीकरण को जन्म-सिद्धान्त से उठाकर कर्म-सिद्धान्त की पीठिका पर प्रतिष्ठित किया। कोई व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं होता है। कर्म के इस सिद्धान्त में उन्होंने कर्म-फल भोगने के लिए भी कर्ता को एकमात्र उत्तरदायी ठहराकर इस संसार में अकेला-निराश्रित नहीं छोड़ा। भगवान् ने स्पष्ट कहा है- ''न हि सर्व वदन्ति कर्ममूलकं, अल्प कर्मविपाकजं, बहुतरमवशेषम्''[13] अर्थात् सभी भोग कर्ममूलक नहीं हैं, व्यक्ति के कर्मविपाक का फल तो अल्प है, अधिकांश तो इसी प्रवर्तमान संसार के कारण हैं। स्पष्ट है संसार अर्थात् सांसारिक प्रपंचों के कारण, सामाजिक विषमताओं-प्रतिबद्धताओं के कारण मनुष्य को अनेक कर्म करने पड़ते हैं जिनका फल समाज को नहीं, कर्ता व्यक्ति को भोगना पड़ता है। इस प्रकार भगवान् ने मनुष्य के सुख-दु:ख के लिए व्यक्ति की अपेक्षा संसार या समाज को अधिक उत्तरदायी घोषित कर सामाजिक सामंजस्य पर अधिक ध्यान दिया है।

समाज-सेवा की महत्ता

भगवान् बुद्ध ने समाज सेवा को प्रभूत महत्त्व दिया है। उनका समाज सीमित न होकर मनुष्य मात्र का समाज है। संघ में भी भिक्षुओं को संघ के सभी कार्यों को सामूहिक रूप से स्वयं करने

तथा परस्पर सहायता करने के उपदेश विनय-पिटक में संकलित हैं। भिक्षुओं को उन्होंने आदेश दिया- ''चरथ भिक्खवे! ब्हुजनहिता, बहुजनसुखाय।''[14] उन्होंने इसे घोषित कर लोकोपकार को सर्वोच्च प्राथमिकता दी। बोधिसत्त्व के इन वचनों में बुद्धधर्म का सच स्वरूप उद्भासित हो उठा है-

न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम्।।[15]

बौद्धधर्म या बुद्धपूजा की इसी विशिष्टता का उल्लेख बोधिचर्यावतार में इस प्रकार किया गया है-

हितशंसंनमात्रेण बुद्धपूजा विशिष्यते।
किं पुनः सर्वसत्त्वानां सर्वसौख्यार्थगुह्यगात्।।[16]

नैतिकता पर बल

भगवान् बुद्ध ने नैतिकता अर्थात् सदाचरण या शील पर अधिक बल दिया है। शील का ही अपरनाम विनय है। इस विनय को 'बुद्ध-शासन की आयु' घोषित कर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि जब तक विनय का पालन करते हुए भिक्षु शील को पवित्र बनाये रखेंगे, बौद्धधर्म जीवित रहेगा।[17] इसीलिए भगवान् ने 'सीलं रक्खेय्य मेधावी' का उपदेश दिया था। सद्विचार के बिना सद्बुद्धि (प्रज्ञा) नहीं आती और बिना सद्बुद्धि के सदाचार नहीं आता। अतः भगवान् ने दोनों के परस्पर शोधन का उपाय सुझाया। इसके लिए हृदय या मन (एवं मस्तिष्क) का पवित्र होना आवश्यक है क्योंकि सभी कर्मों के मूल में ये ही दोनों कारण होते हैं।[18] इसीलिए भगवान् बुद्ध ने दुःशील होकर राष्ट्र या समाज का अन्न खाकर मौज-मस्ती करने की अपेक्षा अग्निसन्तप्त लाल लौहपिण्ड को खाना अधिक श्रेयस्कर उद्घोषित किया है-

सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तां अग्गिसिखूपमो।
यं वे भुजेय्य दुस्सीलो रट्ठपण्डिं असञ्ञतो।।[19]

इस प्रकार भगवान् बुद्ध की देशना समाज के लिए तथा लोक के कल्याण के लिए है। यहाँ स्वर्ग या मोक्ष की कामना तो है किन्तु लोक या समाज की उपेक्षा करके नहीं। स्वार्थ-साधन की अपेक्षा परोपकार को यहाँ महत्त्व दिया गया है किन्तु अपने आपकी भी उपेक्षा अकरणीय। शील और प्रज्ञा से अपने को उन्नत बनाना है और अपने ज्ञान और कर्म से समाज को आलोकित करना है। इस प्रकार स्वत्व और परत्व, स्वार्थ, आत्महित और लोकहित, शील और कर्म, कर्म और प्रज्ञा, लोक और अध्यात्म, त्याग और भोग की चरम कोटियों के परित्यागपूर्वक उनमें पारस्परिक समन्वय स्थापित करते हुए 'मध्यम मार्ग' का अनुसरण वस्तुतः सभी के लिए अनुद्वेगकर, सुखकर एवं प्रिय है। यहाँ

करुणा का अपार सागर हिलोरें ले रहा है, मैत्री का महान् व्योम सभी द्वेशों को आवृत करता हुआ सर्वत्र व्याप्त है, किसी की उपेक्षा नहीं, यदि है तो राग-द्वेष, तृष्णा आदि दोषों की है। प्रज्ञा का सर्वत्र स्वतंत्र साम्राज्य है अतः आज के युग में जहाँ सर्वत्र पारस्परिक ईर्ष्या, कलह, द्वेष, स्वार्थ, दुराचार, शोषण, धार्मिक या जातीय उन्माद और युद्ध की विभीषिका का प्रचण्ड ताण्डव हो रहा है, वहाँ भगवान् बुद्ध की ही आवश्यकता है। उनके द्वारा निर्दिष्ट धर्म निःसन्देह आज अधिक प्रासंगिक एवं उपयोगी है। यहाँ सर्वत्र करुणा है, मैत्री है, उसी में सुख है, क्रोध-तृष्णा-पाप की उपेक्षा है-यही उनका ब्रह्मविहार है, किसी अलौकिक ब्रह्म की इस धर्म में तलाश नहीं है।

सन्दर्भः

1. धम्मपद, सुखवग्ग, 5
2. बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ. 432
3. अंगुत्तरनिकाय, कालामसुत्त
4. मज्झिमनिकाय, धम्मदायादसुत्त
5. दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त
6. वही
7. मज्झिमनिकाय, 2/2/2
8. धम्मपद, अत्तवग्ग, 4
9. वही, बुद्धवग्ग, 2
10. वही, यमकवग्ग एवं अप्पमादवग्ग
11. वही, मग्गवग्ग, 4
12. वही, अप्पमादवग्ग, 10
13. मिलिन्दप्रश्न, हिन्दी अनुवाद, पृ. 137-138
14. विनयपिटक, 1/23
15. जगदुपकृतिरेव बुद्धपूजा-बुद्धशतक
16. बोधिचर्यावतार हिन्दी अनुवाद लखनऊ, पृ.-455
17. विनयो नाम सासनस्स आयूति - तुलनीय
    यस्मिं ठिते सासनमट्ठितरस, पतिट्ठितं होति सुसट्ठितस्स।
    संवण्णयिस्सं विनयं अभिस्सं निस्साय पुब्बाचरियानुभावं।।
    समन्तप्पासादिका प्रथम भाग, पृ. 4
18. मनो पुब्बंगमा धम्म मनो सेट्ठा मनोमया। धम्मपद, 1/2-2
19. वही, निरवग्ग, 4

दक्षिण एवं दक्षिण पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रसार नाथ पंथ के विशेष संदर्भ में

अंजना राय*

लगभग पहली शताब्दी से भारतीय संस्कृति ने दक्षिण और दक्षिण पूर्वी एशिया के क्षेत्र में अपना प्रभाव डालना शुरू कर दिया। इन क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति के विस्तार को भारतीयकरण की संज्ञा दी गयी। यह शब्द फ्रांसीसी पुरातत्वविद् जार्ज कोएड्स के द्वारा दिया गया। उन्होंने इसे एक संगठित संस्कृति के विस्तार के रूप में परिभाषित किया, जिसमें भारतीय संस्कृति के आधार पर कुलीनता, हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म की भारतीय उत्पत्ति और संस्कृत के आधार पर स्थानीय भाषायें विकसित की गयी थीं।

प्राचीन काल के सभ्य संसार में भारत की स्थिति अत्यधिक महत्वपूर्ण थी। हिन्द महासागर के तट पर स्थित होने के कारण भारत की केन्द्रीय स्थिति थी।[2] वह तत्कालीन सभ्य एवं सुसंस्कृत देशों के समुद्री भागों के मध्य में स्थित होने से उन देशों में फैली हुयी सभ्यताओं के सम्पर्क में आता रहता था। सुमात्रा, जावा, बाली, बोर्नियो, स्याम, हिन्द चीन, बर्मा और मलाया आदि देश इसी प्रकार से भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आकर सभ्य बने।[3]

संस्कृति और सभ्यता का प्रसार विजय और व्यापार के साथ होता है। भारतीय संस्कृति के प्रसार में भारतवासियों की व्यापार यात्राओं ने अनुपम सहयोग प्रदान किया। उस काल के भारतीयों को ज्ञान था कि दक्षिण पूर्वी द्वीप समूह मसालों और स्वर्ण के खानों से भरपूर है, अत: भारतीय नाविक और व्यापारी उन देशों की अत्यधिक यात्रा करते थे, जिनके कारण वहाँ की जातियाँ उनके सम्पर्क में आने लगीं और भारतीय संस्कृति से प्रभावित होने लगीं।[4]

वास्तव में व्यापारियों ने संस्कृति-दूत की भूमिका निभायी तथा बाहरी दुनिया के देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये।

सांस्कृतिक आदान-प्रदान में यहाँ के प्राचीन विश्वविद्यालयों की भूमिका सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण रही है। उन्होंने बड़ी संख्या में विद्वानों और छात्रों को आकर्षित किया। विदेश से आने वाले

*स्वतंत्र शोध अध्येता, गोरखपुर

विद्वान अक्सर नालंदा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में जाते थे। नालंदा विश्वविद्यालय में अतिरिक्त तक्षशिला, विक्रमशिला और ओदन्तपुरी विश्वविद्यालयों का भी उल्लेख आवश्यक है जहाँ के शिक्षक और छात्र धर्म और विद्या के साथ-साथ भारतीय संस्कृति को भी विदेशों में ले गये।[5]

व्यापारियों, शिक्षकों और छात्रों के साथ-साथ तत्कालीन भारतीय शासकों के राजदूतों और विभिन्न धर्म के धर्म प्रचारकों ने भी भारतीय संस्कृति का प्रसार विश्व के विभिन्न भागों में किया।[6]

नाथ पंथ जिसके बारे में आम जन मानस की धारणा है कि इसका जन्म 7वीं शताब्दी के आस-पास हुआ यह पूर्णतया सही नहीं है। नाथ सम्प्रदाय तो सतयुग से चला आ रहा है और वैदिक धर्म का ही एक हिस्सा है। ह्वेनसांग अपने यात्रा विवरण में नाथ पंथ की चर्चा करता है।[7] रोम के प्रसिद्ध विद्वान टेसीटरी का मत है कि कनफटा योगी (नाथ योगी) लोग बौद्ध मत के प्रारम्भिक समय में भी विद्यमान थे, किन्तु उनकी योग्यता का विकास बौद्ध मत के पतन काल में ही हुआ। इस तरह यह कहा जा सकता है कि सनातन धर्म की यह शाखा सातवीं शताब्दी में बहुत फली-फूली और सारे विश्व में सूर्य की तरह चमकने लगी।[8]

भारतीय दर्शन एवं चिन्तन परम्परा में योग का प्रारम्भ आदि काल से है।[9] साथ ही भगवान शिव भारत के सबसे प्राचीन देवता हैं और इसीलिये इन्हें नाथ भी कहते हैं। नाथ पंथ के आराध्य देव शिव हैं। इनके बाद इस पंथ में दत्तात्रेय को स्थान प्राप्त है जिन्होंने शैव, वैष्णवों और शाक्तों में सामंजस्य स्थापित करने का कार्य किया[10] इन्हीं के शिष्य थे मत्स्येन्द्रनाथ। 8वीं-9वीं सदी में मत्स्येन्द्रनाथ का प्रादुर्भाव हुआ जिनकी भारत के साथ-साथ वर्मा में भी पूजा की जाती है[10]। और इन्हीं के शिष्य थे गोरखनाथ जिन्होंने पूरे देश में फैली हुयी नाथ सम्प्रदाय की योग विधाओं का एकत्रीकरण करके प्राचीन काल से चले आ रहे इस सम्प्रदाय को व्यवस्थित किया। गुरु और शिष्य दोनों को तिब्बती बौद्ध धर्म में महासिद्धों के रूप में माना जाता है।[11] हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, जिस प्रकार से शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म से वैदिक धर्म की रक्षा की उसी प्रकार गुरु गोरक्षनाथ ने इस्लाम से हिन्दू धर्म की रक्षा की।[12] गुरु गोरखनाथ ने नेपाल में लम्बे समय तक तपस्या की और असंख्य लोगों को नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित किया। यही से दीक्षा लेकर इनके अनुयायी विभिन्न देशों में फैले और नाथ पंथ का विस्तार किया। नाथ पंथ 12 पंथों में बँटा और बारह पंथियों के माध्यम से यह विभिन्न देशों में पहुँचा।

नाथ पंथ के जो सिद्धान्त और विशेषतायें हैं वह विश्व के किसी भी देश के किसी भी धर्म के मूल में देखे जा सकते हैं और जहाँ तक दक्षिण और दक्षिण पूर्वी एशिया में इसके प्रसार का सम्बन्ध है नाथ सम्प्रदाय 12 पंथियों के किसी पंथ के रूप में, बौद्ध धर्म की एक शाखा के रूप में, शैव सम्प्रदाय की एक शाखा के रूप में, सूफियों के रूप में पहुँचा।

कश्मीर में 8वीं और 9वीं शताब्दी में बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा से प्रभावित अपने तरह

का शैव दर्शन विकसित हुआ जो अद्वैत और तांत्रिक धार्मिक परम्पराओं का एक समुच्चय था और इस दर्शन ने न केवल कश्मीर और पूरे भारत बल्कि पूरे दक्षिण एशिया की शैव परम्परा पर गहरा प्रभाव डाला।[13] कश्मीर के राजकुमार गुणवर्मन ने राजा बनने के बजाय भिक्षुक बनना पसन्द किया और जावा के साथ-साथ इण्डोनेशिया के अनेक द्वीपों में बौद्ध धर्म के साथ-साथ नाथ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का भी प्रसार किया। 9वीं शताब्दी में ने जावा के प्रम्बनन मंदिर के मध्य में शिव मंदिर और इसके दोनों ओर ब्रह्मा और विष्णु के मंदिर। पूजा के समय संस्कृत मंत्रों का पाठ भारतीय संस्कृति के पूर्ण प्रभाव को दर्शाते हैं। इण्डोनेज़िया का बाली द्वीप एकमात्र ऐसा द्वीप है जो पूर्णरूप से हिन्दू संस्कृति का अनुसरण करता है।[14]

इण्डोचायना के प्रदेश अनाम के दक्षिणी भाग में स्थित चम्पा (वियतनाम) में शैव सम्प्रदाय के साथ नाथ सम्प्रदाय के सिद्धान्त पहुँचे जिससे न केवल पूरा अनाम बल्कि चम्पा के पश्चिम में स्थित कम्बुज (कम्बोडिया) राज्य भी प्रभावित हुआ। कम्बुज के राजा ईशान वर्मा ने ऐसे मठों या आश्रमों का निर्माण किया जिसमें बहुत से सन्यासी निवास करते थे जो धर्म प्रचार विद्याध्ययन और शिक्षा कार्य में संलग्न रहते थे। ईशान वर्मा के ही समय में शिव और विष्णु की सम्मिलित मूर्तियाँ बनायी गयीं जो नाथ पंथ के आदिगुरु दत्तात्रेय से प्रेरित लगती हैं। यहीं के राजा यशोवर्मा ने अपनी नई राजधानी यशोधरपुर के ठीक बीच में शिव का एक विशाल मंदिर बनवाया जिसके तीन खण्ड हैं प्रत्येक खण्ड पर एक-एक ऊँची मीनार है। ऊँची मीनार के चारों ओर छोटी-छोटी मीनारें हैं जिनके चारो ओर एक-एक नर मूर्ति बनी हुयी है। ये समाधिस्थ शिव की मूर्तियाँ हैं जो नाथ पंथ के समाधिस्थ योगियों की याद दिलाती हैं और कहीं न कहीं नाथ पंथ का पूर्ण प्रभाव दर्शाती हैं।

स्याम (थाइलैण्ड) प्रारम्भ में कम्बोडिया के भारतीय औपनिवेशिक राज्य के अधीन था जिसकी स्थापना एक भारतीय शैव ब्राह्मण ने की थी बाद में यहाँ का हिन्दू राज्य स्वतंत्र हो गया। 12वीं और 13वीं सदी में थाई जाति ने उत्तर दिशा से स्याम में प्रवेश किया लेकिन कालान्तर में उन्होंने स्याम में प्रचलित भारतीय सभ्यता और धर्म को स्वीकार कर लिया। बर्मा से भी इस देश का लगातार संघर्ष हुआ। वर्मा में मत्स्येन्द्रनाथ की पूजा की जाती है। वहाँ से और स्याम में प्रानी व काल, प्रचलित शैव सम्प्रदाय के साथ नाथ सम्प्रदाय के सिद्धान्त वहाँ फैले। यहीं मैं यह भी उल्लेख करना चाहूँगी कि स्वयं गोरक्ष पीठाधीश्वर उत्तर प्रदेश के वर्तमान मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ जी महाराज थाइलैण्ड की राजधाानी बैंकाक जाकर नाथ पंथ के सिद्धान्तों से वहाँ की जनता को अवगत करा चुके हैं और इसका काफी प्रभाव वहाँ की जनता पर दिखायी दे रहा है जिसके तहत वहाँ के लोग नाथ योगियों की योग परम्परा को अपना रहे हैं और नाथ सम्प्रदाय का वहाँ नये सिरे से प्रसार होता दिखायी दे रहा है।

मलाया में मिले विशाल हिन्दू मंदिर के खंडहर और बौद्ध बिहार के अवशेष से मिले अनेक

संस्कृत शिलालेख, अन्य प्रकार की इमारतों के अवशेषों से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ भी भारतीय सभ्यता और संस्कृति भली-भाँति स्थापित थी। यहाँ से नाथ पंथ के सिद्धान्त श्रीलंका पहुँचे।

बर्मा भी भारतीय उपनिवेश था। यहाँ का पहला राजा वाराणसी से आया था और यहाँ की जनता शैव धर्म मानती थी कालान्तर में यहाँ के निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी हो गये। ग्यारहवीं से 13वीं शताब्दी के बीच बर्मा बौद्ध-संस्कृति का महान केन्द्र बना और इसके राजदरबार पर भारतीय परम्परा का गहरा प्रभाव रहा। हाल के दिनों तक यहाँ राज-ज्योतिषी, भविष्यवक्ता तथा आचार्य ब्राह्मण हुआ करते थे जो भारत के मणिपुर के थे और बर्मा में अत्यन्त सक्रिय थे। इनकी प्रसिद्धि विज्ञान, चिकित्सा तथा ज्योतिष में उनके अच्छे ज्ञान के कारण थी।

चोल वंश के शासकों ने सिंहल (श्रीलंका) द्वीप की विजय की और वहाँ भारतीय संस्कृति का विस्तार किया। चोल शासक सहिष्णु थे और उनके राज्य में शैव मत के साथ अन्य मतों के अनुयायी भी निवास करते थे जिनमें नाथपंथी भी थे[15] यहाँ से नाथ पंथ के सिद्धान्त श्रीलंका पहुँचे।

दक्षिण पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति तथा धर्म का जितना प्रभाव हुआ उतना शायद संसार के किसी अन्य राज्य पर नहीं पड़ा। सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा भारतीय लिपि में संस्कृत शिलालेख सबसे महत्वपूर्ण स्रोत हैं। ये शिलालेख सभी राज्यों में प्राप्त होते हैं। इन शिलालेखों तथा साहित्य के अध्ययन से तथा अन्य साहित्य से यहाँ की भाषा, धर्म, राजनीति, सामाजिक संस्थानों पर भारत का बहुत प्रभाव दिखता है।[16]

सहायक स्रोत -

1. जार्ज कोएड्स : भारतीयकृत दक्षिण पूर्वी एशिया का प्राचीन इतिहास।
2. एस.आर. राव : शिपिंग इन एंशिएंट इंडिया : इंडियाज कन्ट्रीब्यूशन टु वर्ल्ड थाट एण्ड कल्चर
3. मोनिका स्मिथ : (1999) ''इण्डियानाइजेशन'' फ्राम द इण्डियन प्वाइंट आफ व्यू : ट्रेड एण्ड कल्चरल कान्टैक्ट्स विथ साउथइस्ट एशिया इन द अर्ली फर्स्ट मिलेनियम सी.इ. जरनल आफ द इकोनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री आफ द ओरिएण्ट।
4. चन्द्रदत्त पालीवाल : द्वीपान्तर : इंडोनेशिया का इतिहास : द्वीपान्तर में भारतीय संस्कृति, विदेशी शासन और नवयुग।
5. चीनी यात्री फाह्यिान का यात्रा विवरण, (अनुवाद जगमोहन वर्मा) नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली (मूल प्रथम सं., नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा 1918 में प्रकाशित) 1996.
6. नीलकण्ठ शास्त्री : दि चोलाज, भाग-1, आक्सफोर्ड, मद्रास, 1955.
7. ह्वेनत्सांग : सी.यू. की
8. डॉ. कल्याणी मल्लिक : 'नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना प्रणाली' कलकत्ता वि.वि. 1950.
9. परशुराम चतुर्वेदी : 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा'।
10. डॉ. विष्णुदत्त राकेश : उत्तर भारत के निर्गुण पन्थ साहित्य का इतिहास।

11. पं. बलदेव उपाध्याय : बौद्ध दर्शन।
12. हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'नाथ-सम्प्रदाय' हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद।
13. के.सी. श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति।
14. सत्यकेतु विद्यालंकार : एशिया (दक्षिण-पूर्वी) का आधुनिक इतिहास।
15. सत्यकेतु विद्यालंकार : दक्षिण-पूर्वी और दक्षिण एशिया में भारतीय संस्कृति।

नेपाल में नाथपंथ

पद्मजा सिंह*

शोध सारांशः भारत–नेपाल के इतिहास पर यदि विहंगम दृष्टिपात किया जाय तो परिलक्षित होता है कि दोनों देश एक दूसरे से न केवल भौगोलिक रूप से अपितु सांस्कृतिक रूप से भी अत्यन्त प्राचीन काल से घनिष्ट रूप से जुड़े हुए हैं। नाथपंथ के विशेष आलोक में यदि देखें तो दोनों देशों के धार्मिक मान्यताओं की सीमाएँ लुप्तप्राय प्रतीत होने लगती हैं। नाथपंथ की महत्ता एवं प्रमाण दोनों ही देशों में समान रूप से व्याप्त हैं। भारत और नेपाल में स्थित नाथपंथ के धार्मिक केन्द्र दोनों देशों के जनमानस एवं मठावलम्बियों को परस्पर आकर्षित करते रहे हैं। धार्मिक मान्यताएँ, साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य इस बात को प्रमाणित करते रहे हैं कि दोनों ही देश अत्यन्त प्राचीन काल से हिन्दुत्त्व एवं नाथपंथ आधारित आस्था, परम्परा, रीतिरिवाज एवं मत तथा मान्यताओं में परस्पर अनुस्यूत हैं। प्रस्तुत शोध आलेख में नाथपंथ के विशेष परिप्रेक्ष्य में भारत एवं नेपाल सम्बन्धों के साथ नेपाल में स्थित नाथपंथ से सम्बन्धित धार्मिक स्थलों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

बीजशब्दः पशुपतिनाथ, नाथपंथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, भर्तृहरि, योग परम्परा, मत्स्येन्द्र–उत्सव–यात्रा, मेघमाला, अवलेकितेश्वर, सिद्धासन, नवनाग, शिवगोरक्ष, अन्नगबज्र, रमतबज्र, नाथसिद्ध, धार्मिक केन्द्र

विराजित्सिद्धौधप्रणतचरणं चण्डभुजगो,
परिष्टादासीनं भसितनिचयोद्भासितरूचिम्।
स्फुरज्ज्योत्सनाचञ्चव्स्फटिक गिरिशोभाकररुचि,
विराजन्तं पीनायतविपुलभव्याकृतिरूचा।।

–कविवर चक्रपाणि (नेपाल)

हे गोरखनाथ! आप मेधमाला रूप प्रचण्ड भुजगो के ऊपर सिद्धासन से विराजमान है; योगशक्ति में देदीव्यमान सिद्धों का समूह आपके चरणदेश में प्रणत है; आपके चन्द्रकलोपम मात्र में अखण्ड विभूति शोभित है, मानों शरद पूर्णिमा की रात में स्फटिक पर्वत कैलाश ही विभाजित है,

*असिस्टेण्ट प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दी.द.उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

आपका मुखमण्डल तेजोमण्डल से शोभित है। मैं आपके स्वरूप का ध्यान करता हूँ।

भारत की उत्तरी सीमा पर हिमालय की उपत्यका में स्थित नेपाल श्रीनाथ (नाथपंथ) तीर्थ केन्द्रों के सन्दर्भ में विशेष महत्त्व रखता है। प्रकृति की गोद में स्थित नेपाल का प्राकृतिक सौन्दर्य, उसका शान्त एवं निर्जन स्वरूप किसी भी संन्यासी को मोह सकता था। नेपाल की शस्य श्यामला प्रकृति का खुला आँगन निरन्तर भ्रमण करते रहने वाले योगी मत्स्येन्द्रनाथ एवं महायोगी गोरखनाथ को अनवरत आकर्षित करता रहा है। नाथपंथ के इन योगियों के बहुत पूर्व से या यों कहें कि मानव सभ्यता के उद्भव एवं विकास के समय से ही भारत-नेपाल के सम्बन्ध अभिन्न रहे हैं। प्राचीन काल से भारत-नेपाल का सम्बन्ध अटूट है। हजारों वर्षों से दोनों देशों की सांस्कृतिक परम्परा के सूत्र एक रहे हैं। दोनों देशों के लोगों ने कभी अनुभव नहीं किया कि वे दो हैं।[1] भारत-नेपाल केवल एक पड़ोसी देश ही नहीं बल्कि दोनों एक परिवार जैसे सगे भाई हैं। दोनों ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक दृढ़ सम्बन्धों से जुड़े हैं।[2] हिमालय की दक्षिणी ढलान पर बसा नेपाल देश लगभग 147181 वर्ग किलोमीटर में फैला तथा लगभग तीन करोड़ की जनसंख्या वाला देश है। प्रशासनिक दृष्टि से 75 जिलों तथा 75 अंचलों में बँटा 2006 ई. तक यह विश्व का एकमात्र हिन्दू राष्ट्र था।[3]

भारत-नेपाल की अभिन्नता वैदिक युग से ही दिखाई देती है। पौराणिक रूप से मान्यता है कि निमि नाम के एक मनीषी ने इस क्षेत्र की स्थापना की थी, कालान्तर में इसे 'निमिना पालित राष्ट्र नेपालम्' कहा गया है। रामायण काल में यहीं जनकपुरी के राजा श्रीरध्वज (जनक) ने अपनी पुत्री सीता का विवाह अयोध्या के राजकुमार श्रीराम से किया था। अर्थात् अयोध्या एवं जनकपुर का सम्बन्ध एक प्रकार से भारत-नेपाल सम्बन्ध ही था। महाभारत काल में नेपाल के लोगों ने पाण्डवों की ओर से युद्ध में भाग लिया था। नेपाल में ही स्थित लुम्बिनी में महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था। पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में यह उल्लेख मिलता है कि वर्तमान नेपाल की राजधानी काठमाण्डू की सुरम्य घाटी में गोपाल, कीरत, लिच्छवि इत्यादि राज्य बसे हुए थे। चाणक्य ने भी नेपाल का जिक्र किया है। मौर्य वंश के सम्राट अशोक की पुत्री का विवाह नेपाल के पर्वतीय क्षेत्र के एक राजपरिवार में हुआ था।[4] ईस्वी संवत् की आरम्भिक शताब्दियों में लिच्छवियों एवं मल्लों की उपस्थिति नेपाल की वंशावली एवं अभिलेखों में प्राप्त होती है। आठवीं शताब्दी के पशुपतिनाथ मन्दिर अभिलेख में यह उल्लेख मिलता है कि सुपुष्प ने नेपाल के लिच्छवि शाखा के राज्य की स्थापना की।[5] वंशावलियों के अनुसार इस शाखा में महादेव बीसवाँ राजा था। अत: वहाँ लिच्छवि राज्य की स्थापना प्रथम या द्वितीय शती में हुई होगी।[6] नेपाल में एक राजनीतिक शक्ति के रूप में लिच्छवियों की जानकारी चन्द्रगुप्त प्रथम एवं लिच्छवि राजकुमारी के विवाह से होती है।[7] इस प्रकार गुप्त युग में भी नेपाल एवं भारत के साथ वैवाहिक सम्बन्ध दिखायी देता है। रमेशचन्द्र मजूमदार का मानना है कि

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद नेपाल में लिच्छवियों को एक महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरने का अवसर मिला और उस समय यह नेपाल के शक्तिशाली राजवंश के रूप में प्रतिष्ठित हुए।[8] हर्षचरित से ज्ञात होता है कि हर्ष ने किसी तुषारध्वज (लुखारध्वज) नामक पर्वतीय प्रदेश से कर ग्रहण किया था। ऐसा माना जाता है कि नेपाल के राजा ने हर्ष से मित्रता स्थापित की थी और उपहारस्वरूप बहुत साधन लिया था।[9] प्रसिद्ध इतिहासकार के.एम. पणिक्कर मानते हैं कि हर्ष के साम्राज्य में नेपाल भी सम्मिलित था जबकि राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार नेपाल उसके प्रभावक्षेत्र में था।[10] चीनी सूत्रों से ज्ञात होता है कि हर्षवर्धन का समकालीन चीनी तांग शासक ताई सुंग ने 643 से 647 ई. के आसपास हर्ष की मृत्यु के पश्चात् दो दूतमण्डल हर्ष के दरबार में भेजे थे। इनसे सूचना मिलती है कि हर्ष की सेना ने नेपाल के शासक की मदद की थी।[11] नवीं शताब्दी ईस्वी तक आते-आते प्राकृतिक अड़चनों तथा अनेक राजनीतिक, सामाजिक कठिनाइयों के कारण नेपाल छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। 878 ई. में नेपाल का तिब्बत से टकराव के बाद नेपाल एक स्वतंत्र देश के रूप में उभरा।[12] भारत तथा चीन के बीच व्यापार का प्रमुख मार्ग होने के कारण नेपाल धीरे-धीरे आर्थिक रूप से सम्पन्न हुआ और ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी में गुणाकामदेव नामक शासक ने काठमाण्डू, पाटन, शंकु नगरों का निर्माण किया।[13] 1559 ई. में एक राजपूत ध्रुवसेन ने शाहवंश की स्थापना की। उसने गोरखों के पर्वतीय प्रदेश काठमाण्डू के पश्चिमी क्षेत्र पर अधिकार कर लिया तथा उसके उत्तराधिकारियों ने नेपाल के मध्य क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। इस समय नेपाल चौबीस छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था और नेपाल में मान्यता है कि इसी समय महायोगी गोरखनाथ के आशीर्वाद से पृथ्वीनारायण शाह ने नेपाल को एकीकृत कर एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण किया।

नेपाल में महायोगी गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथपंथ के प्रभाव से पूर्व मत्स्येन्द्रनाथ के समय से ही नेपाल में मत्स्येन्द्रनाथ एवं उनके योग परम्परा का प्रभाव दिखायी देता है। नेपाल के सामाजिक जीवन में मत्स्येन्द्रनाथ को महत्त्व एवं समादर प्राप्त है। मत्स्येन्द्र-यात्रा-उत्सव नेपाली जनजीवन की परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण पर्व है। योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ ने नेपाल की जनता को सर्वप्रथम योगामृत प्रदान किया था। नेपाल के सामाजिक परम्परा में प्रचलित उक्ति है कि मत्स्येन्द्रनाथ के समकालीन, नेपाल के राजा ने मत्स्येन्द्रनाथ के अनुयायियों पर अत्याचार किया था। इससे अप्रसन्न होकर उनके शिष्य श्री गोरखनाथ काठमाण्डू के मृगस्थली में नवनागों को समेटकर बैठ गये और वहाँ वर्षा बन्द हो गयी। बारह वर्षों तक ध्यानस्थ गोरखनाथ के कारण वहाँ अकाल उत्पन्न हो गया। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की अनुकम्पा से ही मेघमालाएँ मुक्त हुई और वर्षा प्रारम्भ हुई जिससे नेपाल अकालमुक्त हुआ। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के इसी अनुकम्पा के उपलक्ष्य में वहाँ की जनता मत्स्येन्द्र-यात्रा-उत्सव मनाती है। मत्स्येन्द्रनाथ के सन्दर्भ में यह प्रचलित जनश्रुति नेपाल के सामाजिक जीवन में अन्य कई प्रकार से प्राप्त होती है।[14] नेपाली बौद्ध साहित्य में भी इसी प्रकार का मिलता-जुलता उल्लेख प्राप्त होता है। इस नेपाली बौद्ध कथा में मत्स्येन्द्रनाथ को अवलोकितेश्वर कहा गया है। यहाँ यह उल्लेख मिलता

है कि मत्स्येन्द्र एक कपोतक पर्वत पर रहते थे। गोरखनाथ उनके दर्शन के लिए गये। दर्शन न हो पाने के कारण नवनागों अर्थात् मेघमालाओं को बाँधकर वे ध्यान मुद्रा में बैठ गये जिससे नेपाल में बारह वर्षों तक वर्षा नहीं हुई। तत्कालीन नेपाल नरेश नरेन्द्रदेव के गुरु बुद्धदत्त इस अकाल का कारण समझ गये और उन्होंने दो महायोगियों मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ को परस्पर मिलाने की योजना बनायी। वे अवलोकितेश्वर (मत्स्येन्द्रनाथ) को गोरखनाथ के पास ले आने का संकल्प कर उस कपोतक पर्वत पर गये जहाँ मत्स्येन्द्रनाथ रह रहे थे। बुद्धदत्त ने वहाँ पहुँचकर अवलोकितेश्वर अर्थात् मत्स्येन्द्रनाथ की सेवा की और उनकी सेवा से प्रसन्न होकर मत्स्येन्द्रनाथ महायोगी गोरखनाथ के पास आये, मेघमालाएँ मुक्त हुईं तथा नेपाल में प्रचुर वर्षा होने के कारण नेपाल अकालमुक्त हुआ। मत्स्येन्द्रनाथ की इसी कृपा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने हेतु नेपाल में प्रतिवर्ष मत्स्येन्द्रनाथ की स्मृति में यात्रा उत्सव आयोजित किया जाता है। इसी सन्दर्भ में एक आख्यान और मिलता है। कहा गया है कि गोरखनाथ जी ने एक पर्वत पर वर्षा के देवता करकोटक नाग को दबाया और नेपाल में वर्षा न होने के कारण अकाल पड़ गया। नेपाल के राजा के राजगुरु बुद्धदत्त योगीराज मत्स्येन्द्रनाथ को अपने साथ लेकर आये और महायोगी गोरखनाथ के समक्ष उपस्थित हुए। अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के सम्मान में गोरखनाथ उठ खड़े हुए और मेघमालाएँ मुक्त हो गयीं, नेपाल में वर्षा हुई तथा नेपाल अकालमुक्त हुआ। गोरखनाथ के मेघमालासनीकृत रूप के उपासना में उनके शिवगोरक्ष स्वरूप की रमणीय झाँकी मिलती है।[15] उपर्युक्त विविध प्रकार की जनश्रुतियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि नेपाली समाज में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ की महिमा स्वीकार्य है।

नाथपंथ के वास्तविक प्रवर्तक महायोगी गोरखनाथ नेपाल में पूजित हैं। नेपाल में उनकी पूजा शिव-गोरक्ष के रूप में होती है। उन्होंने अपनी साधना और तपस्या से नेपाल के जनजीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। नेपाल की आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परम्परा और लोकजीवन के विविध आयामों पर गोरखनाथ के व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है। नेपाल के लोकमानस में गोरखनाथ को अनेकशः बौद्ध अनंगवज्र अथवा रमणवज्र भी कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नेपाली समाज पर बौद्ध योग साधना का भी प्रभाव था। सामान्यतः नेपाली समाज में भी वे शिव के ही अवतार स्वीकार किये जाते हैं। गोरखनाथ से सम्बन्धित उल्लेखों में यह मिलता है कि नेपाल के एक प्रखण्ड दांग के राजकुमार रतनपरीक्षक को गोरखनाथ ने नाथयोग में दीक्षित किया था। नाथसम्प्रदाय में रतनपरीक्षक सिद्ध हाजी के रूप में प्रसिद्ध हैं।[16] इस सन्दर्भ में यह उल्लेख मिलता है कि एक दिन राजकुमार रतनपरीक्षक वन में शिकार खेलने गये थे। वहीं इस युवा राजकुमार की भेंट जटाविभूषित महायोगी गोरखनाथ से हुई। गोरखनाथ ने उन्हें उपदेश करते हुए कहा कि प्रत्येक प्राणी परमात्मा की सृष्टि है, उसके प्राण पर एकमात्र परमात्मा का नियंत्रण है। अतः जीव हत्या पाप है और अहिंसा ही परम धर्म है। अतः हे राजा यदि शिकार ही खेलना है तो मनरूपी मृग का वध करो जो अत्यन्त चंचल है, न उसके वक्षस्थल है, न उसके रक्तमांस हैं न चोंच है, न पाँव

हैं। मुक्ति के लिए तो मन को ही मारना पड़ेगा। इस सन्दर्भ में आगे उल्लेख मिलता है कि युवा राजकुमार रतनपरीक्षक गोरखनाथ जी से अत्यन्त प्रभावित हुए और गोरखनाथ जी से दीक्षा प्राप्त की। दीक्षित करते समय गोरखनाथ जी ने उन्हें अमृत पात्र प्रदान किया।[17] दांग में आज भी महायोगी गोरखनाथ द्वारा दिया गया अमृत पात्र विशाल मन्दिर में उपस्थित है।

महायोगी गोरखनाथ और नेपाल के सम्बन्धों की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जनश्रुति नेपाल के शाह राजवंश पर महायोगी गोरखनाथ का आशीर्वाद एवं कृपा का है। नेपाल में यह जनश्रुति प्रचलित है कि नेपाल के प्रसिद्ध राजा यशोवर्मा के तीन पुत्र-नरहरिशाह, नरपतिशाह और द्रव्यशाह थे। द्रव्यशाह अपनी माता की आज्ञा से गोसेवा में नियुक्त थे। उनकी गोसेवा से प्रसन्न होकर तरुण योगी के वेश में गोरखनाथ ने प्रत्यक्ष दर्शन दिया और उन्हें आशीर्वाद दिया कि आपके वंश के नरेश सम्पूर्ण नेपाल के शासक होने का गौरव प्राप्त करते रहेंगे। तत्पश्चात् इस वंश के उत्तराधिकारियों ने गोसेवा को अपना प्रमुख धर्म बना लिया। कालान्तर में इसी वंश के पालक पृथ्वीनारायण शाह 6 वर्ष की अवस्था में अपने साथियों के साथ वन में खेल रहे थे।[18] खेलते हुए वे साथियों से छिपकर एक गुफा में प्रवेश कर गये। गुफा के भीतर उस बालक ने देखा कि व्याघ्र चर्म पर आसीन गले में सर्प धारण किये, जटाजूट सुशोभित रुद्राक्ष माला से समलंकृत कर्णकुण्डल पहने हुए महायोगी गोरखनाथ विराजमान हैं। गोरखनाथ जी अपनी दिव्य दृष्टि से समझ गये कि यह बालक उनकी कृपा प्राप्त शाह-राजवंश का बालक है। उन्होंने पृथ्वीनारायण शाह से कहा कि घर जाकर अपनी माँ से दही माँग कर लाओ। पृथ्वीनारायण शाह उस अद्‌भुत योगी को देखकर चमत्कृत थे। वे तत्काल घर गये और अपनी माता से दही लेकर गुफा में पहुँचे। गोरखनाथ जी ने उस दही को पीकर पृथ्वीनारायण शाह से कहा कि तुम अंजलि बाँधो, पृथ्वीनारायण की अंजलि में गोरखनाथ ने पी हुई दही उलट दिया और उस बालक को उसे पीने का आदेश दिया। गोरखनाथ जी के मुँह से निकली हुई दही पीने का साहस पृथ्वीनारायण शाह न कर सके और उनकी अंजलि खुल गई तथा दही उनके पैरों पर गिर गयी। महायोगी गोरखनाथ ने उन्हें बताया कि यदि यह दही तुम प्रसाद के रूप में खा लेते तो तुम्हारा वंश समस्त भूमण्डल का चक्रवर्ती राजा होता किन्तु दही रूपी प्रसाद की बूँदें तुम्हारे पैरों पर गिरी हैं, इसलिए तुम जिस भूखण्ड को जीतने के लिए यात्रा करोगे उस क्षेत्र पर तुम्हारा अनायास अधिकार होगा। पृथ्वीनारायण शाह आगे चलकर अपने वंश के राजा घोषित हुए। उनके राजा बनने के पश्चात् गोरखनाथ ने उन्हें पुनः दर्शन दिया और उन्हें एक तलवार भेंट की। वस्तुतः महायोगी गोरखनाथ के आशीर्वाद से सम्पूर्ण नेपाल पर पृथ्वीनारायण शाह के नेतृत्व में शाह राजवंश का आधिपत्य स्थापित हुआ। पृथ्वीनारायण शाह गोरखनाथ द्वारा प्राप्त आशीर्वादकृपाकटाक्ष के बल पर जन-सैन्य-सहयोग से तिष्ठा, गंगा, त्रिगर्त, दिगर्चा पर्यन्त गौवों की रक्षा से प्रसिद्ध गोरक्षराष्ट्र अर्थात् गोरखा राज्य को धर्म से सम्बद्ध कर समग्र हिमवत खण्ड अर्थात् आधुनिक नेपाल को अखण्ड गोरखा राष्ट्र बनाया। फलस्वरूप गोरखा राष्ट्र गोरखा जाति, गोरखा भाषा, गोरखा सभ्यता एवं संस्कृति की प्रतिष्ठा हुई[19]

और तब से लेकर नेपाल में राजवंश की समाप्ति तक (2006 ई. तक) शाह राजवंश का आधिपत्य बना रहा। शाह राजवंश के सभी नरेशों ने गोरखनाथ को अपना इष्टदेव स्वीकार किया और एक प्रकार से नेपाल अधिराज्य के वे इष्टदेव बन गये।

शाह राजवंश के लिए गोरखनाथ जी के प्रति आस्था इस तथ्य से भी समझा जा सकता है कि शाह राजवंश के राजाओं का राजतिलक नेपाल में गोरक्षनाथ जी की तपोभूमि मृगस्थली के महन्त द्वारा सम्पन्न होता है और महायोगी गोरक्षनाथ नेपाल के राष्ट्र गुरु के रूप में पूज्य हैं।[20] नेपाल के शाहवंशी शासकों ने अपने सिक्कों पर गोरखनाथ की चरणपादुकाओं का चिह्न अंकित कराया तथा उन सिक्कों पर 'श्री श्री गोरखनाथ' लेख उत्कीर्ण कराया।[21] उल्लेखनीय है कि किसी भी राष्ट्र की मुद्रा उसकी सम्प्रभुता की सूचक होती है और उस पर उस राष्ट्र का राष्ट्रचिह्न अथवा जनता द्वारा स्वीकृत राजा अथवा देवता का चित्र उत्कीर्ण होने की परम्परा रही है।

नेपाली समाज में नाथपंथ के प्रवर्तक गोरखनाथ का प्रभाव आज भी बना हुआ है। उल्लेखनीय है कि नेपाल की राजशाही व्यवस्था समाप्त होने और लोकतांत्रिक शासन प्रणाली स्थापित होने के बाद भी वर्तमान में नेपाल की मुद्राओं (नोटों) पर गोरखनाथ जी द्वारा नेपाल नरेश पृथ्वीनारायण शाह को दिये गये कटार (तलवार) की अनुकृति तथा 'श्री भवानी' और 'श्री श्री श्री गोरखनाथ' नाम का अंकन प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि गोरखनाथ आज भी नेपाली जनता के बीच राष्ट्र गुरु के रूप में पूज्य हैं। नेपाल की जनता एवं शाहराजवंश परम्परागत रूप से महायोगी गोरक्षनाथ को प्रतिवर्ष भारत में स्थित गोरखपुर के श्रीगोरक्षनाथ मन्दिर में मकर संक्रान्ति पर्व पर खिचड़ी चढ़ाते हैं। उल्लेखनीय है कि नाथपंथ का सर्वोच्च आध्यात्मिक केन्द्र गोरखपुर (उत्तर प्रदेश, भारत) का श्रीगोरखनाथ मन्दिर है। मान्यता है कि त्रेतायुग में महायोगी गोरखनाथ ने यहाँ तपस्या की थी। आज भी वे श्रीगोरखनाथ मन्दिर के महन्त को दर्शन देते हैं। श्री गोरखनाथ मन्दिर के महन्त महायोगी गोरखनाथ के प्रतिनिधि माने जाते हैं। मकर संक्रान्ति पर्व पर इस मन्दिर में नाथपंथ के योगी, भक्त देश-विदेश से महायोगी गोरक्षनाथ को खिचड़ी चढ़ाते हैं। इसी सन्दर्भ में मान्यता है कि मकर संक्रान्ति पर्व पर श्री गोरखनाथ मन्दिर के महन्त के बाद पहली खिचड़ी नेपाल के शाह राज-परिवार का ही चढ़ता है।

नेपाल में नाथपंथ के मठ-मन्दिर

नाथपंथ के प्रवर्तक महायोगी गोरखनाथ, उनके गुरु महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ एवं नाथपंथ के अन्य सिद्धों से सम्बन्धित नाथपंथ के प्रमुख मठ-मन्दिरों का उल्लेख यहाँ महत्त्वपूर्ण है।

काठमाण्डू के पशुपतिनाथ

नेपाल की राजधानी काठमाण्डू का नाम शिवगोरक्षाधिष्ठित काष्ठमण्डप से कान्तिपुरी का

नाम काष्ठमण्डप विख्यात हुआ जो कालान्तर में काठमाण्डू कहा जाने लगा।[22] इस सन्दर्भ में यह उल्लेख मिलता है कि मलयवर्मा ने खेचरनाथ के समान बलिष्ठ एक सालकाष्ठों से त्रिखण्ड कैलास कूटाकृति का भव्य काष्ठमण्डप भगवान् श्री गोरखनाथ के लिए बनाया और यही शिवगोरक्ष के लिए बनाया गया काष्ठमण्डप के नाम पर यह स्थान प्रसिद्ध था। कुछ विद्वानों की धारणा है कि नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में निर्मित पशुपतिनाथ जी का मन्दिर श्री गोरखनाथ का ही मन्दिर है। कहा जाता है कि लगभग 1600 वर्ष पूर्व लक्ष्मी जी ने श्री गोरखनाथ जी की प्रतिष्ठा के लिए इस मन्दिर का निर्माण कराया था। यद्यपि कि वर्तमान में वेद प्रतिपाद्य आद्य ज्योतिर्लिंगमय पंचानन शिव पशुपतिनाथ के रूप में वहाँ प्रतिष्ठित हैं। सम्भव है कि गोरक्षनाथ को शिव का अवतार माने जाने के कारण यह पशुपतिनाथ का मन्दिर गोरखनाथ का मन्दिर कहा जाता रहा होगा। काठमाण्डू में अन्यत्र एक स्थान पर गोरखनाथ का मन्दिर बना हुआ है जहाँ उनकी बालरूप मूर्ति स्थापित है। माना जाता है कि यह मूर्ति सिद्ध लोइपाद ने बनवाया था। बागमती गंगा के किनारे मछेन्द्रनाथ जी का मन्दिर स्थापित है।

पशुपतिनाथ मन्दिर से ऊपर का पहाड़ी भाग सिद्धों की साधना स्थली रही है। सम्भवत: इसी आधार पर इस पहाड़ी को सिद्धाचल कहते हैं, जबकि इसका निचला हिस्सा मृगों का विचरण स्थल होने के कारण मृगस्थली कहा जाता है। सिद्धाचल के ऊपरी भाग में महायोगी गोरखनाथ का मन्दिर है। इस विशाल मन्दिर परिसर में दर्जनों नाथपंथ के सिद्ध योगियों के मन्दिर स्थापित हैं। इसी तपस्थली पर गोरखनाथ जी मेघमालाओं को अपने योगबल से बाँधकर साधना में लीन हुए थे। गोरखनाथ के इस साधना स्थली एवं मन्दिर का महत्त्व इस बात से समझा जा सकता है कि यह बागमती के तट पर स्थित भगवान् पशुपतिनाथ के मन्दिर तथा गुह्येश्वरी देवी मन्दिर के मध्य में ऊपर पहाड़ी पर स्थित है। पशुपतिनाथ मन्दिर से गुह्येश्वरी देवी मन्दिर जाने के लिए महायोगी गोरखनाथ मन्दिर के परिसर से होकर ही जाना पड़ता है। गोरखनाथ का यह मन्दिर परिसर अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है तथापि इसकी अतीतकालीन भव्यता का अनुमान नेपाल में महायोगी गोरखनाथ की प्रतिष्ठा का सूचक है।

इस तपस्थली के सम्बन्ध में नाथपंथी योगियों का कथन है कि यहाँ विचरण करने वाले मृगों के झुण्डों में कभी-कभी एक सफेद मृग भी कुछ क्षण के लिए दिखता है और फिर अन्तर्धान हो जाता है। नाथपंथ के योगी इस सफेद मृग को महायोगी गोरखनाथ जी का स्वरूप मानते हैं। काठमाण्डू में थापा पाथैली स्थान पर नाथयोगियों का एक बहुत बड़ा केन्द्र है। काठमाण्डू का काल भैरव मन्दिर और सरवरी कोट का रतननाथ मन्दिर नाथपंथी योगियों का तीर्थ है। मृगस्थली के निकट गणेश स्थान भी नाथपंथ का एक महत्त्वपूर्ण मठ है जहाँ पर योगी साधनारत रहते हैं।

कान्तिपुर का तुलजा मन्दिर

कान्तिपुर तुलजा मन्दिर में श्री मत्स्येन्द्रनाथ की मंजूषा शोभायमान है। यहीं लोपीनाथ हुए हैं। उन्होंने तड़ाग पर रहकर तपस्या की और यहाँ एक मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर में कैलास पर्वत से एक अद्भुत स्तम्भ के चार टुकड़े लगाये गये हैं। यह मन्दिर तीनखण्डी है। यहीं से 6 किलोमीटर दूर फरफिंग नाम की एक कन्दरा है जहाँ पर श्री गोरखनाथ के पदचिह्न विराजमान हैं। उसके जलपूर्ण कुण्ड सुशोभित है जिस कुण्ड में कामधेनु के स्तन के आकार की निर्मल जलधारा गिरती रहती है। कान्तिपुर में ही नीलवती, शीलवती और पूर्णवती के संगम पर कैलास नाम का सुन्दर चोटी वाला पर्वत है। उसके ऊपर श्री मत्स्येन्द्रनाथ, श्री गोरक्षनाथ और श्री दण्डपाणि के तीन चरण कमल विराजमान हैं। यहाँ द्वादश वार्षिक गोरक्षकुम्भ मेला भी लगता है। श्री गोरक्ष और किरण टीला के दक्षिण में स्थित सुखदायक गुफा में गोरखनाथ जी ने तपस्या की थी। यहीं पर नाथपंथ के सिद्ध कायनाथ की समाधि है। नाथपंथ की मान्यता है कि श्री भर्तृहरिनाथ ने एक मृत शिशु को अपने योगबल से जीवित कर उसे कायनाथ नाम दिया और उसे योग की दीक्षा दी थी।[23] यहाँ से लगभग 90 किलोमीटर दूर सिन्धु पंचनदी के संगम पर श्री सिद्ध किरण नामक नगर स्थित है जहाँ भर्तृहरिनाथ ने बारह वर्षों तक सिद्ध समुदाय के साथ विचार-विमर्श करते हुए निवास किया था। श्री गोरखनाथ ने इस पर्वत पर चौरासी सिद्धों के लिए चौकियाँ बनायी। इस क्षेत्र में स्थित सिद्ध गौ नामक स्थान पर गोरखनाथ ने बारह वर्षों तक गौसेवा की थी। इसी के निकट स्थित जखवा नामक ग्राम में श्री नाथ जी की पादुकाएँ स्थापित हैं। श्री भ्रमरनाथ जी यहाँ के प्रसिद्ध तपस्वी हुए हैं। इस प्रकार कान्तिपुर के आसपास का क्षेत्र महायोगी गोरखनाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ सहित नाथपंथ के सिद्धों का प्रतिष्ठित केन्द्र दिखायी देता है।

दांग

दांग में सिद्ध रतननाथ जी का प्रसिद्ध मठ है। यहाँ पर श्री गोरखनाथ एवं भैरवनाथ की भी विशेष पूजा होती है। श्री रतननाथ एक राजकुमार थे जो महायोगी गोरखनाथ से प्रभावित होकर उनसे नाथपंथ की दीक्षा ली और नाथसम्प्रदाय के एक यशस्वी और परम तपस्वी शिष्य हुए। उन्होंने नाथपंथ का प्रचार नेपाल, भारत, अफगानिस्तान, खुरासान, मुल्तान इत्यादि क्षेत्रों में भी किया। बड़ी संख्या में मुसलमान इनके शिष्य हुए। मान्यता है कि इन्होंने मक्का और मदीना की भी यात्रा की थी। दांग में स्थित इनका मन्दिर पश्चिमी नेपाल के योगियों का एक बहुत बड़ा केन्द्र है। पीर रतननाथ की सवारी पात्र देवता पूजन के लिए प्रतिवर्ष चैत्र नवरात्र में भारत में स्थित बलरामपुर जिले के तुलसीपुर के देवीपाटन मन्दिर में आती है।

मुक्तिनाथ

पश्चिमी नेपाल और तिब्बत-चीन की सीमा पर प्रायः लगभग 13000 फीट की ऊँचाई पर मुक्तिनाथ का प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। मुक्तिनाथ धौलागिरि पर्वत के आंचल पर स्थित है। यह स्थान बर्फ से आच्छादित रहता है केवल चार महीने के लिए यहाँ की यात्रा खुली रहती है। मुक्तिनाथ में चतुर्भुज मूर्ति है। यद्यपि यह मूर्ति नारायण के नाम से प्रसिद्ध है जबकि योगी उन्हें गोरखनाथ जी के नामरूप में पूजते हैं। तिब्बती लोग भी इस पीठ की पूजा करते हैं। यहाँ से आगे दामोदर कुण्ड है जहाँ की यात्रा नाथयोगी किया करते हैं।

नाथपंथ के अन्य मठ-मन्दिर

पीउठाना में नाथपंथ के सिद्ध संसारनाथ का प्रसिद्ध मठ है। इस मठ में गोरखनाथ के चरणपादुका का पूजन होता है। अष्टपुष्कर नामक स्थान पर गोरखनाथ का एक बहुत सुन्दर मन्दिर है। बागेश्वरी मन्दिर भी विशेष रूप से नाथपंथ के योगियों के लिए श्रद्धा का केन्द्र है। डोटी जिले में स्थित बैजनाथ महादेव मन्दिर की नाथसम्प्रदाय में अत्यन्त प्रतिष्ठा है।

दैलेख में ज्वालामाई का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। यहाँ पर स्थित तीन पीठ सिरः स्थान, नाभि स्थान और पादुका स्थान के नाम से प्रसिद्ध है। इन तीनों स्थानों पर भूगर्भ से ज्वाला निकलती है। यह स्थान धर्मनाथी योगियों के हाथ में है।[24] निकट ही सिद्ध धर्मनाथ का अन्नकूप है जहाँ प्रतिवर्ष अन्न चढ़ाते रहते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि नाथ सिद्धों विशेष रूप से मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ और सिद्ध रतननाथ की नेपाल में अत्यन्त प्रतिष्ठा है। इनकी तपस्थलियाँ नेपाल के तीर्थ हैं। नाथपंथ के ये योगी देवता के रूप में पूजे जाते हैं और नेपाल के सामाजिक-आध्यात्मिक जीवन पर इनका व्यापक प्रभाव है जिसकी प्रतिध्वनि नेपाल के राजनीतिक जीवन में भी सुनायी पड़ती है। स्पष्ट है कि नाथपंथ के योगियों ने नेपाल के हर गुफा-कन्दराओं, गाँवों और गलियों में भ्रमण करते हुए अपने द्वारा प्रतिपादित योग को नेपाल के समाज के उत्थान में समर्पित किया। नेपाल के धार्मिक-आध्यात्मिक जीवन में नाथपंथ के योगदर्शन और योग परम्परा का प्रभाव सर्वाधिक रहा है।

सन्दर्भः

1. प्रो. सतीश चन्द्र मित्तल, भारत-नेपाल सम्बन्ध : एक सिंहावलोकनः शोध संचयन, भारत-नेपाल सम्बन्ध विशेषांक, वॉल्यूम-6, इश्यू-2, 2015
2. हृदयनारायण दीक्षित, 'नेपाल में आग भारत में आँच', दैनिक जागरण, 18 फरवरी, 2005
3. देवदत्त, 'नेपाल : स्व का अस्तित्व, एकमात्र हिन्दू राष्ट्र, राष्ट्रधर्म, मई 2005, पृ. 25; प्रो. सतीश चन्द्र मित्तल, भारत-नेपाल सम्बन्ध : एक सिंहावलोकनः शोध संचयन, भारत-नेपाल सम्बन्ध विशेषांक, वॉल्यूम-6, इश्यू-2, 2015

4. वी.ए. स्मिथ, अशोक : द बुद्धिस्ट एम्परर ऑफ इण्डिया, प्रथम संस्करण, 1901, पृ. 70-71
5. आर. नोलीज, नेपालीज, इंस्क्रिप्शन्स इन गुप्ता करेक्टरर्स, रोम इन्स्टीट्यूट इटालियो पेरिमीडियो एडिशन ओरियण्ट, 1956, अभिलेख संख्या 81, तेइस अभिलेख, पृ. सं. 15
6. रमेश चन्द्रमजूमदार, क्लासिकल एज, बाम्बे, तृतीय संस्करण, पृ. 82
7. उदयनारायण राय, 'गुप्त राजवंश तथा उसका युग, इलाहाबाद, 1986, पृ. 78-79
8. रमेश चन्द्र मजूमदार, क्लासिकल एज, बाम्बे, तृतीय संस्करण, पृ. 83
9. राधाकृष्ण चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास', पटना, 1880, पृ. 307
10. राधाकृष्ण चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास', पटना, 1880, पृ. 308
11. रोमिला थॉपर, 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया', भाग-एक, पेंगुइन 1966, पृ. 144
12. रोमिला थॉपर, 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया', भाग-एक, पेंगुइन 1966, पृ. 226
13. रोमिला थॉपर, 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया', भाग-एक, पेंगुइन 1966, पृ. 226
14. योगवाणी का नाथसिद्ध चरित्र विशेषांक, वर्ष-9, जनवरी 1984, अंक-1, पृ. 30
15. योगवाणी का नाथसिद्ध चरित्र विशेषांक, वर्ष-9, जनवरी 1984, अंक-1, पृ. 63

चन्द्रार्कद्वहिणाच्युताम्बुजलसल्लोकेससकंशारिभिः
काली भैरव सिन्धुरास्य हनुमत्क्रोडैः परीवारितम्।
वन्दे तं नवनाथसिद्धमहितः मेघाहिमालासनं
मालापुस्तकशूलः डिण्डिभधरं गोरक्षमृत्युंजयम्।।

16. योगवाणी का नाथसिद्ध चरित्र विशेषांक, वर्ष-9, जनवरी 1984, अंक-1, पृ. 30
17. उपर्युक्त, पृ. 64
18. योगी नरहरिनाथ, देवभूमि भारत एवं आध्यात्मिक नेपाल, भाग-1, गोरक्षपीठ मृगस्थली काठमाण्डू, नेपाल से प्रकाशित, पृ. 38
19. उपर्युक्त, पृ. 39
20. योगवाणी का नाथसिद्ध चरित्र विशेषांक, वर्ष-9, जनवरी 1984, अंक-1, पृ. 65
21. उपर्युक्त, पृ. 65
22. योगी नरहरिनाथ, देवभूमि भारत एवं आध्यात्मिक नेपाल, भाग-1, गोरक्षपीठ मृगस्थली काठमाण्डू, नेपाल से प्रकाशित, पृ. 24
23. योगवाणी का श्रीनाथ तीर्थस्थल विशेषांक, वर्ष-15, 1990, अंक-1-3, पृ. 201
24. उपर्युक्त, पृ. 202

दक्षिण पूर्व एशिया के परिप्रेक्ष्य में भारतीय कौण्डिन्य तथा अगस्त्य की कालजयी सांस्कृतिक सेवाएँ

सुशीलकुमार पाण्डेय 'साहित्येन्दु'*

रामधारी सिंह 'दिनकर' ने संस्कृति के चार अध्याय नामक पुस्तक में लिखा है कि- ''इतिहास यह तो नहीं बतलाता है कि भारतवासियों ने अन्य जातियों को अपना दास बनाने के लिए कभी दूसरे देशों पर आक्रमण किया, किन्तु यह बात सिद्ध है कि धर्म एवं संस्कृति के प्रचारार्थ तथा व्यापार के लिए भारतवासी दूर देशों की यात्रा करते थे, बड़ी-बड़ी नौकाओं का बेड़ा लेकर हजारों मील समुद्र के पार चले जाते थे और वन-पर्वतों को लाँघकर दूसरे देशों से सम्बन्ध स्थापित करते थे।''[1]

उक्त कथन से भारत की सनातन विश्वमैत्री की भावना परिपुष्ट होती है।

को हि भार: समर्थानां किं दूर व्यवसायिनाम्।
को विदेश सुविद्यानां को पर: प्रिय वादिनाम्।।[2]

अर्थात् ''सामर्थ्यवान व्यक्ति को कोई वस्तु भारी नहीं होती। व्यापारियों के लिए कोई जगह दूर नहीं होती। विद्वानों के लिए कहीं विदेश नहीं होता। मधुर बोलने वाले का कोई पराया नहीं होता।'' परम्परागत इस श्लोक में भारतीय जीवन-शैली का सार-संक्षेप तथा रहस्य प्रत्यक्ष है। यदि व्यक्ति में सामर्थ्य है तो वह कठिन से कठिन काम कर लेगा और साहस के अभाव में वह कुछ भी नहीं कर सकता। जिसमें सामर्थ्य है उसके लिए सर्प, रस्सी के समान है वह किसी न किसी तरीके से आयी हुई विपत्ति का विनाश कर लेता है, पर जिसमें सामर्थ्य नहीं है वह रस्सी को सर्प के समान समझ लेता है और हताश, निराश होकर विपत्ति के सामने आत्मसमर्पण कर देता है। व्यापारियों के लिए कोई स्थान दूर या निकट नहीं होता, वह जहाँ भी व्यापार प्रारम्भ कर देता है अपने उद्यम, साहस, शौर्य और सदाचरण से लक्ष्मी का प्रियपात्र बन जाता है। वह विश्व के किसी कोने में हो उसको आदर सम्मान तो मिलेगा ही। ऐसे ही वीरों, साहसियों के लिए पृथ्वी का वसुन्धरा (धन धारण करने वाली) नाम सार्थक होता है। कहा भी गया है ''वीर भोग्या वसुन्धरा।''[3] जिसके

*पूर्व अध्यक्ष/एसो.प्रो. संस्कृत विभाग, संत तुलसीदास पी.जी. कालेज, कादीपुर, सुलतानपुर (उ.प्र.)-228145

पास विद्या है उसके लिए कोई स्थान विदेश नहीं होता है। विद्या, योग्यता, क्षमता, कला-कौशल की उपयोगिता सर्वत्र होती है। कहा गया है कि 'राजा और विद्वान में तुलना उचित नहीं है क्योंकि राजा की पूजा स्वदेश में होती है जबकि विद्वान की पूजा सर्वत्र होती है।'[4] जो प्रियवादी, मधुरभाषी है उसके लिए कोई पराया नहीं होता। विद्वान, मधुरवाणी से प्रतिकूल परिस्थितियों को भी अनुकूल बना देता है।

प्राचीनकाल से ही भारतीय मान्यता रही है कि जो व्यक्ति किसी कार्यव्यवहार को निश्चयपूर्वक प्रारम्भ करता है, उसे मध्य में नहीं रोकता, समय को बर्बाद नहीं करता तथा अपने मन को नियंत्रण में रखता है, वही ज्ञानी है।

निश्चित्वा यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते।।[5]

उक्त दोनों श्लोकों में भारतीय ऋषियों, ज्ञानियों, शूरवीरों, व्यापारियों तथा जिज्ञासुओं के गुणसूत्रों का सुसमावेश है, जिन्होंने अति प्राचीनकाल से आधुनिककाल तक अनेक विपरीत परिस्थितियों का डटकर सामना करते हुए ''मानव-सेवा'' के क्षेत्र में अकल्पनीय ऐतिहासिक योगदान दिया है, जिनके कालजयी कार्यों से ''विश्व एक परिवार''[6] के रूप में स्थापित हुआ है। ऐसे अनेक महामानवों में प्रकृत स्थल पर कौण्डिन्य तथा अगस्त्य का विशेष उल्लेख किया जा रहा है, जिन्होंने दक्षिण पूर्व एशिया में ज्ञान-विज्ञान के विविध पक्षों का प्रचार कर ''सर्वे भवन्तु सुखिनः''[7] का प्रायोगिक कार्य सम्पन्न किया था। जावा के समुद्री तटों पर ऋषि अगस्त्य की प्रस्तर प्रतिमाएँ मिलती हैं। वहाँ के अनेक निवासी अगस्त्य को भारत गुरु तथा स्वयं को अगस्त्यवंशीय मानते हैं। इनकी विपरीत परिस्थितियों में स्थलीय तथा जलीय यात्राओं की विभीषिका-भयानक यन्त्रणा किसी सामान्य व्यक्ति को विचलित कर देने में सर्वथा समर्थ है। पर इनके लिए ऊपर लिखे गये दोनों श्लोक सर्वथा सार्थक हैं। दक्षिण पूर्व एशिया (कम्बोडिया, थाईलैण्ड, म्यांमार, इन्डोनेशिया, मलाया, लाओस, वियतनाम आदि) को वृहत्तर भारत का अंग माना गया है। ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश से दूर अति प्राचीनकाल में इन देशों को स्वर्णिम महत्त्व दिलाने में अगस्त्य ऋषि का योगदान इतिहास के भाल का स्वर्ण लेख है जिस पर समय की धूलि/काल का पर्त जमता जा रहा था, पर नयी पीढ़ी को अपने पूर्वजों की इस महान सेवा को समाज के समक्ष पुनर्जागरित करना अति आवश्यक है। भारत तथा दक्षिण पूर्व एशिया के प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्धों की गम्भीरता पर अनेक विदेशी तथा भारतीय विद्वानों ने अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है। रूसी इतिहासविद् "योदोरकोरोव्किन ने 'प्राचीन विश्व का इतिहास' नामक पुस्तक में लिखा है कि ''दक्षिण पूर्व एशिया के साथ भारत के विशेषतः घनिष्ठ सम्पर्क थे। इन देशों में लिपि, शिल्प और ज्ञान के विकास में प्राचीन भारत का बहुत बड़ा योगदान था।''[8]

रामधारी सिंह दिनकर ने ''संस्कृति के चार अध्याय'' नामक ग्रन्थ में वृहत्तर भारत (भारत तथा दक्षिणपूर्व एशिया) पर विस्तार से विचार किया है। उन्होंने लिखा है कि ''बर्मा और स्याम से दक्षिण और पूर्व की ओर जो भू-भाग और अनेक द्वीप हैं, इन्हीं का नाम वृहत्तर भारत है। स्याम से पूरब की ओर जो इन्डोचायना नामक देश है वह असल में भारतीय संस्कृति का ही वह क्षेत्र है जो चीन के पास पड़ता है, इसलिए उसको इन्डो-चायना, हिन्द चीन या भारत-चीन नाम बहुत ही सार्थक है। इसी प्रकार इन्डोनेशिया नाम दो यूनानी शब्दों के योग से बना है। इन्डो (Indos) = इन्डिया या भारत + (Ncsus) द्वीप। अतएव इन्डोनेशिया का अर्थ भारत द्वीप है। यह नाम ही सूचित करता है कि किसी समय सांस्कृतिक दृष्टि से भारत और इन्डोनेशिया एक ही देश थे।'' दिनकर का यह कथन अति महत्वपूर्ण है कि भारतीय जनता यदि देश के बाहर की जनता से अपना सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ाना चाहे तो इस कार्य में उसे जितनी सफलता बर्मा, स्याम भारत-चीन, मलाया, सुमात्र, जावा और बाली में मिलेगी, उतनी और कहीं नहीं मिल सकती है। जावा में बोरोबुदुर और कम्बोडिया में अंगकोर वाट दो भग्नावशेष ऐसे हैं, जो हमें याद दिलाते हैं कि सारा पूर्वी एशिया एक समय भारत की सुगन्ध से सुगन्धित था। कला के सेवकों और विद्यार्थियों के लिए ये दोनों स्थान तीर्थ समझे जाने चाहिए।[9]

कौण्डिन्य-

मान्यता है कि कौडिन्य विदर्भ क्षेत्र (बरार) के कुण्डिनपुर नामक स्थान का निवासी था। इस स्थान की कल्पना महाराष्ट्र तथा उड़ीसा की सीमा के पास नागपुर परिक्षेत्र में की गयी है। कम्बोडिया (कम्बुज) में कौण्डिन्य की चर्चा चीनी अनुश्रुतियों में मिलती है जिसके अनुसार ''फूनान (कम्बुज/कम्बोडिया का चीनी नाम) के आदिवासी लोग अर्द्धसभ्य थे, वे नंगे रहते थे और शरीर को गोदने से सजाते थे। उनकी रानी लियूची ब्राह्मण धर्म के अनुयायी हुएन तिएन से पराजित हुई, हुएन तिएन ने उसे विवाह कर लिया और इस प्रदेश पर शासन करने लगा। उसने इन लोगों में सभ्यता का प्रसार किया। औरतों को कपड़ा पहनना सिखाया। हुएन तिएन शब्द कौण्डिन्य का चीनी रूपान्तर है जो सीधे भारत से आया था और उसने सम्भवत: प्रथम ईस्वी में अपना राज्य स्थापित किया।''[10]

कम्बोडिया में कौण्डिन्य का नाम एक बार और आता है जिसके अनुसार ईसा की चौथी शताब्दी के अन्त में अथवा पाँचवीं के आरम्भ में कियाओ चेन जृ अथवा कौण्डिन्य नामक शासक वहाँ राज्य कर रहा था। यह सच है कि उत्तरी तथा दक्षिणी भारत से राजकुमारों, ब्राह्मणों तथा अन्य विद्वानों के नये दल सुदूर पूर्व के विभिन्न देशों में गये वहाँ उन्होंने भारतीय संस्कृति को और बढ़ावा दिया। लिअंग वंश के इतिहास (ई. 502-556) में कियाओ चेन जू अथवा कौण्डिन्य के विषय में लिखा है कि वह ब्राह्मण था और भारत का रहने वाला था। एक दिन उसने फूनान जाकर वहाँ पर राज्य करने के लिए भविष्यवाणी सुनी। यह फूनान के दक्षिण से पन पन पहुँचा जहाँ के लोगों ने इसका स्वागत किया और उसे अपना शासक चुन लिया। उसने वहाँ भारतीय नियम, संस्कार और

परम्पराओं का प्रसार किया।[11]

अगस्त्य–

अगस्त्य ऋषि का उल्लेख वैदिक पौराणिक तथा अन्य भारतीय साहित्य में मिलता है। उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत को सांस्कृतिक दृष्टि से एकता के सूत्र में बाँधने में उनका अभूतपूर्व योगदान था। उनकी समुद्रपान की कथा प्रसिद्ध ही है। भारतीय पुराण अगस्त्य की समुद्रपान की कथा के आगे मौन धारण कर लेते हैं। अगस्त्य के जीवन के उत्तरार्द्ध की कथा से सुवर्णदीप सुमण्डित है। बी.एन. पुरी ने बोरोबुदूर (जावा) से प्राप्त अगस्त्य की प्रस्तर मूर्ति का चित्र अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।[12] उन्होंने लिखा है कि लेखों से यह ज्ञात होता है कि भारत से समय-समय पर गये हुए विद्वानों से इनको बड़ा प्रोत्साहन मिला था और इसीलिए भारत के साथ शैक्षिक सम्पर्क बना हुआ था। कम्बुज में भारतीय विद्वान आगन्तुकों में आर्यावर्त का निवासी अगस्त्य वेद और वेदांगों में पारंगत था। सर्वज्ञ मुनि नामक आर्यावर्त निवासी ब्राह्मण चारों वेदों और आगमों का ज्ञाता तथा शिवभक्त था। कम्बुज देश में आकर उसने तथा उसके वंशजों ने उच्च पदों को सुशोभित किया।[13] प्रो. नीलकंठ शास्त्री के मतानुसार शैलेन्द्र वंश की उत्पत्ति शिव से अवश्य हुई और जावा में शैव मत का प्रवेश दक्षिण भारत से अगस्त्य की उपासना के साथ हुआ और कदाचित पांड्य क्षेत्र से ही वहाँ भारतीय गये।[14] चन्द्रगुप्त वेदालंकार ने लिखा है कि प्रायः इन सभी द्वीपों (दक्षिण पूर्व एशिया) में प्राप्त अगस्त्य ऋषि की प्रतिमाएँ, भारत में प्रसिद्ध उनके समुद्रपान तथा दक्षिण दिशा में जाकर बसने की समस्या का सुन्दर समाधान कर रही हैं।''[15]

अतः हम कह सकते हैं कि भारत तथा दक्षिण पूर्व एशिया के प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्धों को प्रगाढ़ करने में कौण्डिन्य तथा अगस्त्य का विशेष योगदान है जिससे भारतीय संस्कृति को वैश्विक प्रसार मिला।

संदर्भ

1. दिनकर, रामधारी सिंह- संस्कृति के चार अध्याय, 2012, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. 160
2. परम्परागत
3. परम्परागत
4. परम्परागत- नृपत्वं च विद्वत्वं तुल्यं नैव कदाचन।
   स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान सर्वत्र पूज्यते।।
5. परम्परागत
6. शर्मा, विष्णु - पंचतंत्र - अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
   उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

7. परम्परागत - सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिददुखभाग् भवेत।।

8. फ्योदोर कोरोव्किन, प्राचीन विश्व का इतिहास, प्रगति प्रकाशन, मास्को, पृ. 100

9. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 160

10. पुरी, बैजनाथ, सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, हिन्दी साहित्य उ.प्र. शासन, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन हिन्दी भवन, लखनऊ पृ. 159-168

11. पुरी, बैजनाथ, वही, पृ. 172

12. पुरी, बैजनाथ, वही, प्रारम्भिक भाग

13. पुरी, बैजनाथ, वही, पृ. 273

14. पुरी, बैजनाथ, वही, पृ. 325

15. वेदालंकार, चन्द्रगुप्त, वृहत्तर भारत-1969, राजधानी ग्रन्थागार, नयी दिल्ली पृ. 183-184

विस्तृत विवरण के लिए - शरण, महेश कुमार, काम्बुगदेश का राजनीतिक एवं सांस्कृति इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1995, पृ. 77

कम्बोडिया के अभिलेखों में भगवान् शिव-महादेव

सुबोध कुमार मिश्र* एवं अजय कुमार सिंह**

भारत की सभ्यता विश्व के अन्य देशों की सभ्यता से अधिक प्राचीन है। भारतीय संस्कृति आज के भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा के बाहर विस्तृत थी तथा इस संस्कृति के प्रभाव का फैलाव जो मध्य एशिया और दक्षिण-पूर्व के देशों और प्रशान्त महासागर के द्वीपों में हुआ, वह अपने समय की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। दक्षिण-पूर्व एशिया के अधिकांश देशों का सम्बन्ध भारत से था और भारतीय वैश्य-व्यापारियों, क्षत्रिय, ब्राह्मण, पुजारियों और बौद्ध-भिक्षुओं के लगातार आवागमन ने वहाँ सांस्कृतिक उपनिवेशों की नींव डाल दी और इन्हीं सम्पर्कों से शताब्दियों के कालक्रम में सुवर्णद्वीप, फुनान, चम्पा, ताम्रलिंग, द्वारावती, श्रीविजय और मजपहित जैसे महान् हिन्दू-साम्राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ।

उपनिवेश स्थापित हो जाने पर वहाँ भारतीय सामाजिक रीति-रिवाज का प्रसार हुआ, स्वभावतः उन द्वीप-समूहों में हिन्दू-धर्म व साहित्य की ओर लोगों का ध्यान गया क्योंकि हम यह जानते हैं कि धर्म ही सामाजिक जीवन के कार्यों और व्यक्ति के उद्देश्यों का निर्धारण करता है और उसके जीवन के लिए एक मापदण्ड भी स्थिर करता है। वहाँ के सामाजिक, धार्मिक तथा कला का इतिहास इस बात को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करता है कि भारतीय संस्कृति का विकास किस रूप में हुआ था। वहाँ के खण्डहर तथा भग्नावशेष ऐसे अकाट्य प्रमाण हैं जिनके आधार पर भारतीय संस्कृति के स्वरूप तथा उसके विस्तार का परिज्ञान हो जाता है। यह क्रम चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक जारी रहा। किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी में मुसलमान अरबों ने मलेशिया में प्रवेश किया तथा अधिकांश राज्यों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया, साथ ही पुर्तगालियों ने भारतीय वाणिज्य और नौपरिवहन का विनाश कर दिया जिसके कारण दक्षिण-पूर्व एशिया के हिन्दूकरण की दीर्घकालीन प्रक्रिया रुक गई।

इन देशों में अभिलेख पर्याप्त संख्या में मिले हैं जो संस्कृत भाषा में हैं तथा अधिकतर काव्यशैली में लिखे गये हैं। इन अभिलेखों के अध्ययन मे उन देशों के राजनीतिक इतिहास का ही

*शोध-छात्र, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर
**सीनियर एकेडमिक फेलो (SAF), भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद (ICHR), नई दिल्ली

ज्ञान नहीं होता, वरन् उनके समाज, साहित्य तथा अन्य विचारधाराओं की भी जानकारी हमें होती है।

कम्बोडिया के संस्कृत अभिलेखों से विविध विषयों पर प्रकाश पड़ता है। इन अभिलेखों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा ये कैसे अमूल्य साधन हैं यह किसी से छिपा नहीं है। लेखों में ब्राह्मण धर्म की भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के प्रचलन का भी वर्णन है। वहाँ भगवान् शिव की पूजा लोग लिंग तथा पार्थिव रूप में करते थे।[1] शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख कई लेखों में है जिनका वर्णन हम करने जा रहे हैं। साथ ही देश के इतिहास में शैव और वैष्णव धर्म एक दूसरे के बहुत निकट थे और ऐसे बहुत से लेख मिलते हैं जिनमें एक मत के प्रतिपादकों ने दूसरे मत के देवता की मूर्ति स्थापित की थी।

1. **वट विहार टन अभिलेख (काल 535 ई.)**- यह मन्दिर कण्डल स्टुंग राज्य में स्थित है तथा यहाँ से प्राप्त अभिलेख में भगवान् शिव और पार्वती का वर्णन मिलता है। इन दोनों की सुन्दर मूर्तियाँ भी इस मन्दिर में मिली हैं जिनमें पार्वती शिव की बाईं जाँघ पर बैठी हुई हैं।[2]

2. **इन्द्रवर्मन का प्रह को अभिलेख (काल 801 ई.)**- यह अभिलेख प्रह को मन्दिर में पाया गया जो सियमरिप जिले में स्थित है। अभिलेख की भाषा संस्कृत है। सर्वप्रथम इस अभिलेख में भगवान् शिव की प्रार्थना की गयी है तथा उसके बाद इन्द्रवर्मन का वर्णन मिलता है जो शक संवत् 799 में गद्दी पर बैठा। शक संवत् 801 में इन्द्रवर्मन ने भगवान् शिव के साथ अन्य तीन देवताओं की मूर्तियों की स्थापना की। शिव का उल्लेख करते हुए अभिलेख में उल्लिखित है- ''लक्ष्मी और शोभा, सफलता, कल्याण सभी उत्कर्षों से वर्तमान हो, परम ईश्वर को नमस्कार है। कला से रहित, स्वभाव से, स्वेच्छा से मूर्ति धारण कर चुकने वाले परमेश्वर और परमात्मा शिव को नमस्कार है।''[3]

3. **यशोवर्मन का बयांग अभिलेख**- बयांग का मन्दिर एक पहाड़ी पर स्थित है जो ट्रांग जिले में है। यह स्थान चाउ डाक से लगभग 15 मील दक्षिण-पश्चिम में है। अभिलेख की भाषा संस्कृत है। प्रह को अभिलेख की भाँति इसमें सर्वप्रथम भगवान् शिव की प्रार्थना की गई है।[4]

4. **जयवर्मन पंचम का बन्तेश्री अभिलेख (काल 890 ई.)**- यह अभिलेख बन्तेश्री के मन्दिर पर अंकित है जो सियमरिप जिले में स्थित है। अभिलेख की भाषा संस्कृत है तथा इसमें 44 श्लोक हैं। सर्वप्रथम इसमें भगवान् शिव और शक्ति की प्रार्थना इस प्रकार की गयी है- ''शब्द है गुण जिसके ऐसे आकाश-रूप शिव को नमस्कार करता हूँ जो इन्द्रियों के रास्ते से व्यतीत हो चुके हैं अर्थात् इन्द्रियों से जो परे हैं- अतीन्द्रिय हैं जो सर्वव्यापी हैं। आकाश-रूप हैं, शम्भु हैं। उन्मन रहने वाली जो सती शिव की कान्ता हमेशा शिव के साथ रहने वाले जो पर्वतराज की पुत्री हैं, शक्तिरूपा हैं-संसार के कल्याण के लिए वह शक्ति प्रदान करें।''[5]

5. **यशोवर्मन का लोले अभिलेख**- यह अभिलेख लोले मन्दिर के निकट एक पत्थर के दोनों ओर लिखा गया है। लोले का यह प्रसिद्ध मन्दिर अंकोरवाट से 10 मील दक्षिण-पूरब में स्थित है। अभिलेख की भाषा संस्कृत है। सर्वप्रथम भगवान् शिव की प्रार्थना इसमें की गयी है तथा उसके बाद यशोवर्मन की वंशावली का वर्णन है। आगे चलकर राजा द्वारा भगवान् शिव और दुर्गा की चार मूर्तियों की स्थापना का वर्णन मिलता है।[6]

6. **जयवर्मन प्रथम का तुओलकोक प्रह अभिलेख (काल 579)**- प्रेवेंग राज्य में कौंपौंग रुजी जिले के अन्तर्गत तुओल कोक प्रह के पूरब धान के खेत में एक पत्थर पर खुदा हुआ यह अभिलेख पाया गया था। अभिलेख संस्कृत और ख्मेर दोनों भाषाओं में लिखा गया है। संस्कृत भाग 7 श्लोकों का है। इसके अतिरिक्त 5 पंक्तियाँ गद्य में भी हैं। भगवान् शिव की मूर्ति की स्थापना का वर्णन इसमें है तथा शिव का नाम आभ्रातकेश्वर दिया गया है जो जयवर्मन प्रथम के मंत्री ज्ञानचन्द्र द्वारा शक 509 में स्थापित किया गया था।[7]

7. **जयवर्मन प्रथम का तन क्रन अभिलेख**- कौन-प्रे जिले में तनक्रन नामक एक स्थान है जहाँ यह अभिलेख पाया गया। अभिलेख की भाषा संस्कृत है तथा इसमें 23 पद्य हैं। सर्वप्रथम इसमें भगवान् शिव की प्रार्थना की गयी है तथा भगवान् शिव को पिंगलेश्वर कहा गया है। जयवर्मन प्रथम को भगवान् शिव का ही अंश-रूप माना गया है।[8]

8. **प्रसत अक योम के दो अभिलेख (काल 531 और 626)**- प्रसत अक योम नाम से प्रसिद्ध मन्दिर जिसके अब केवल भग्नावशेष ही बचे हैं- ईंटों का बना हुआ था जो वेस्टर्न बैरे नामक तालाब के पास स्थित है। ख्मेर पाठ से ऐसा पता चलता है कि यह मन्दिर 7वीं शताब्दी का है तथा गम्भीरेश्वर नाम से प्रसिद्ध भगवान् शिव को यह मन्दिर समर्पित किया गया था।[9]

9. **राजेन्द्रवर्मन का मेबन अभिलेख (काल शक 874)**- अंगकोर थौम के पास ही मेबन नाम का एक मन्दिर है जिसमें राजेन्द्रवर्मन द्वारा संस्कृत में 218 पद्य लिखवाये गये हैं। इसमें श्लोक 1, 2 और 4 भगवान् शिव की स्तुति करते हैं, श्लोक 3 गौरी (भगवान् शिव की पत्नी), श्लोक 5, 6 और 7 में क्रमशः नारायण, ब्रह्मा और गंगा की स्तुति का वर्णन है।[10]

10. **इन्द्रवर्मन का वकोंग अभिलेख (काल 803)**- प्रह को मन्दिर के समीप ही वकोंग स्थित है जो सियमरिप जिले में अवस्थित है। अभिलेख की भाषा संस्कृत है जिसमें 49 पद्य हैं। इस लेख में शिव की 8 प्रकार की मूर्ति (अष्टमूर्ति) की स्थापना का वर्णन है जिससे आठ शैव मन्दिरों के निर्माण का संकेत मिलता है।[11]

11. **जयवर्मन का प्रसत दामरे अभिलेख**- यह अभिलेख संस्कृत और ख्मेर दोनों भाषाओं में है किन्तु अभिलेख बिल्कुल ही पढ़ने लायक नहीं है और न कोई अर्थ ही निकाला जा

सकता है। श्लोक 15 से 20 तक बिल्कुल ठीक है जिससे ऐसा पता चलता है कि अपने भाई राजेन्द्रवर्मन को पुण्य की प्राप्ति हो सके इसके लिए उसने शिवलिंग की स्थापना कराई। कोह केर के निकट प्रसत दामरे है।[12]

12. **जयवर्मन चतुर्थ का प्रसत अंडन अभिलेख**- कोहकेर के एक मन्दिर पर यह अभिलेख पाया गया। इसमें संस्कृत के 42 पद्य हैं जिनमें 10 बिल्कुल ही नष्ट हो गये हैं। यह अभिलेख भगवान् शिव की स्तुति से प्रारम्भ होता है। ''उस शिव को प्रणाम है जिसकी ज्योति बड़ी है, जल रही है, आकाश के समान व्यापी है, सभी प्राणियों में अच्छे अर्थों में सत्त्व के समान है।''[13]

13. **यशोवर्मन का फिमानकस अभिलेख (काल 832)**- यह अभिलेख अंगकोर थॉम के एक भवन जिसका नाम फिमानकस है, उस पर खुदा हुआ है। यह संस्कृत और ख्मेर दोनों भाषाओं में है। संस्कृत के केवल 12 पद्य हैं। इसमें सर्वप्रथम ब्रह्मा, विष्णु और महेश (त्रिमूर्ति) की वन्दना की गयी है, किन्तु अभिलेख के ध्वस्त हो जाने से साफ-साफ अर्थ नहीं निकल पा रहा है।[14]

14. **ईशानवर्मन द्वितीय का वाट थिपदी अभिलेख (काल 832)**- यह अभिलेख वाट थिपदी के मन्दिर पर पाया गया जो सियमरिप जिले में एक छोटा सा मन्दिर है। यह संस्कृत में है तथा इसमें 19 पद्य हैं। पहले से लेकर पाँचवें श्लोक तक भगवान् शिव, विष्णु, ब्रह्मा और उमा की वन्दना की गयी है।[15]

15. **वटचक्रेत मन्दिर का अभिलेख**- यह एक प्राचीन मन्दिर है जो बा "नौम पहाड़ की तलहटी में बना हुआ है। इस अभिलेख के प्रथम श्लोक में 'शिव' शब्द आया है।[16]

16. **राजेन्द्रवर्मन का प्रेरूप अभिलेख (काल 833)**- अंगकोर के आसपास ही प्रेरूप मन्दिर है जिस पर संस्कृत के 298 श्लोक लिखे गये हैं। संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण यह कम्बोडिया का सबसे बड़ा अभिलेख है। भगवान् शिव की वन्दना से अभिलेख प्रारम्भ होता है।[17]

17. **भववर्मन का नोम प्रह विहार अभिलेख**- यह अभिलेख नोम प्रह विहार नामक पहाड़ पर पाया गया है जो कौमपौंग च्नांग राज्य में स्थित है। इसमें संस्कृत के 9 पद्य हैं। सर्वप्रथम भगवान् शंभु की वन्दना की गयी है।[18]

18. **फूमडा अभिलेख (काल शक 976)**- कौमपौंग च्नाम राज्य में फूमडा एक छोटा सा गाँव है जहाँ पर यह अभिलेख पाया गया था। यह अभिलेख संस्कृत और ख्मेर दोनों भाषाओं में लिखा हुआ है तथा संस्कृत के केवल 9 पद्य हैं। प्रथम तीन पद्यों के साथ-साथ अन्तिम पद्य में भी भगवान् शिव की प्रार्थना की गयी है जो उपनिषद् के गूढ़ रहस्यों से सम्बन्धित है।[19]

19. **पौ प्राह थ्वार गुफा अभिलेख**- प्रसिद्ध नौम कुलेन पर्वत-श्रेणी के पूर्वी भाग में यह एक गुफा है। गुफा की दीवार पर बहुत-सी चित्रकारियाँ हैं। अभिलेख में 7 श्लोक हैं तथा यह गुफा भगवान् शंभु के निवास-स्थान के लिए धर्मवासा नामक साधु द्वारा बनाया गया था।[20]

20. **उदयार्कवर्मन का प्रसत ख्लेत अभिलेख (काल 989)**- अंगकोर के आसपास प्रसत प्रह ख्मेत नाम का एक छोटा सा मन्दिर है। इसमें संस्कृत के 7 पद्य हैं जिनमें एक लिंग का वर्णन किया गया है।[21]

21. **हर्षवर्मन तृतीय का प्रसत म्रलौ अभिलेख (काल 993)**- यह स्थान पुओक जिले में है। अभिलेख में 32 पंक्तियाँ संस्कृत की और 24 पंक्तियाँ ख्मेर भाषा की हैं। प्रथम तीन पद्यों में त्रिमूर्ति की प्रार्थना की गयी है।[22]

22. **नृपादित्य का नूह बाथे अभिलेख**- कोचीन चाइना में लौंग जूएन राज्य के अन्तर्गत नूह बाथे नामक एक पहाड़ी पर यह संस्कृत अभिलेख पाया गया जिसमें 11 पद्य हैं। अभिलेख वर्द्धमान देव नामक भगवान् की प्रार्थना से प्रारम्भ होता है जो भगवान् विष्णु का दूसरा नाम है किन्तु पद्य 4 इस बात की पुष्टि करता है कि वह वर्द्धमान देव भगवान् शिव ही हैं।[23]

23. **जयवर्मन प्रथम का केदेई अंग मन्दिर अभिलेख (काल 589)**- बाफ्नौम राज्य में केदेई अंग मन्दिर है। इसका दूसरा नाम वाट केदेई या अंग चुमनिक भी है। अभिलेख की भाषा संस्कृत है जो पद्य में है। इस अभिलेख में एक लिंग की स्थापना का वर्णन है तथा भगवान् शिव के लिए जिनका नाम विजयेश्वर है, जयवर्मन के वैद्य सिंहदत्त द्वारा एक मन्दिर के निर्माण का वर्णन है।[24]

24. **जयवर्मन प्रथम का तुओल प्रह घट अभिलेख (काल 595)**- प्रिवेंग राज्य में तुओल प्रह घट बसा हुआ है। अभिलेख संस्कृत के आर्य छंद में लिखा गया है। जयवर्मन प्रथम के एक अधिकारी द्वारा 595 शक में एक लिंग की स्थापना का वर्णन इस अभिलेख में है।[25]

25. **यशोवर्मन का लोले-दरवाजा स्तम्भ अभिलेख (काल 885)**- रौलुअस जिले में स्थित लोले स्थान के चार मन्दिरों के दरवाजे के स्तम्भ पर यह अभिलेख लिखा गया है। अभिलेख दोनों दरवाजों पर हैं जिनमें भगवान् शिव और माँ भवानी की मूर्ति स्थापना का वर्णन है।[26]

26. **राजेन्द्रवर्मन का बसक अभिलेख**- रामड्औल राज्य में बसक बसा हुआ है। यह अभिलेख संस्कृत में है तथा इसमें 12 पद्य हैं जो श्लोक छन्द में हैं। उसके बाद ख्मेर में भी हैं। संस्कृत भाग भगवान् शिव की वन्दना से प्रारम्भ होता है।[27]

27. **बन्तेस्राई अभिलेख (काल 891)**- बन्तेस्राई का मन्दिर अंगकोर थौम से 13 मील उत्तर-पूरब में स्थित है। यह अभिलेख संस्कृत और ख्मेर दोनों भाषाओं में हैं। संस्कृत भाग

भगवान् शिव का है, जिनका इस अभिलेख में त्रिभुवन महेश्वरनाम दिया गया है।[28]

28. **यिक्रेन पत्थर का अभिलेख (काल 892)**- यिक्रेन स्थान कौमयौन थौम राज्य में स्थित है। अभिलेख संस्कृत में लिखा गया है तथा अर्द्धप्रासाद नामक दो आभूषण भगवान् लोकेश्वर को दानरूप में हृदयाचार्य के द्वारा 892 शक में दिया गया था। प्रथम श्लोक में लोकेश्वर महादेव में भक्ति हो- ऐसी कामना की गयी है।[29]

29. **केदेई अंग मन्दिर अभिलेख (काल 550)**- बाफ्नौम राज्य में वाट केदेई या केदेई अंग जिसका दूसरा नाम अंग चुमनिक भी है- यह अभिलेख पाया गया। यह संस्कृत अभिलेख-ऐसा मालूम पड़ता है कि पत्थर के दो टुकड़े पर लिखा गया था जो शायद एक ही दरवाजे का अंग रहा हो। इस अभिलेख में आचार्य विद्या विनय नामक व्यक्ति द्वारा एक शिवलिंग की स्थापना का वर्णन है।[30]

30. **जयवर्मन प्रथम का तुओल अन टनौट अभिलेख (काल 603)**- ताकेव राज्य में नटी जिलान्तर्गत यह स्थान है। यह अभिलेख संस्कृत की 6 पंक्तियों में तथा ख्मेर भाषा की 36 पंक्तियों में है। श्रीखण्ड लिंग और रण्ड पर्वतेज़ की स्थापना जयवर्मन प्रथम द्वारा शक 603 में की गयी थी।[31]

31. **हर्षवर्मन तृतीय का पलहल अभिलेख (काल 991)**- मौनरुजी राज्य में पलहल एक छोटा-सा गाँव है जहाँ पर यह अभिलेख पाया गया है। संस्कृत और ख्मेर दोनों भाषाओं में यह अभिलेख है तथा भगवान् त्रिभुवनेश्वर की मूर्ति का वर्णन इसमें हुआ है।[32]

32. **त्रपन दौन अभिलेख (काल 1051)**- सियमरिप के एक तालाब का नाम त्रपन दौन है जो अंगकोर थोम के उत्तर-पूरब में स्थित है। इस संस्कृत अभिलेख में कुल 182 पंक्तियाँ हैं जिनमें 70 संस्कृत की और 112 ख्मेर की हैं। अभिलेख भगवान् शिव की प्रार्थना से प्रारम्भ होता है।[33]

उपरोक्त सूची तो सिर्फ बानगी है। समूचे कम्बोडिया और दक्षिण-पूर्व एशिया से हजारों की संख्या में संस्कृत अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित हैं। ये अभिलेख इस बात के साक्षी भी हैं कि किसी समय में समस्त दक्षिण-पूर्व एशिया सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से एक मजबूत डोर से भारत मे आबद्ध थे। वर्तमान युग और भू-सामरिक महत्व को ध्यान में रखते हुए आज आवश्यकता है कि कम्बोडिया सहित संपूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया से अपने प्राचीन सम्बन्धों की मधुरता को पुनः स्थापित किया जाए।

सन्दर्भः

1. पुरी, बी.एन., सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, लखनऊ, 1965, पृ. 304

2. वेफॅओ- 35, 17 ए, 36, मजूमदार रमेशचन्द्र, इन्सक्रिप्शन्स ऑव कम्बुज, कलकत्ता, 1953, सं. 7, पृ. 8
3. मजूमदार रमेशचन्द्र, वही, सं. 55, पृ. 61, श्लोक 1
4. मजूमदार रमेशचन्द्र, वही, सं. 75, पृ. 157
5. मजूमदार रमेशचन्द्र, वही, सं. 102, पृ. 272, श्लोक 1, 2 और 32
6. मजूमदार रमेशचन्द्र, वही, सं. 61, पृ. 83, श्लोक 1 और 59
7. वही, सं. 28, पृ. 36, श्लोक 1 एवं 3-4
8. वही, सं. 34, पृ. 44, श्लोक 1, 8 एवं 13
9. वही, पृ. 7
10. वही, सं. 93, पृ. 193 से आगे, श्लोक 1, 2, 3, 202, 203
11. वही, सं. 56, पृ. 67, श्लोक 25 एवं 29
12. वही, सं. 85, पृ. 171, श्लोक 19 एवं 20
13. वही, सं. 86, पृ. 172, श्लोक 1, 2, 3 एवं 28
14. वही, सं. 74, पृ. 155
15. वही, सं. 78, पृ. 161, श्लोक 1
16. वही, सं. 79, पृ. 164
17. वही, सं. 97, पृ. 234, श्लोक 1 एवं 2
18. वही, सं. 10, पृ. 11
19. वही, सं. 153, पृ. 383, श्लोक 1, 2, 3 एवं 9
20. वही, सं. 154, पृ. 385, श्लोक 1
21. वही, सं. 156, पृ. 399, श्लोक 1
22. वही, सं. 159, पृ. 418, ॐनमः शिवाय
23. वही, सं. 22, पृ. 26
24. वही, सं. 30, पृ. 38
25. वही, सं. 33, पृ. 42, श्लोक 1 एवं 11
26. वही, सं. 70, पृ. 139, श्लोक 1
27. वही, सं. 101, पृ. 270
28. वही, सं. 107, पृ. 280
29. वही, सं. 107 ए, पृ. 590
30. वही, सं. 26, पृ. 30, श्लोक 1 से 5 तक
31. वही, सं. 41 ए, पृ. 563
32. वही, सं. 158, पृ. 412 और आगे
33. वही, सं. 170, पृ. 434

विशेष द्रष्टव्य- शरण, महेश कुमार, कम्बोडिया के संस्कृत अभिलेख, भाग 1 और 2, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना, नयी दिल्ली 2015

बौद्धधर्म के वैश्विक प्रसार में भारतीय नरेशों का योगदान

ऋषि कपूर*

बौद्ध धर्म भारत का एक ऐसा धर्म है जिसने दीर्घ काल तक अपने धार्मिक दार्शनिक प्रभाव से सम्पूर्ण विश्व को आप्लावित किया। इस प्रभाव विस्तार में भारतीय शासकों की महती भूमिका रही। इस क्रम में सर्वाधिक प्रभावशाली नाम 'अशोक' का है। निश्चित रूप से बौद्ध धर्म को विश्वव्यापी बनाने में अशोक ने सर्वाधिक योगदान किया। अशोक द्वारा अपने पुत्र-पुत्री को श्रीलंका में धम्म संस्थापन हेतु प्रेषित करने का अपना महत्व है, साथ ही अनेक देशों में बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ दूत मण्डल सम्प्रेषण के साक्ष्य अभिलेखों में विद्यमान है।

कुषाण शासकों का काल भी बौद्धधर्म के विश्व विस्तार के लिए स्मरणीय है। इस काल में भारत का मध्यएशिया से सम्पर्क सर्व विदित है। अफगानिस्तान के बामियान में महात्मा बुद्ध की गगनचुम्बी शिला मूर्तियाँ/स्थापत्य के व्यापक अवशेष, मूर्तिशिल्प के दो केन्द्र मथुरा एवं गन्धार तथा विश्व में बौद्ध धर्म का विद्वानों, व्यापारियों एवं राजदूतों के माध्यम से प्रसार अद्वितीय है। इसी प्रकार कालान्तर के अन्य अनेक प्राचीन भारतीय शासकों ने बौद्ध धर्म के वैश्विक प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान किया।

सम्राट् अशोक

भारत में बौद्धधर्म का उदय छठी शताब्दी ई.पू. में हुआ, किन्तु इसका वैश्विक प्रसार मौर्य सम्राट अशोक द्वारा आयोजित तृतीय बौद्ध संगीति के उपरांत होता है। इस संगीति के पश्चात् ही विभिन्न देशों में बौद्ध धर्म के प्रचारक भेजे गये। इसकी सूचना दीपवंश और महावंश नामक सिंहली अनुश्रुतियों में उपलब्ध है। इन अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि तृतीय बौद्ध संगीति के बाद अशोक ने अपने धर्म प्रचारक मझन्तिक को गंधार प्रदेश, महारक्षित को यवनदेश, सोन तथा उत्तर को सुवर्णभूमि (जावा), महेन्द्र और संघमित्र को लंका में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए भेजा था। लंका में बौद्ध धर्म के प्रचारकों को विशेष सफलता मिली जहाँ अशोक के पुत्र महेन्द्र ने वहाँ के शासक 'तिस्स' को बौद्ध धर्म में दीक्षित कर लिया था। माना जाता है कि तिस्स अशोक के समान

*शोध छात्र, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ, उत्तर प्रदेश।

ही बौद्ध धर्म को अपना राजधर्म बना लिया था और 'देवानाम्पिय' की उपाधि भी ग्रहण की थी।

अशोक के अभिलेखों में तेरहवाँ प्रज्ञापन जो कालसी, शहबाजगढ़ी मानसहेरा, एर्रागुड़ी, धौली–जौगढ़ आदि स्थानों से उपलब्ध है, में पाँच यवन राज्यों[1]– अन्तियोक (सिरिया), तुरमय (मिश्र), अन्तिकीनि (मेसीडोनिया), मग (एपिरस) और अलिकसुन्दर (सिरिन) का उल्लेख मिलता है, जहाँ अशोक ने अपने धर्म प्रचारक भेजे थे। ये राज्य भारत से बाहर के राज्य थे।[2]

इसी शिलालेख में वह चीन और बर्मा की ओर संकेत करते हुए कहता है कि जहाँ 'देवताओं के प्रिय' दूत नहीं पहुँचे वहाँ के लोग भी धर्म प्रचार की प्रसिद्धि सुनकर उनका अनुसरण करते हैं।[3] अशोक का उद्देश्य अपने धर्म–प्रचारकों के माध्यम से विश्व में लोक हितकारी कार्यों को बढ़ावा देना और अहिंसा के रास्ते पर चलते हुए शांति की स्थापना करना था ताकि धम्म विजय का महत्व लोगों तक पहुँच सके। अशोक के इस प्रयास से पश्चिमी एशिया में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार हुआ। आज भी वहाँ के अनेक धार्मि सम्प्रदायों के रीति–रिवाजों पर बौद्ध धर्म का प्रभाव देखा जा सकता है।

अशोक ने तृतीय बौद्ध संगीति के उपरान्त नेपाल में भी अपने धर्म प्रचारक भेजे थे जो, नेपाल, मानसरोवर, तिब्बत होते हुए चीन गये थे। चूँकि नेपाल का लुम्बिनी[4] नामक स्थान भगवान बुद्ध की जन्म स्थली है अत: अपने अभिषेक के बीसवें वर्ष अशोक लुम्बिनी गया और वहाँ का कर घटाकर 1/8 कर दिया तथा निग्लिवा[5] में कनकमूनि[6] के स्तूप को संबर्द्धित करवाया। अशोक के इस कार्यों का जनता के ऊपर विशेष प्रभाव पड़ा और वह बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुई। इसके अतिरिक्त भारत और नेपाल के सम्बन्धों को धार्मिक दृष्टि से मजबूत करने के लिए अशोक ने नेपाल में 500 स्तूपों का निर्माण भी करवाया जिसमें अधिकांश आज भी सुरक्षित हैं। ये स्तूप हमारे अतीत को वर्तमान से जोड़ते है और हमें प्रेरणा तथा प्रेम का संदेश देते है।

कनिष्क कुषाण

भारत के इतिहास में कनिष्क की ख्याति उसके विजयों के कारण नहीं बल्कि बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार व संरक्षण प्रदान करने के कारण है।[7] चूँकि कुषाण साम्राज्य मध्य एशिया से लेकर पूर्वी भारत तक फैला था अत: इस बड़े भू–भाग पर बौद्ध धर्म का खूब प्रचार–प्रसार हुआ। ई.पू. दूसरी शदी मे लेकर ईस्वी सन् दूसरी शदी तक की अवधि में भारत के समस्त धार्मिक अवशेषों में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अवशेषों की संख्या सर्वाधिक है। इस समय बहुसंख्यक चैत्यों और बिहारों का निर्माण करवाया गया।

कनिष्क के सिक्कों तथा पेशावर लेख से यह प्रतीत होता है कि कनिष्क अपने शासन के प्रारम्भिक अवस्था में ही बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित करने का श्रेय

'सुदर्शन' नामक बौद्ध आचार्य को दिया जाता है। कनिष्क ने 'पेशावर' जो कि पाकिस्तान का एक प्रान्त है, में एक प्रसिद्ध चैत्य का निर्माण करवाकर बौद्ध धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की तथा बौद्ध धर्म के महायान शाखा को अपना राजधर्म बनाया और मध्य एशिया तथा चीन में उसका प्रचार-प्रसार करवाया। मध्य एशिया में बौद्ध का प्रवेश अशोक के काल में ही हो चुका था पश्चिमोत्तर सीमा में हिन्दुकुश पर्वत पार कर अफगानिस्तान तथा बैक्ट्रिया के मार्ग से बौद्ध प्रचारक कशगर, समरकन्द होते हुए सम्पूर्ण मध्य एशिया में फैल गये थे, कुषाणों ने इस कार्य को आगे बढ़ाया।

अत: कहा जा सकता है कि मध्य एशिया के साथ भारत का घनिष्टतम सम्बन्ध कुषाण काल से ही स्थापित हुआ। इसी समय महायान बौद्ध धर्म के प्रचारक अपने संदेश तथा धर्म ग्रंथो के साथ वहाँ पहुँचे। कनिष्क ने मध्य एशिया में अनेक विहार, स्तूप एवं मूर्तियों का निर्माण करवाया। ताजिकिस्तान से मिली बुद्ध की विशालकाय मूर्ति तथा अवशेष यह स्पष्ट करते हैं कि कनिष्क के समय (प्रथम शताब्दी ई.) में बौद्ध धर्म उन प्रदेशों में फैल चुका था। काशगर, खोतन कूची, यारकन्द, तुर्फानर आदि में अनेक विहार थे जिनमें हजारों भिक्षु निवास करते थे, यहीं से बौद्ध प्रचारक चीन गये।

चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश 67 ई. में हन सम्राट 'मिंग ती' (57-75ई.) के काल में हुआ।[8] हन शासक कुषाण राजाओं के समकालीन थे। चीनी इतिहासकारों के अनुसार मिंग ती ने बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित होकर अपना दूत भारत भेजा था जो अपने साथ बौद्ध साहित्य, मूर्तियाँ तथा बौद्ध विद्वान काश्यप मातंग, धर्मारण्य आदि को लेकर चीन पहुँचा। इससे प्रसन्न होकर चीनी शासक ने उन विद्वानों को रहने के लिए प्रसिद्ध 'श्वेताश्व विहार' का निर्माण करवाया था। अश्वघोष, नागार्जुन, बसुमित्र, संघरक्ष, पार्श्वनाथ आदि कनिष्क के समय के महत्वपूर्ण विद्वान थे जिन्होनें बहुत सारे बौद्ध ग्रन्थों की रचना की थी। इनकी प्रशंसा चीनी बौद्ध विद्वान इत्सिंग[9] ने भी किया है। इनके द्वारा लिखित ग्रन्थों का विश्व के कई देशों में उनकी भाषाओं में अनुवाद किया गया जो बौद्ध धर्म के प्रसार का कारण बना।

कनिष्क के समय में बौद्ध धर्म की चतुर्थ बौद्ध संगीति कश्मीर के 'कुण्डलवन'[10] में आयोजित किया गया था जिसमें देश-विदेश से लगभग 500 विद्वान भिक्षुओं ने भाग लिया था।

हर्षवर्धन

वर्द्धन वंश का प्रतापी शासक हर्ष अपने पूर्वजों की भाँति प्रारम्भ में सूर्य और शिव का उपासक था किन्तु चीनी बौद्ध यात्री ह्वेनसांग से मिलने के बाद वह पूर्ण रूप से बौद्ध हो गया तथा बौद्ध धर्म के महायान शाखा को राज्याश्रय प्रदान किया। उसके दरबार में दिवाकर मित्र नामक एक

भिक्षु[11] भी निवास करता था। हर्ष ने महायान धर्म को अन्य धर्मों से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए कन्नौज में विभिन्न धर्मों एवं संप्रदायों की एक सभा बुलाई। चीनी साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि इसमें बीस देशों के राजा अपने-अपने प्रसिद्ध आचार्यों के साथ उपस्थित हुए थे। ह्वेनसांग की जीवनी के अनुसार इसमें तीस हजार बौद्ध विद्वान, तीस हजार ब्राह्मण और निर्ग्रन्थ तथा नालंदा के एक हजार आचार्य शामिल हुए। यह समारोह बीस दिनों तक चला, इसकी अध्यक्षता एक विदेशी बौद्ध विद्वान ह्वेनसांग ने की थी। चूँकि बौद्ध धर्म के इस समारोह में देश-विदेश से विद्वान इकट्ठा हुए थे अतः स्वभाविक है कि इसका प्रचार दुनिया के कई देशों में हुआ होगा।

हर्ष एक धर्म सहिष्णु शासक था, वह प्रयाग के संगम क्षेत्र में प्रति पाँचवें वर्ष 'महामोक्षपरिषद' का आयोजन करता था। ह्वेनसांग जो कि छठे महामोक्ष परिषद समारोह में शामिल हुआ था वह लिखता है कि इस समारोह में 18 अधीन देशों के राजा उपस्थित हुए थे यह समारोह 75 दिनों तक चला, इसमें विद्वान ब्राह्मण, साधु और भिक्षु बड़ी मात्रा में उपस्थित हुए थे।

अशोक और कनिष्क की भाँति हर्ष के समय में भी भारतीय संस्कृति का प्रसार विश्व के कई देशों में दक्षिण-पूर्व एशिया में हिन्दू धर्म प्रगति पर रहा और नालंदा विश्वविद्यालय[12] जिसे हर्ष का संरक्षण प्राप्त था, से शिक्षा ग्रहण कर अनेक विद्वान चीन और तिब्बत गये। चीन जाने वाले विद्वानों में कुमार जीव, परमार्थ, शुभाक और धर्मदेव प्रमुख थे, तिब्बत जाने वाले विद्वानों में शांतक्षित, पद्म-सम्भव, कमलशील, स्थिरमति और बुद्धकीर्ति प्रमुख थे। इन विद्वानों ने वहाँ जाकर स्थानीय भाषाओं में बौद्ध धर्मग्रंथों का अनुवाद किया और वहाँ बौद्धधर्म के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया।

धर्मपाल

धर्मपाल, अपने पिता और पाल वंश के संस्थापक गोपाल की भाँति ही बौद्ध मतावलम्बी शासक था। उसने बौद्ध धर्म के शिक्षा और प्रसार के लिए विक्रमशिला नामक शिक्षण संस्थान की स्थापना करवायी थी[13], जो कालांतर में एक ख्यातिप्राप्त अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय बन गया। यहाँ अनेक बौद्ध मंदिर तथा बिहार थे। 12वीं शदी ई. में यहाँ लगभग 3000 विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। इस विश्वविद्यालय के प्रधान आचार्य आतिश 'दीपांकर श्रीज्ञान' ने तिब्बत में जाकर बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य किया था।[14] रक्षित, विरोचन, ज्ञानपद, ज्ञान श्री, रत्नवज्र, अभयंकर[15] आदि भी यहाँ के ख्याति प्राप्त विद्वान थे जिन्होने यहाँ के छात्रों को बौद्ध धर्म की शिक्षा देकर उनके ज्ञान का विकास किया, जो कि बौद्ध धर्म के विस्तार में सहायक सिद्ध हुआ। इस समय विक्रमशिला ने नालंदा विश्वविद्यालय का स्थान ग्रहण कर लिया था, यहाँ विभिन्न देशों से विद्यार्थी बौद्ध धर्म की शिक्षा ग्रहण करने आते थे जिसमे तिब्बत का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जब अपने देश वापस लौटते थे तो वहाँ बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य

भी करते थे।

देवपाल

धर्मपाल का पुत्र देवपाल भी बौद्ध मतानुयायी शासक था। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने देवपाल को 'बौद्धधर्म को पुनः स्थापित करने वाला शासक' कहा है। विद्वान उसे ओदन्तपुरी[16] बिहार के प्रसिद्ध मठ का निर्माता मानते हैं। डॉ. गोखले के अनुसार ओदन्तपुरी विश्वविद्यालय एक दिव्यज्योति था जहाँ से भारतीय संस्कृति का ज्ञान-विस्तार देशान्तर में होता था।[17] पाल शासक देवपाल ने जावा के शैलेन्द्र वंज़ी शासक बालपुत्र देव के अनुरोध पर नालन्दा में उसे एक बौद्ध बिहार बनवाने के लिए पाँच गाँव दान में दिया था। इस प्रकार देवपाल ने बौद्ध धर्म में आस्था रखने वाले विदेशी शासकों के प्रति सौहार्दपूर्ण नीति अपनाकर बौद्धधर्म को दूसरे देशों में प्रसार का मार्ग प्रसस्त किया।

निष्कर्ष

विश्व में बौद्ध धर्म के प्रसार में राजकीय संरक्षण का विशेष योगदान रहा है। स्वयं बुद्ध के समय तथा उसके बाद भी भारत के अनके महान राजाओं ने इस धर्म को ग्रहण किया तथा उसके प्रचार-प्रसार में राज्य के संसाधनों को लगा दिया। ऐसे राजाओं में आजातशत्रु, अशोक, मिनाण्डर, कनिष्क, हर्षवर्द्धन आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मिनाण्डर तथा कनिष्क बाहर से आकर भारतीय धर्म और संस्कृति को अपनाकर उसका प्रचार-प्रसार करने में अग्रणी रहे। अशोक ने तो इस धर्म को स्थानीय स्तर से ऊपर उठाकर अपने प्रयासों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पहुँचा दिया।[18]

संदर्भ

1. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृष्ठ 298
2. (i) भगवान लाल इन्द्रजी, दि इन्सक्रिप्शन्स ऑफ अशोक, इण्डियन एण्टीक्विटी -दि इन्सक्रिप्शन्स ऑफ अशोक, इण्डियन एण्टीक्विटी-10, 105, 09-1881
   (ii) बी.एम. बरूआ, अशोक हिज इन्सक्रिप्शन्स, कलकत्ता 1946
   (iii) वी.ए. स्मिथ, अशोक नोट्स, इण्डियन एण्टीक्वेरी 32, 364-66, 1903
3. (i) बिल, सि-यू-कि, ॥
   (ii) मैक्रिण्डल, एन्शिएण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राब्ड इन क्लासिकल लिट्रेचर
4. श्रीराम गोयल, प्राचीन भारतीय अभिलेख भाग 1, पृ. 110
5. राजबली पाण्डेय, अशोक के अभिलेख, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2022, पृ. 14
6. राजबली पाण्डेय, हिस्टॉरिकल एण्ड लिटरेरी इन्सक्रिप्शन्स, पृ. 40
7. एच.सी. रॉय चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ. 475
8. डी.सी. सरकार, द एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, चैप्टर-09

9. ए. लाल, अश्वघोष कालीन भारत, लखनऊ 1985, पृ. 56
10. स्मिथ, EHI. PP-283FF, Law, बुद्धिस्टिक स्टडीज, 71
11. डॉ. श्रीमती यमुनालाल, 'भारत और विदेश में बौद्ध धर्म प्रसार, दिल्ली, 1993, पृ. 26
12. के.एम. पाणिक्कर, सर्वे ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, पृ. 26
13. आर्कियॉलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, रिपोर्ट्स, भाग-8
14. अलका चाटोपाध्याय 'आतिश एण्ड टिबेट' दिल्ली, 1981
15. आर.के. मुकर्जी, एन्शिएण्ट इण्डियन एजुकेशन, पृ. 593-94
16. सरयू प्रसाद चौबे, आदि और मध्य युगीन भारत में शिक्षा, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, पृ. 132
17. वी.जी. गोखले, एन्शिएण्ट इण्डिया, बम्बई, पृ. 1952
18. राजबली पाण्डेय, प्राचीन भारत, पृ. 181

भारतीय आयुर्वेद का तिब्बत में प्रचार-प्रसार

स्वामी ह्मानन्द सरस्वती (राम मनोज)*

भारतीय संस्कृति विशेषकर आयुर्वेद का तिब्बत में पदार्पण -

भारतीय संस्कृति विरासत में मिले हुए एक बहुत बड़ा खजाना है। उक्त खजाना यथा-वेद, भाषा, साहित्य, वैज्ञानिक खोज इत्यादि विभिन्न विषयों से सम्बन्धित ज्ञान है। इनमें परिवर्तन तो नहीं किन्तु विश्लेषणात्मक एवं अन्य विधियों द्वारा विकसित हो रहा है। भारतीय संस्कृति विश्व की संस्कृतियों में अपूर्व स्थान रखता है। वेद, उपनिषद, पुराण, बुद्ध के उपदेश, जैन मुनियों का उपदेश आदि ज्ञान का एक क्रमिक विकास है। विकास प्रकृति का स्वभाव है। हम मानव भी जीवधारियों के विकास के शिखर का श्रेष्टतम् परिणाम है, जैसा कि डार्विन ने बताया है कि जीव एककोषकीय (अमीवा) से विकसित होकर मनुष्य हुए।[1] यद्यपि भारतीय मनीषियों ने उक्त बात को कभी भी स्वीकार नहीं किया है। वैदिक संस्कृति को मनीषीयों ने ईश्वर प्रदत् बताया है। किन्तु बौद्ध संस्कृति में प्रकृति प्रदत् बताया है। मनुष्य ही एक विवेकशील प्राणी है। मनुष्य के पास अन्वेषण करने की क्षमता है। विवेकशील होने के नाते स्वयं अपनी हित एवं प्राणियों के हितार्थ अनेक अन्वेंषण किये जिसमें आयुर्वेद भी एक है।

भारतीय आयुर्वेद का तिब्बत में तिब्बती चिकित्सा पद्धति (सोवा रिग्पा) के साथ विकास -

भारतीय परम्परा में आयुर्वेद के सम्बन्ध में यह बताया जाता है कि प्राणियों के रोग मुक्ति एवं दीर्घायु में आयुर्वेद के ज्ञान अति आवश्यक है। संसार के सभी अभीष्ट कार्यों, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति स्वस्थ शरीर से ही हो सकती है।[2]

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः।।

-वाणभट्ट

*शोध छात्र, तिब्बती अध्ययन विभाग, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार, भारत

विश्व में भारतीय आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति का सभी चिकित्सा पद्धति पर प्रभाव है। यथा यूनान, चीन, तिब्बत आदि देशों पर भी इसका प्रभाव देखा जा सकता है। यहाँ इसकी चर्चा करना यथेष्ट है कि 7वीं शताब्दी के लगभग तिब्बत में भारतीय संस्कृति के साथ-साथ चिकित्सा विद्या भी वहाँ गया जो अति ही उत्तम चिकित्सा पद्धति के रूप में वहाँ विकसित हुआ।

भारतीय आयुर्वेद आहार-विहार, आचार-विचार, औषधिय आदि का विश्लेषण है, जिससे हम प्राणी स्वस्थ एवं सुखी रह सकें। इसके विशिष्ट शाखाओं में सिद्धांत, शरीर रचना, शरीर क्रिया, रोग निदान, पंचकर्म, रस क्रिया आदि का विशद् वर्णन है, जिसकी चर्चा **सोवा रिग्पा** अर्थात् तिब्बती आयुर्वेद प्रणाली में भी है।

तिब्बती चिकित्सा विज्ञान को ऐतिहासिक दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया गया है, यथा भारतीय आयुर्वेद जाने के पूर्व का पारम्परिक तिब्बती चिकित्सा विज्ञान और भारतीय आयुर्वेद के जाने के उपरान्त का तिब्बती चिकित्सा विज्ञान। द्वितीय चरणों में भारतीय आयुर्वेद के ज्ञान के अतिरिक्त अन्य देशों यथा युनान, चीन आदि की भी चिकित्सा प्रणाली का समिश्रण है।[1]

तिब्बती चिकित्सा पद्धति की विशेषता-

(क) इतिहास-

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में ही तिब्बतियों को यह मालूम हो गया था कि जहरीली चीजों में भी औषधीय गुण मौजूद है, जिसे भारतीय आयुर्वेदाचार्य **जीवक** (राजगृह) ने ईस्वी पूर्व 6ठी शताब्दी में ही बताया था। 17वीं शताब्दी में पांचवें दलाई लामा ने तिब्बती चिकित्सा के विकास को बहुत महत्त्व दिया। उन्होंने तत्कालीन चित्रकारों से रंगीन चिकित्सीय थंकाचित्र रचित करवाया जिसने तिब्बती चिकित्सा विचारधारा व उपचार कौशल का कलात्मक तौर पर वर्णन किया गया था।[2]

(ख) विशेषता-

1. तिब्बती चिकित्सा पद्धति में विशिष्ट रूप से मूत्र जाँच किया जाता है, जिसमें जाँचकर्त्ता प्रातः काल के मूत्र को विशेष उपकरण में विशेष उपकरण से बार-बार हिलाते हैं; इससे बुलबुले बनते हैं, उन बुलबुलों को देखकर रोग की गंभीरता का पता लगाया जाता है। इसके अलावे मूत्र में कुछ औषधि डालकर भी परीक्षण किया जाता है और मूत्र की गंध व रंग से भी विशेषज्ञ बीमारी के बारे में जानते हैं।
2. आयुर्वेद में औषधीय पौधों के सभी हिस्सों का प्रयोग किया जाता है जबकि तिब्बती चिकित्सा में औषधीय पौधों से केवल अर्क निकाल कर दवा बनाते हैं।
3. तिब्बती चिकित्सा में परहेज कुछ ही बीमारियों में करना होता है। डायबिटिज (मधुमेह) में भी मीठा खाने से परहेज नहीं है।

4. तिब्बती में नस खोलकर (काटकर) दूषित खून को बाहर निकाल कर कुछ बीमारियों में चिकित्सा की जाती हैं।[3]

5. तिब्बती चिकित्सा में ध्यान का विशेष महत्त्व है।

विश्व तिब्बती चिकित्सा पद्धति का स्थान व महत्त्व-

तिब्बती चिकित्सा पद्धति का विश्व में एक अलग पहचान है। इसमें जड़ी बूटियों के साथ-साथ पशुओं के अंगों का भी प्रयोग होता है। इस विद्या से कैंसर जैसे असाध्य रोग का भी उपचार किया जाता है। इस पद्धति में हृदय को शरीर का राजा, फेफड़ा को मंत्री और जिगर को राजा की पत्नी माना जाता है। गुर्दा को शरीर रूपी राजभवन की गीढ़ माना जाता है। तिब्बती चिकित्सा को कई देशों के चिकित्सा का मिला हुआ रूप माना जाता है, विशेषकर भारतीय आयुर्वेद के सन्निकट है। जिस प्रकार दूध से प्रक्रियोपरन्त घृत प्राप्त होता है, उसी प्रकार तिब्बती चिकित्सा भी विश्व की चिकित्सा रूपी दूध का घृत है, जो अपनी खुशबू से सभी को आकर्षित करता है। ये पद्धति अस्थमा, ब्रोकाइन्टिस, अर्थराइटिस जैसी पुराने रोगों के लिए प्रभावशाली मानी गयी है।[4]

भारतीय और तिब्बती मिश्रित चिकित्सा पद्धति का भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विकास यथा जम्मूकाशमीर के लद्दाख क्षेत्र, लाहुल स्पिती (हिमाचल प्रदेश), सिक्किम, अरूणाचल प्रदेश, दार्जिलिंग आदि अर्थात हिमालयी क्षेत्रें में तिब्बती चिकित्सा पद्धति प्रचलित है। अन्य देशों यथा भूटान, नेपाल, चीन, मंगोलिया आदि में भी तिब्बती चिकित्सा पद्धति दिग्दर्शित होता है।[5]

निष्कर्ष

यद्यपि भारतीय चिकित्सा पद्धति तिब्बत में गया और वहाँ अन्य विचार धाराओं से मिलकर फूला-फला और आज वह चिकित्सा पद्धति में एक अपना स्थान बना लिया है, किन्तु भारतीय चिकित्सा पद्धति प्राचीन काल में जितना अधिक विकसित हो चुका था उतना आज भारत में दिग्दर्शित नहीं होता है। हम भारतीय को अपनी पुरानी संस्कृति का पुनरावलोकन करना यथेष्ट प्रतीत होता है।

आज वर्तमान में इतिहास संकलन संस्था इस बात की ओर अत्यधिक ध्यान दे रही है। आशा है भारतीय आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र एवं व्यवहारिक प्रयोग दोनों ही उच्चतम शिखर पर आरूढ़ होकर पुनः विश्व के पटल पर छा जायेगा।

।।ऊँ तत्सत।।

संदर्भ

1. पंडित भगवतद, भारतवर्ष का वृहद इतिहास प्रथम खण्ड तृतीय अध्याय-भारतीय इतिहास का विकृति के कारण, पृ. 57

2. अष्टांग हृदय सूत्र स्थान-2 पृ. 2 चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी पुनः मुद्रण संस्करण 2005

3. वैद्य भगवान दास, तिब्बतन मेडिसीन प्रकाशन- लाइब्रेरी ऑफ तिब्बतन वर्क्स एण्ड आर्चिव्स्, धर्मशाला, कागंड़ा, हिमाचल प्रदेश 1985

4. CRU hindi. cri. cn>special>chinatibet

5. भारतीय चिकित्सा पद्धति श्रृंगविषाण विधि नाम से प्रचलित था

6. CRI hindi. cri. cn>chapter-130602

7. https://www.knowledge plustv.com

बहुसंस्कृतिवाद : वैश्विक सांस्कृतिक समावेशन

कृष्ण कुमार*

''ये पूरब-पश्चिम मेरी आत्मा के ताने-बाने हैं
मैने एशिया की सतरंगी किरणों को अपनी दिशाओं के गिर्द
लपेट लिया
और मैं यूरोप और अमेरिका की नर्म आँच की धूम-छाँव पर
बहतु हौले-हौले नाच रहा हूँ
सब संस्कृतियाँ मेरे सरगम में विभोर हैं
क्योंकि मैं हृदय की सच्ची सुख-शांति का राग हूँ
बहुत आदिम, बहुत अभिनव।''

सामान्य अर्थ में बहुसंस्कृतिवाद किसी समाज में अलग-अलग सांस्कृतिक समूहों के लोगों का सहअस्तित्व है। यह संकल्पना 70 के दशक में तब उभरी जब अमेरिका और यूरोप में श्वेत संस्कृति के पक्ष में अन्य संस्कृतियों के समरूपीकरण के विरोधा में प्रतिसांस्कृतिक व मानवाधिकारवादी आन्दोलन हुए। इन्हीं आन्दोलनों से इस संकल्पना का जन्म हुआ। अमेरिका में बहुसंस्कृतिवाद के सन्दर्भ में दो धारणाएँ प्रचलित है, प्रथम-'मेल्टिंग पॉट, जिसमें विभिन्न संस्कृतियाँ/राष्ट्रीयताएँ अमेरिकी मूल्यों में आत्मसात् हो जाती है और उनकी अपनी कोई पहचान/विशिष्टता शेष नहीं रह जाती। दूसरी-'सलाद का प्याला', जहाँ एक राष्ट्र के भीतर विभिन्न संस्कृतियाँ/राष्ट्रीयताएँ अपने अलग-अलग रंग-रूपों के साथ अपनी पहचान बनाए रखती हैं। बहुसंस्कृतिवाद इस 'सलाद के प्याले' की धारणा का समर्थन करता है, क्योंकि इसका अस्तित्व इसी पर टिका है। एक अर्थ में बहुसंस्कृतिवाद उत्प्रवासन का उत्पाद है क्योंकि उत्प्रवासन के माध्यम से ही एक समाज बहुसंस्कृतिवादी चरित्र धारण करता है। राष्ट्रवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतन्त्र की तरह ही बहुसंस्कृतिवाद को भी एक पश्चिमी विचार माना जाता है। हालाँकि, पूर्वी समाजों का चरित्र भी सदियों से बहुसांस्कृतिक रहा है। बहुसंस्कृतिवाद समाज की बहुलतावादी बुनावट को स्वीकार करता है और समुदायों के भीतर विभिन्न आस्थाओं, जातीयताओं व विविध संस्कृतियों की मौजूदगी को सकारात्मक मानकर चलता

*असि. प्रोफेसर (राजनीति शास्त्र), महाराणा प्रताप पी.जी. कालेज, जंगल धूसड़, गोरखपुर

है। इसीलिये बहुसंस्कृतिवाद ऐसे राज्यों का विरोधी है, जहाँ किसी एक धर्म/संस्कृति को प्रभुत्व की हैसियत मिली हुई हो। बहुसंस्कृतिवाद बहुसंख्यकों से एक सक्रिय प्रकार की सहनशीलता की मांग करता है, जो एक राष्ट्र के भीतर विभिन्न संस्कृतियों के सहअस्तित्व के लिये आवश्यक है।

अगर एक अवधारणा के रूप में बहुसंस्कृतिवाद के उदय की बात करें तो यह विचार पश्चिम में ही पहले आया। इसके पीछे वहाँ की तत्त्कालीन परिस्थितियाँ जिम्मेदार थीं। जिसने द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् स्वतः ही यूरोप के देशों में श्रम की अत्यधिक मांग पैदा हुई क्योंकि यूरोप की अधिकांश कार्यशील जनसंख्या युद्ध की भेंट चढ़ गई तथा शहरों का विध्वंस हो गया। अतः पुनर्निर्माण कार्य तथा उद्योगों हेतु श्रमिकों की जरूरत आ पड़ी। इस जरूरत के पूर्तिस्वरूप अफ्रीका तथा एशिया मे लाए गए दास एवं श्रमिक यूरोप के देशों, खासकर फ्राँस, जर्मनी व ब्रिटेन में पहुँचने लगे। इनमें भी अल्जीरिया, मोरक्को व ट्यूनीशिया के लोग फ्राँस में, तुर्की के लोग जर्मनी में और दक्षिण एशियाई लोग ब्रिटेन में पहुँचे। ये तीनों ही समूह आज क्रमशः इन देशों की जनसंख्या के 10% से अधिक है। इन प्रवासियों की पहली पीढ़ी तो शान्तिपूर्वक अपने काम में लगी रही, हालाँकि उसे समय-समय पर कार्यस्थल पर उत्पीड़न, असमानता व नस्लभेदी व्यवहार का शिकार होना पड़ा। इन सभी वजहों से दूसरी पीढ़ी (जो अधिक शिक्षित व जागरूक थी) ने विद्रोह का झण्डा उठा लिया। हालाँकि उस समय (70 के दशक में) प्रचलित हुई पहचान की राजनीति और धार्मिक आचरण के बढ़ते आग्रहों ने भी इस परिस्थिति को तैयार करने में महती भूमिका निभाई। साथ ही, उसी समय इराक-ईरान युद्ध में पश्चिमी देशों ने जिस तरह से धर्म को राजनीति का साधन बनाया वह भी इसके लिये जिम्मेदार था। फलस्वरूप इन देशों के समाजों में व्यापक तनाव व हिंसा उत्पन्न हुई जो लम्बे समय तक चली। परिणामस्वरूप इन देशों ने अपने समाज के बहुसांस्कृतिक चरित्र को स्वीकार किया और इन समुदायों को आर्थिक-सामाजिक सुरक्षा के साथ स्थानीय स्तर पर राजनीतिक भागीदारी भी प्रदान की। तब से बहुसंस्कृतिवाद कुछ अमेरीकी (कनाडा, मैक्सिको) तथा यूरोपीय (नीदरलैण्ड, इंग्लैण्ड व जर्मनी) देशों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक हितों की सुरक्षा के साथ इस सांस्कृतिक विविधता को कायम रखने व इसे प्रोत्साहित करने तक विस्तृत है।

एक सैद्धान्तिक विमर्श के रूप में देखें तो कई विचारकों ने बहुसंस्कृतिवाद को परिभाषित करते हुए इसकी आवश्यकता को समझाया है। चार्ल्स टेलर, माइकल सैण्डर व मैकेन्टायर जैसे समाजशास्त्री बहुसंस्कृतिवाद को जरूरी मानते हैं। उनका तर्क है कि प्रत्येक समुदाय समुदाय सह-अस्तित्व में रहते हुए एक-दूसरे के मूल्यों से कुछ न कुछ लेकर समृद्ध होता रहता है, क्योंकि प्रत्येक संस्कृति में कुछ ऐसे तत्व हैं, जो मूल्यवान हैं, जिन्हें दूसरी संस्कृति के लोगों को भी जानना चाहिए। 1993 में प्रकाशित अपनी प्रख्यात पुस्तक 'दि पॉलिटिक्स ऑफ रिकग्निशन' में चार्ल्स टेलर ने माना था कि व्यक्ति अपनी पहचान समुदाय के भीतर ही हासिल करता है और इस तरह उसकी

सोच को विकसित व व्यापक बनाने में बहुसांस्कृतिक समुदायों की उपस्थिति आवश्यक है, अन्यथा वह एकरस, एकांगी व संकीर्ण सोच वाला कट्टर व्यक्ति बन सकता है। इसी सन्दर्भ में 'आयरिश मेरियन यंग' ने सबसे पहले नागरिकता को एकरूप व सार्वभौम ढाँचे में कसने के बजाय विभिन्न समूहों के अधिकारों व पहचानों को मान्यता देने की जरूरत पर बल दिया था। प्रसिद्ध भारतीय विचारक भीखू पारेख ने अपनी पुस्तक 'रीथिंकिंग मल्टीकल्चरलिज्म, कल्चरल डायवर्सिटी एंड पॉलिटिकल थ्योरी' में बहुसंस्कृतिवाद् की वकालत करते हुए इसे राजनीतिक विकेन्द्रीकरण व लोकतंत्र के लिये आवश्यक बताया है। वे बहुसंस्कृतिवाद् की एक ऐसी संकल्पना पर जोर देते हैं, जो उदारवाद के सद्गुणों अर्थात् माननीय गरिमा, सहिष्णुता व व्यावहारिक निष्पक्षता कायम रखने के साथ ही विविधा सांस्कृतिक पहचानों को मान्यता भी दे।

ब्रायन बैरी ने अपनी पुस्तक 'कल्चर एंड इक्वेलिटी' (2001) में बहुसंस्कृतिवाद के कुछ खतरों के प्रति भी आगाह किया है। उनकी प्रमुख चिन्ता यह है कि बहुसंस्कृतिवाद चूँकि समुदाय की सुरक्षा पर बहुत ध्यान देता है, इसलिए इसके तर्क बाहरी पाबन्दियों से समुदाय की हिफाजत की तरफदारी करते हैं, लेकिन इस क्रम में समुदाय के इस अधिकार को भी मान्यता दे बैठते हैं कि वह अपने सदस्यों पर आंतरिक प्रतिबन्ध लगा सकता है। यहीं पर इसका रूप विकृत हो जाता है, क्योंकि ये प्रतिबन्ध व्यक्ति की आलोचनात्मकता व रचनात्मक आजादी को नुकसान पहुँचाते हैं। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा कि सांस्कृतिक असमानताओं पर बहुत ज्यादा ध्यान देने की प्रवृत्ति के कारण सामाजिक व आर्थिक असमानता के सवाल कहीं पीछे छूट गए हैं। बैरी का एक और प्रमुख तर्क यह है कि बहुसंस्कृतिवाद् का यह मानना सही नहीं है कि मनुष्यों में दूसरी संस्कृतियों को अपनाने की क्षमता नहीं होती। इस सैद्धान्तिक सार-संक्षेप से एक बात तो साफ है कि बहुसंस्कृतिवाद की तमाम अच्छाइयों के साथ-साथ उसके कुछ खतरे भी सामने आ सकते हैं, यदि उसके साथ सावधानी नहीं बरती गई।

अपने आदर्श रूप में बहुसंस्कृतिवाद भले ही सह-अस्तित्व की भावना समाहित किये हुए है, किन्तु व्यावहारिक धरातल पर देखे तो अक्सर संस्कृतिजन्य टकराव देखने को मिल जाते है। वस्तुतः जब एक संस्कृति इतनी आक्रामक हो जाए कि वह अन्य सभी संस्कृतियों पर हावी हो जाए या हावी होने का प्रयास करे तो अन्य संस्कृतियां भी प्रत्युत्तर में उग्र हो जाती हैं। इस प्रकार उत्पन्न हुआ वैचारिक टकराव अक्सर हिंसक हो जाता है। यह टकराव कई बार राष्ट्र की सीमा के भीतर होता है, तो कई मौकों पर इसका स्वरूप अंतर्राष्ट्रीय भी होता है। साथ ही, कुछ घटनाओं को यदि किसी विशेष संदर्भ में निरूपित कर दिया जाए तो वे भी बहुसंस्कृतिवाद् की अवधारणा के विपरीत प्रतीत होने लगती है। उदाहरण के लिये सितम्बर, 2011 को न्यूयार्क के 'वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर' पर हुए आतंकी हमले के विरूद्ध अमेरिका व नाटो द्वारा शुरू किया गया 'आतंक के विरुद्ध युद्ध' का स्वरूप

कुछ इस प्रकार था कि इस्लामी कट्टरपंथियों ने इसे 'इस्लाम के विरूद्ध युद्ध' के रूप में प्रचारित किया। धीरे-धीरे यह भावना मजबूत होने लगी तथा अमेरिका व यूरोप के देशों में इससे उत्प्रेरित आतंकी घटनाएँ घटने लगी। हिंसा का स्वरूप इतना व्यापक हो गया कि ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने यहाँ तक कह दिया कि 'बहुसंस्कृतिवाद का सिद्धान्त अब किल हो चुका है।' इसके अतिरिक्त, यूरोप के ऐसे अनेक देश जो पूर्व में बहुसंस्कृतिवाद की नीति का पालन कर रहे थे, अब उससे अलग होकर एक विशिष्ट पहचान को वरीयता देने लगे। इसके प्रतिक्रियास्वरूप होने वाली घटनाएँ इसको तार्किकता भी प्रदान करती हैं।

वस्तुतः इस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया की एक श्रृंखला ही बन जाती है। जैसे-फ्रांस ने बहुसंख्यकवाद को बढ़ावा देने के लिये अल्पसंख्यकों के हितों में कटौती की तथा सार्वजनिक स्थलों पर बुर्का पहनने पर प्रतिबंध आरोपित करने जैसे कदम उठाए।

इसकी प्रतिक्रिया में शार्ली एब्दो जैसी घटना घटी। अब तो यूरोप में यह धारणा मजबूत होती जा रही है कि उत्प्रवासन के कारण ही ऐसी घटना घट रही है। हालाँकि यह धारणा बहुत तार्किक नहीं है, तथा इसके पीछे पूर्वाग्रह की भूमिका भी काफी मशक्त है। वस्तुतः वैसे राष्ट्र जो बहुसंस्कृतिवाद की अवधारणा को टकराव के रूप में देखते हैं, उनकी मान्यता किसी राष्ट्र को सांस्कृतिक एकता के खाँचे में फिट करने की होती है। इस विचार के समर्थक सांस्कृतिक प्रभावों की स्थानीय प्रकृति से चिंतित रहते हैं क्योंकि यह उन्हें राष्ट्रराज्य के निर्माण में बाधक लगता है। इसके अतिरिक्त, यदि राष्ट्रवादी भावना भी एकांगी और उग्र हो जाए तो वह समरूपीकरण को बढ़ावा देकर बहुसंस्कृतिवाद के मूल्य पर चोट करती है। दरअसल, जब राष्ट्र की अवधारणा समान नस्ल, भाषा इत्यादि पर टिकी होती है, तो वह अपने उग्र रूप में अपने से भिन्न पहचान वालों के साथ हिंसक व्यवहार तक को उचित ठहराती है। उदाहरण के लिये हिटलर ने आर्य नस्ल की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिये लाखों की संख्या में यहूदियों की हत्या करवा दी।

अब प्रश्न यह है कि बहुसंस्कृतिवाद् को अपनाया जाए या नहीं, और यदि अपनाया जाए तो किन सावधानियों के साथ? यह समस्या सिर्फ यूरोप की नहीं है बल्कि विश्व के अधिकांश देशों की है, जहाँ विभिन्न धर्मों/संस्कृतियों के लोग साथ-साथ रहते हैं। अतः बहुसांस्कृतिक समाज वाले देशों के लिये यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है, भारत भी इनमें से एक है। निःसंदेह बहुसंस्कृतिवाद को पूरी तरह से अपनाया और प्रोत्साहित किया जाना चाहिये, किन्तु इस क्रम में कुछ सावधानियाँ भी अपेक्षित है। समान नागरिक व राजनीतिक मूल्यों को प्रोत्साहन देना चाहिये और उनके आधार पर नागरिकों में परस्पर निकटता स्थापित करनी चाहिये। इस क्रम में भेदभाव बिल्कुल नहीं होना चाहिये। राज्य किसी व्यक्ति को ईसाई, मुसलमान, हिन्दू या फिर कैरेबियाई, अफ्रीकी व तुर्की की नजर से न देखकर सिर्फ नागरिक की नजर से देखे क्योंकि असन्तोष अन्याय और पक्षपात से पैदा होता है।

यदि राज्य सभी के लिये समदृष्टि का परिचय देगा तो निश्चित तौर पर असन्तोष व तनाव न्यूनतम हो जाएंगे।

किसी भी देश में बहुसंख्यक समुदाय की जिम्मेदारी अधिक होती है और होनी भी चाहिये। देश या समाज के बहुसंख्यक समुदाय को अधिक उदारता व सहिष्णुता का परिचय देना चाहिये। किसी भी देश को बहुसंख्यक धर्म के आधार पर परिभाषित करने की प्रवृत्ति से बचना होगा, क्योंकि कोई भी धर्म समरस इकाई नहीं होता, अपितु उसके भीतर भी कई विभाजन होते हैं। बहुसंस्कृतिवाद के लिये सबसे बड़ा खतरा है-साम्प्रदायिकता। राज्य को साम्प्रदायिकता के किसी भी रूप के प्रति कठोरतम रवैया अपनाना चाहिये। कई बार देखने में आता है कि राज्य अल्पसंख्यक-साम्प्रदायिकता के प्रति नरम रवैया अपनाता है, किन्तु ऐसा करने से बहुसंख्यक-साम्प्रदायिकता के प्रति भी उसका संघर्ष शिथिल हो जाता है और फिर साम्प्रदायिकता के दोनों रूप एक-दूसरे का पोषण करते हैं। इस प्रकार राज्य को दोनों प्रकार की साम्प्रदायिकता को समाप्त करना होगा। वैसे भी साम्प्रदायिकता किसी भी रूप में एक बहुसंस्कृतिवादी स्वरूप वाले देश/समाज के लिये बहुत अधिक विघटनकारी एवं वैमनस्य भाव फैलाने वाली होती है।

अल्पसंख्यकों के हितों का विशेष ध्यान रखना होगा किन्तु साम्प्रदायिकता के माध्यम से नहीं, अपितु कानूनी रक्षोपायों द्वारा तथा उनके लिये कुछ विशिष्ट योजनाएँ बनाकर।

अमेरिका व यूरोप जैसी वैश्विक शक्तियों को विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय मामलों में अनुचित हस्तक्षेप से बचना होगा। यदि हस्तक्षेप अनिवार्य हो तो इससे पूर्व संयुक्त राष्ट्र की स्वीकृति ली जाए। बहुसंस्कृतिवाद् मे संबंधित अधिकांश समस्याएँ इन शक्तियों के चयनात्मक हस्तक्षेप व स्वार्थ-साधना से पैदा हुई हैं। आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति की भी पड़ताल करनी होगी, क्योंकि कई बार यह समाज को समरूपता की ओर ले जाती है, जिससे कई बार बहुसंख्यक समाज के सांस्कृतिक मूल्य हावी होते जाते है और जब अल्पसंख्यकों द्वारा विरोध किया जाता है तो वे आधुनिकता विरोधी रवैया अपनाकर अपने सांस्कृतिक-धार्मिक अतीत में लौटते नजर आते हैं। इससे दोनों के बीच अन्तराल और तनाव बढ़ता है।

सारत: कहा जाता है कि बहुसंस्कृतिवाद देशों/समाजों के लिये आवश्यक है क्योंकि इसके तर्क सिर्फ ऐतिहासिक गलतियाँ सुधारने या भेदभाव खत्म करने तक ही सीमित नहीं है, अपितु विभिन्न संस्कृतियों के मध्य आपसी मेल-जोल और समझदारी बढ़े ताकि अपरिचय के कारण पैदा होने वाले पूर्वाग्रह और दुराग्रह खत्म हो सकें, बहुसांस्कृतिक समाज इसलिये भी आवश्यक है। चूँकि बहुसंस्कृतिवाद समुदायों की बहुलतावादी बुनावट को स्वीकार करते हुए बहुलतावादी नीतियों की मांग करता है और यह मांग लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त करती है। बहुसंस्कृतिवाद् मूलत: किसी एक धर्म/संस्कृति के समरूपीकरण के खिलाफ विकसित हुआ है। अत: यह किसी एक धर्म को

वर्चस्ववादी प्रवृत्ति के खिलाफ एक ढाल के रूप में जरूरी है। इसका मूल तर्क है कि हम दूसरे धर्मों/संस्कृतियों व विचारों का आदर करें जो मनुष्य बनने की प्राथमिक शर्त है। अतः यह हमारी मनुष्यता को सार्थक बनाता है। किन्तु बहुसंस्कृतिवाद के अंतर्गत अल्पसंख्यकों का विशेष ध्यान रखते समय हमें उनके अन्तर्गत आने वाले वंचित वर्गों यथा महिलाओं, बच्चों और अन्य वैचारिक समुदायों का भी ध्यान रखना होगा। साथ ही, उनके हितों पर पर्याप्त ध्यान देते हुए उनके तुष्टिकरण से भी बचना होगा। यह प्रयास भी करना होगा कि वे समाज की मुख्यधारा से अधिकाधिक जुड़ पाएँ।

सन्दर्भ

1. विल किमिलिका, मल्टीकल्चरल सिटिजनशिपः ए लिबरल थ्योरी ऑफ मायनोरिटी राईटस, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1995।
2. विल किमिलिका, इमीग्रेशन मल्टीकल्चारिस्म एंड द वेलफेयर स्टेट, एथिक्स एंड इंटरनेशनल अफेयर्स, 2006।
3. विल किमिलिका, कंटेम्परारी पालिटिकल फिलासफी : एन इंट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1990-2001।
4. विल किमिलिका, लिब्रिलिस्म कम्युनिटी एंड कल्चर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1989-1991।
5. सेन अमर्त्य, ''भारतीय अर्थतंत्र, इतिहास और संस्कृति'', राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, 2005।
6. कोठारी, रजनी, 'भारतीय राजनीति : कल और आज', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005 पृष्ठ-125।
7. सेन, अमर्त्य, ''भारत : विकास की दिशायें'', राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृष्ठ 198।
8. वरमानी आर.सी., समकालीन राजनीतिक सिद्धान्तों का परिचय, गीतांजली पब्लिसिंग, दिल्ली, 2015।
9. सईद, एस.एम., 'भारतीय राजनीतिक व्यवस्था', भारत बुक सेन्टर, लखनऊ, 2015, पृष्ठ-198।
10. इण्डिया 2017, ए रिफरेन्स मैनुअल, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

आसियान में भारत की चुनौतियां और सम्भावना

जितेन्द्र कुमार*

सारांश : दक्षिण पूर्वी एशियाई राष्ट्र संघ यानी आसियान 8 अगस्त 1967 को बना 10 राष्ट्रों का समूह है। पिछले दो दशकों में आसियान-भारत संबंधों ने कई मुकाम हासिल किये है। भारत अपनी विदेश नीति में 'लुक ईस्ट' विदेश नीति का पहला पड़ाव पार करते हुए 'एक्ट एशिया' विदेश नीति के पड़ाव में प्रवेश कर चुका है, 'एक्ट एशिया' नीति स्वतंत्रता के बाद की सबसे सफल विदेश नीति की अवधारणा बन गयी है। वर्ष 1992 में भारत आसियान का 'सेक्टरल डायलॉग पार्टनर और 1996 में पूर्ण डायलॉग पार्टनर बना। भारत 2005 में पूर्व एशिया सम्मेलन में शामिल हुआ। दोनों पक्षों ने 2012 में सामरिक सयोग समझौते पर हस्ताक्षर किया। अब आसियान और भारत सिर्फ सामरिक सहयोगी ही नहीं है बल्कि उन्होनें आपसी व्यापार को भी कई गुणा बढ़ाया है। आसियान के 10 देश और उसके छह सहयोगी चीन, जापान, दक्षिण कोरिया, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और भारत एक क्षेत्रिय मुक्त व्यापार समझौते को हकीकत बनाने के दिशा में साथ मिल कर काम कर रहे है। भारत के चीन समेत अन्य देशों के साथ आगे बढ़ने से इस समझौते की सफलता इस क्षेत्र में आपसी सहयोग को संघन बनायेगी।

मुख्य शब्द : भारत की विदेश नीति, आसियान, भारत आसियान वार्ता

प्रस्तावना

आसियान की स्थापना 1967 में बैंकाक घोषणा के द्वारा हुई। आरम्भ में 5 देशों का संगठन था जिसमें इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलीपींस, सिंगापुर तथा थाईलैण्ड शामिल थे। उस दौर में वियतनाम समस्याग्रस्त था तथा कंबोडिया, लाओस एवं वर्मा में राजनैतिक समस्याएं मौजूद थी। ऐसे में ये देश एकजुट होकर एक प्रकार की नीतियों के आधार पर अपने हितों को बचाए रखने का प्रयास कर रहे थे। शीतयुद्धोतर विश्व में इस संगठन का मुख्यालय जकार्ता में स्थित है। इस संगठन के आरम्भिक उद्देश्य में वस्तुतः मुक्त व्यापार की नीतियों को आधार बनाकर आर्थिक विकास हासिल करना शामिल था। यह माना गया था कि एक समान नीतियों के आधाार पर सबके जरूरतों की पूर्ति होगी। एक जैसी समस्या से ग्रस्त होने के कारण सभी देश एक दूसरे की मदद में सक्षम होंगे और

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, रक्षा एवं स्त्रातजिक विभाग, दी.द.उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

आपसी सहयोग का सबको लाभ होगा। अपनी स्थापना के आरंभिक दौर में तो कुछ खास हासिल न कर सका किन्तु वियतनाम संकट समाप्त होने के बाद इसका तेज विकास होता गया। 80 के दशक में इसने अभूतपूर्व प्रगति हासिल की एवं यह संगठन एशिया प्रशांत क्षेत्र के विकास का इंजन साबित हुआ। 90 के दशक में यह एक मजबूत आर्थिक संगठन के रूप में विश्व में उभरा। किन्तु 1997 के आसपास यह क्षेत्र एक वित्तीय संकट से गुजरा। इससे उबरने के प्रयास आरंभ हुए एवं वर्ष 2001 तक आशियान इस समस्या से बाहर निकल चुका था। वर्ष 2000 में आशियान + 3 की संरचना बनी तथा चीन, जापान एवं दक्षिण कोरिया को इसमें शामिल किया गया। आसियान भारत के साथ मुक्त व्यापार का लाभ बांटना चाहता है। इस संबंध में भारत तथा आसियान के बीच समझौता हो चुका है। भारत ''एक समय ऐसा भी रहा कि स्वयं दक्षिण-पूर्व एशिया के देश आन्तरिक राजनतिक दबावों के कारण अत्यंत व्यस्त रहे। इनमें से किसी के लिए भी उभयपक्षीय कसौटी पर भारत के साथ सम्बन्ध प्राथमिकता वाले नहीं थे। मलेशिया और सिंगापुर आपसी सम्बन्धों के सामान्यीकरण में व्यस्त रहे तो कम्यूचिया में 1970 में हिंसुक की तख्तापलट के साथ वंशनाशक आत्मघाती गृह युद्ध के आरम्भ ने हिन्द चीन के भविष्य पर कई प्रश्न चिन्ह लगा दिये। वियतनाम में गृहयुद्ध की समाप्ति और पुर्नएकीकरण से भी स्थित सहज एवं स्थिर नहीं हुई क्योंकि वियतनाम चीन सम्बन्धों में तनाव बुकाव चीन के लिए अत्यन्त चुनौतीपूर्ण हैं और इसलिए वह अपने सैन्य ताकत के बल पर हवाई अड्डे, बंदरगाह, रेलवे तंत्र के रूप में अपनी आधारभूत संरचना के विकास से अन्य राज्यों को अभीभूत करना चाहता है। दूसरी ओर पूर्व की ओर देखो नीति का प्रमुख लक्ष्य है अमरीका की दक्षिण पूर्व एशिया व एशिया प्रशांत क्षेत्र मे सैन्य श्रेष्ठता के साथ सामंजस्य बिठाना व चीन के प्रभाव को संतुलित रखना। यही सिद्धांत क्षेत्रीय सुरक्षा में भारत की भूमिका को भी प्रोत्साहित करती है। यद्यपि क्षेत्र में भारत की पहुंच है लेकिन अभी उसकी स्थित अमरीका चीन जापान की तुलना में कम प्रभावपूर्ण है।'' चीन का प्रभुत्व और भारत की चिंता चीन का जापान के साथ सेनकाकू आइलैण्ड विवाद, पैरासल द्वीप विवाद वियतनाम के साथ और पिराचंकरीफ विवाद फिलीपीन्स के साथ, इन मुद्दों ने क्षेत्र में तनाव का वातारवण बना रखा है। ऐसी स्थिति में भारत का पूर्वी देशों के साथ सम्बन्ध ने चीन के नाक में दम कर रखा है जिसके बदले में चीन भारत को उसके पड़ोसी देशों पाकिस्तान, बांग्लादेश के साथ सीमा विवाद में उलझाए रखना चाहता है। चीन कश्मीर मुद्दे पर पाकिस्तान का पक्षपोषण करता रहता है। चीन ने अपनी सैन्य क्षमता की उन्नतीकरण किया है जो हिन्दू महासागर तक पहुंच बना रहा है। इन सबके बावजूद भारत की हिंद महासागर में भौगोलिक स्थिति प्राकृति और प्राचीनकाल से धार्मिक सांस्कृतिक जुड़ाव भी मददगार होंगे। भारत को पूर्वी देशों के साथ सैन्य अभ्यास को गहन करना होगा ताकि चीन के दक्षिण प्रशांत और हिंद महासागर में बढ़ते प्रभुत्व को संतुलित किया जा सके।

शोध उद्देश्य

1. भारत और आसियान के संबंधो के यथार्थता को परखना।
2. भारत की विदेश नीति की पड़ताल।
3. भारत की लुक ईस्ट और एक्ट ईस्ट नीति की सार्थकता को परखना।

शोध प्रश्न

1. भारत की लुक ईम्ट व एक्ट ईस्ट नीति ने भारत के विकास में कितना योगदान दिया हैं?
2. क्या आसियान सही मायने में भारत के विकास में सहायक हुआ है?

आसियान का निर्माण

आसियान का पूरा नाम दक्षिण पूर्वी एशियाई राष्ट्र संघ है। यह इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलीपींस, सिंगापुर, थाईलैंड का एक प्रादेशिक संगठन है। 1967 दक्षिणी पूर्वी एशिया के पांच देशों ने क्षेत्रीय सहयोग के उद्देश्य से आसियान नामक एक असैनिक संगठन का निर्माण किया और 8 अगस्त 1967 को एक संधि-पत्र का हस्ताक्षर कर इसके निर्माण की औपचारिक घोषणा की। बाद में वियतनाम, कंबोडिया, म्यांमार, बुनेई एवं लाओस संगठन के सदस्य बन गए है। आसियान राष्ट्रों का सकल क्षेत्रफल 4.44 मिलियन वर्ग किमी. है और इसके सदस्य राष्ट्रों की सम्मिलित आबादी लगभग 625 मिलियन है जो कि विश्व जनसंख्या का लगभग 8.8 प्रतिशत है। आसियान देशों का 2.39 ट्रिलियन डॉलर का सकल घरेलू उत्पाद है जो उच्चतर विकास मार्ग पर अग्रसर है। भारत की पूर्व की ओर देखो की विदेश नीति भारत सरकार द्वारा 90 के दशक के प्रारंभ में अपनाई गई वह नीति जिसके तहत भारत की विदेश नीति में भारत के पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्धों को अधिक मजबूत करने पर जोर दिया गया है। इस नीति के तहत इस तथ्य को ध्यान में रखा गया है कि भारत के सम्बन्ध इन पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी देशों से ऐतिहासिक काल से रहे है तथा भारत इस क्षेत्र के देशों में सांस्कृतिक, व्यापारिक तथा वाणिज्यिक सम्बन्ध हमेशा से मजबूत रहे है। पूर्व की ओर देखो नीति का मुख्य आधार आर्थिक सम्बन्ध है तथा 1991 में तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिम्हा राव ने इस नीति की रूप रेखा तैयार कर यह कोशिश की थी कि भारत को अपने आर्थिक विकास के लिए कैसे अधिक विकसित देशों का सहारा मिल सकता है। यहां प्रारंभ में देश की मंशा यह थी कि आर्थिक विकास को ध्यान में रखकर पहले अपने पड़ोसी पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्व के उन एशियाई देशों से मजबूत आर्थिक सम्बन्ध सुनिश्चित किए जाएं, जो आर्थिक रूप मे अधिक समृद्ध है- जैसे सिंगापुर। फिर पश्चिम के समृद्ध देशों जैसे अमेरिका को इस कड़ी में जोड़ा जाये। लेकिन इस नीति का निर्माण करते समय भारत को यह समझ में आ गया कि एशिया के पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी देशों के साथ मजबूत आर्थिक सम्बन्ध भारत को लम्बे समय तक लाभ

दिलाते रहेंगे। यह भी समझा गया कि भारत के इस क्षेत्र के देशों से पुराने सम्बन्धों के चलते इन सम्बन्धों को दीर्घ-कालीन समय के लिए सुनिश्चित करना अधिक आसान होगा। कहा जा सकता है कि पूर्व की ओर देखो नीति मुख्यतः आर्थिक दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर बनाई गई एक नीति थी लेकिन समय के साथ इसमें तमाम कूटनीतिक तथा सामरिक विचारधाराओं का भी सम्मिश्रण होता गया और आज पूर्व की ओर देखो नीति भारत की विदेश नीति का एक बहुमुखी व सफल हथियार है।

पूर्व की ओर देखो नीति के कुछ प्रमुख बिन्दु

1. इस नीति में आर्थिक सम्बन्धों पर अधिाक जोर दिया गया है।
2. इस नीति को उस समय क्रियान्वित किया गया था जब भारत की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी।
3. इस नीति को बनाने में सिगांपुर के तत्कालीन प्रधानमंत्री ली कुआनयू की महत्वपूर्ण भूमिका थी।
4. इस नीति के द्वारा भारत, चीन के पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में बढ़ते प्रभाव को भी नियंत्रित करना चाहता था।
5. इस नीति को और विस्तार देते हुए भारत आसियान देशों से भी मजबूत आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करने पर जोर दे रहा है।
6. यह नीति अब सिर्फ एक आर्थिक नीति नहीं रह गई है, बल्कि लगातार बदलते वैश्विक पर्यावरण में यह एक सशक्त कूटनीतिक तथा सामरिक नीति बनकर उभरी है।

भारत के लिए आसियान का महत्व

आसियान के साथ मजबूत और बहुपक्षीय संबंधों पर भारत की एकाग्रता, स्वयं 1990 के दशक के प्रारंभ में विश्व के राजनैतिक और आर्थिक उत्थान परिदृश्य में महत्वपूर्ण परिवर्तनों, आर्थिक उदारीकरण की ओर भारत के स्वयं आगे बढ़ने का परिणाम हैं। भारत की आर्थिक नीति की खोज के फलस्वरूप हमारी 'लुक ईस्ट' नीति अस्तित्व में आई। वृहत्तर एशिया-प्रशांत क्षेत्र में आसियान का आर्थिक, राजनैतिक और सामरिक महत्व तथा व्यापार और निवेश में भारत की एक प्रमुख भागीदार बनने की क्षमता, हमारी नीति का एक महत्वपूर्ण कारक है। म्यांमार को शामिल करते हुए आसियान का पश्चिम की ओर निरंतर विस्तार, उसे हमारी सीमा तक लाया है। यह अब एशिया-प्रशांत केंद्रित आर्थिक धारा से भारत को जोड़ने के लिए भूसेतु प्रदान करता है जो 21वीं सदी के बाजार को साकार करेगा। आसियान, भारत की व्यवसायिक और तकनीकी क्षमता का लाभ उठाना चाहता है। भारत और आसियान के अपने सुरक्षा परिदृश्य में समानता है। इस क्षेत्र में शांति और स्थापित तथा कच्चे माल, माल और ऊर्जा आपूर्ति के निर्बाध आवागमन के लिए हिंद महासागर की

सुरक्षा में हमारा महत्वपूर्ण हित है। निरंतरता बनाए रखने के लिए हम मैंकाग-गंगा-सहयोग (एमजीसी) में सक्रिय रूप से लगे हुए है जो भारत और 5 एशियाई देशो-कंबोडिया, लाओस, म्यांमार, थाइलैंड और वियतनाम को एक साथ लाता है। बिम्सटेक हमारी लुक ईस्ट नीति का दूसरा महत्वपूर्ण स्तम्भ है जो नेपाल, भूटान, बंगलादेश, श्रीलंका, म्यामार और थाइलैंड को भारत के साथ लाता है। कार्यात्मक सहयोग के लिए मंच प्रदान करने के अतिरिक्त बिम्सटेक मुक्त व्यापार क्षेत्र पर भी वार्ता चल रही है।

भारत की आर्थिक उत्थान की खोज के फलस्वरूप हमारी 'लुक ईस्ट' नीति अस्तित्व में आई। आसियान भारत के लिए इसलिए महत्वपूर्ण है, क्यों कि वह हमारी 'एक्ट ईस्ट' पॉलिसी का हिस्सेदार है। भारत चाहता है कि इसके जरिये वह पूरे एशिया पैसिफिक आइलैंड में अपने बेहतर संबंधों को स्थापित करे। यहां सिर्फ इन्फ्रास्ट्रक्चर या व्यापारिक संबंधों की बात न हो, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक संबंधों की भी बात हो। यही वजह है कि पिछले दिनों चीन में आयोजित जी-20 के शिखर बैठक में शामिल होने में पहले प्रधानमंत्री मोदी दक्षिण एशियाई देश वियतनाम गये। तब वियतनाम के साथ भारत की स्ट्रेटजिक पार्टनशिप थी। लेकिन अब आसियान को ले कर भारत की कांप्रिहेंसिव स्ट्रेटजिक पार्टनरशिप है। नवंम्बर, 2014 में म्यांमार में आयोजित आसियान-भारत शिखर सम्मेलन में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने 'एक्ट ईस्ट' नीति की घोषणा की। मोदी की लाओस यात्रा भारत आसियान संबंधों में नयी ऊर्जा देने तथा आसियान और पूर्व एशिया सम्मेलन में भारत के स्थान को फिर से रेखांकित करने के लिहाज से बहुत सफल रही है। इंफ्रास्ट्रक्चर, जुड़ाव और व्यापार तथा निवेश के क्षेत्रों मे भारत और आसियान के बीच तेजी से काम होने की उम्मीद बनी है।

चीन का प्रभुत्व और भारत की चिंता

चीन का जापान के साथ सेनकाकू आइलैण्ड विवाद, पैरासल द्वीप विवाद वियतनाम के साथ और पिराचंकरीफ विवाद फिलीपीन्स के साथ, इन मुद्दों नें क्षेत्र में तनाव का वातारवण बना रखा है। ऐसी स्थिति में भारत पूर्वी देशों के साथ सम्बन्ध ने चीन के नाक में दम कर रखा है जिसके बदले में चीन भारत को उसके पड़ोसी देशों पाकिस्तान, बांग्लादेश के साथ सीमा विवाद में उलझाए रखना चाहता है। चीन कश्मीर मुद्दे पर पाकिस्तान का पक्षपोषण करता रहता है। चीन ने अपनी सैन्य क्षमता की उन्नतीकरण किया है जो हिन्द महासागर तक पहुंच बना रहा है। इन सबके बावजूद भारत की हिंद महासागर में भौगोलिक स्थिति प्राकृति बढ़त दिलाती है। भारत का आसियान देशों के साथ सांस्कृतिक और धार्मिक समरूपता होने से राष्ट्र सहानूभूतिपूर्ण के और नजदीकी रिश्ता महसूस करते हैं। इस कारण भारत धार्मिक एकरूपता की भावना को राजनतिक सामरिक सहयोग में बदल सकता है। भारत ने अपने विवेक का प्रयोग करते हुए थाईलैण्ड में सैनिक नियंत्रण पर कोई टिप्पणी नहीं की और वहां सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत राजतंत्र को महत्ता प्रदान की। यहां तक कि बांग्लादेश के

संबंध में भी भारत के वक्तव्य वहां पर मौजूदा राजनीतिक शून्यता के प्रति वास्तविक चिंता प्रकट करते हैं। 1988 में जब से म्यनमार में सैनिक शासन स्थापित हुआ है तब से यह देश पश्चिमी रोष का निशाना बन गया है। काफी व्यापक विचार-विमर्श के बाद म्यनमार के संबंध में नई दिल्ली की नीतियों ने दो तर्क प्रस्तुत किए सामान्य सीमा के साथ विद्रोहियो से निपटने के लिए सहयोग की आवश्यकता हैं तथा म्यनमार में चीन के बढ़ते प्रभाव को संतुलित करने की भी जरूरत है। हालांकि म्यनमार पर प्रतिबंध लागू करने की समकालीन पश्चिम नीतियों ने इस देश को दुर्भाग्यवश चीनी दायरे के निकट जाने को बाध्य कर दिया।

निष्कर्ष

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि भारत और पूर्वी देशों के साथ संबंध फलने-फूलने विकसित होने के अपार संभावना मौजूद है। खासकर आर्थिक, तकनीकी और सामरिक दृष्टिकोण से जहां सांस्कृतिक और धार्मिक संवेदनाएं नैसर्गिक समीपता की स्थापना करते हैं। आज पूर्वी एशिया के देश विश्व के आर्थिक विकास के इंजन बने हुए हैं। यही नहीं पूर्वी एशियाई देश दक्षिण एशिया के गरीब देशों और भारत के समृद्धि में एक बेहतर भूमिका निभा सकते हैं। खासकर एक एशियाई बाजार विकसित कर यूरोपीय युनियन की भांति। ऐसी पूरी संभावना है कि एशिया के ये देश और भारत विकसित और मजबूत बाजार और कुशल जनसंख्या के बल पर विश्व अर्थव्यवस्था के केन्द्र बनने जा रहे हैं। ऐसे में भारत को पूर्वी एशिया के देशों के साथ आर्थिक सहयोग और सामरिक साझेदारी को बढ़ावा देना समय की मांग है। ऐसे में राजनीतिक साझेदारी और प्राचीनकाल से धार्मिक सांस्कृतिक जुड़ाव भी मददगार होंगे। भारत को पूर्वी देशों के साथ सैन्य अभ्यास बढ़ाते हुए आर्थिक साझेदारी को गहन करना होगा ताकि चीन के दक्षिण प्रशांत और हिंद महासागर में बढ़ते प्रभुत्व को संतुलित किया जा सके।

संदर्भ

1. डॉ. पुष्पेष पंत, श्री पाल जैन - अंतराष्ट्रीय सम्बन्ध सिद्धान्त और व्यवहार, पेज 540।
2. डॉ. प्रमोद कुमार, आर्थिक राजनतिक लाभ हेतु भारत आसियान पुनः जुड़ाव वर्ल्ड फोकस जनवरी 2013, पेज 28।
3. तपन विश्वास, अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पेज 107।
4. डॉ. पुष्पेष पंत, श्री पाल जैन - अंतराष्ट्रीय सम्बन्ध सिद्धान्त और व्यवहार, पेज 540।
5. डॉ. प्रमोद कुमार, आर्थिक राजनतिक लाभ हेतु भारत आसियान पुनः जुड़ाव वर्ल्ड फोकस जनवरी 2013 पेज 28, 29।
6. वर्ल्ड फोकस जनवरी 2013
7. Prashant Kumar Sahu - Inhansing India, increasing engagment with ASEAN countries and China's concern, pp. 138.

नेपाल में दान परम्परा

(संस्कृत अभिलेखों के सन्दर्भ में)

कन्हैया सिंह *

प्रकृति प्रदत्त भौगोलिक स्थिति जहाँ भारत एवं नेपाल को एक सूत्र में बाँधे हुए परिलक्षित होती है, वहीं यहां की संस्कृति, धार्मिक भावना, भाषा एवं लिपि में भी एकात्मकता का भाव समाहित है। भारतीय उपमहाद्वीप के हिमालयी तलहटी में बसे हुए इस देश में मनुष्यों के आगमन का स्पष्ट प्रमाण 9000 ई.पू. में प्राप्त होता है। उल्लेखनीय है कि नेपाल की राजधानी काठमाण्डू उपत्यकता से नवपाषाण कालीन उपकरण प्राप्त हुए हैं, जो भारतीय सभ्यताओं के समकालीन प्रतीत होते हैं। भारतीय धार्मिक एवं लौकिक ग्रन्थों यथा- अष्टाध्यायी, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, पतंजलि का महाभाष्य आदि में नेपाल का उल्लेख होना निःसन्देह भारत एवं नेपाल की सतत अन्तः सांस्कृतिक प्रवाह को अभिव्यक्त करता है। यद्यपि दोनों देशों के इतिहास एवं संस्कृति पर अनेक शोध कार्य हो रहे हैं, तथापि नेपाली संस्कृत अभिलेखों के आलोक में व्यापक धार्मिक एकात्मकता विषय पर अध्ययन की अद्यावधि आवश्यकता है।

नेपाल एक दक्षिण एशियाई राष्ट्र है, जो चीन के दक्षिण में स्थित है। यहां के 81 प्रतिशत नागरिक हिन्दू हैं। यहां की राष्ट्रभाषा नेपाली है। नेपाल का कुल क्षेत्रफल 147181 वर्गमीटर है, जो विश्व का 91 वां हिस्सा है। नेपाल की राजधानी काठमांडू हैं। नेपाल शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों की मतैक्यता का अभाव है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि नेपाल का अर्थ ऋषियों की तपस्थली है। मुनियों द्वारा पालित होने के कारण नेपाल कहलाया। परन्तु डॉ. ग्रियर्सन एवं यंग ने नेपाल की मूलजाति 'नेवार' से नेपाल की व्युत्पत्ति स्वीकार किया। नेपाल शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्राप्त होता है।

नेपाल भारत का पड़ोसी देश है जो भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दोनों पक्षों से एकरूपता का परिचायक है। दोनों संस्कृतियों के परम्परागत मूल्य और पूर्व से प्रचलित परम्पराएं, संस्कार वर्तमान में संचारित हो रही है। दोनों संस्कृतियों की प्राकृतिक धरोहर, पुरातन इतिहास की परम्परा को निश्चित रूप से अपने प्रभाव से बिना प्रभावित किये न रहती हैं। प्रारम्भ से ही दोनों संस्कृतियों का अध्ययन

*पी.डी.एफ. यू.जी.सी., प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

एवं विश्लेषण होता रहा है। फिर भी दोनों संस्कृतियों के परस्पर सम्बन्धों के ऐतिहासिक विवेचन की महती आवश्यकता और प्रासंगिकता वर्तमान समय में शेष है।

अष्टाध्यायी, अर्थशास्त्र, महाभाष्य, महाभारत, वृहत्संहिता, राजतरंगिणी के अनुशीलन से नेपाली संस्कृति के विविध पक्षों पर प्रकाश पड़ता है।[1] विदेशी यात्रियों के यात्रा वृतांत में भी नेपाली संस्कृति के विविध पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। हरिषेण की प्रयागप्रशस्ति में भी नेपाल की सांस्कृतिक तथा भौगोलिक क्षेत्र से सम्बद्ध सूचनाएं प्राप्त होती है। वज्रसूंची, आचार्य मैत्रेय की प्रज्ञापारमिता टीका, आचार्य शान्तिदेव कृति बोधिचर्यावतार, आचार्य चन्द्रकीर्ति कृत महामायूरी, भिक्षुजिनरक्षित कृत सुभद्रावदान जैसे ग्रन्थों के द्वारा भारत एवं नेपाल की ऐतिहासिक सम्बन्धों की पर्याप्त सूचना प्राप्त होती है।[2]

एशिया के जिन देशों के साथ भारत के सहस्राब्दियों पूर्व घनिष्ठ सम्बन्ध रहे हैं उनमें नेपाल का नाम मुख्य है। नेपाल से भारत के प्रागैतिहासिक सम्बन्ध रहे हैं। भारत व नेपाल के मध्य सांस्कृतिक आदान-प्रदान कर प्रारम्भ भारत में मगध साम्राज्य की स्थापना के साथ हो जाता है। आर्थिक-राजनैतिक संघर्षों में सबल शत्रु से बचाव हेतु जो पक्ष नेपाल की उपत्यका में शरण लेता था वह अपने साथ भारतीय संस्कृति के तत्व ले जाता था, जो नेपाल के आर्यीकरण में सहायक हुआ।

नेपाल में मुख्यत: चार राजवंशों- नेमुनि (गोपाल), अहीर, किरात और लिच्छवि ने प्राचीन नेपाल के इतिहास में शासन किया। इनमें से दो अहीर और लिच्छवि राजवंश के आधिपत्य में भारतीय क्षेत्र भी थे। एशिया के दूसरे देशों की भाँति नेपाल से भारत के सम्बन्धों की सजीव एवं सुदृढ़ परम्परा बौद्ध धर्म के प्रवेश के बाद बनी। भगवान बुद्ध अपने शिष्यों के साथ नेपाल गये थे। नेपाल में सर्वप्रथम प्रवेश करने वाली जाति किरात मानी जाती है इनके राजा जितेदस्ती (520 ई.पू.) के समय भगवान बुद्ध नेपाल गये थे; इनके उपदेशों को सुनकर किरात जाति बौद्ध हो गयी थी। काठमाण्डू से 20 मील पूर्व स्वयंभू पर्वत के पश्चिम 'नमुरा' नामक स्थान पर 'शुच्छाग्र' नामक स्तूप है जिसे बुद्ध की नेपाल यात्रा का स्मारक माना जाता है, यहाँ बुद्ध ने निवास किया था।

भारत नेपाल सम्बन्धों में केवल राजनैतिक ही नही अपितु सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में भी समानताएं दृष्टिगोचर होती है। नेपाली जनमानस वेदों की सत्ता में विश्वास करता है तथा अधिकांश देवी-देवताओं एवं धार्मिक प्रवृत्तियों में भी समानता दिखायी पड़ती है। नेपाल में चौथी-पांचवीं शताब्दी ई. में अनेक राजाओं एवं राजवंशों द्वारा उत्कीर्ण किये गये अनेकों संस्कृति भाषी अभिलेख प्राप्त हुए हैं, इनमें से आठ दानपरक अभिलखों में भारतीय संस्कृति के अन्य पक्षों के साथ 'दान' का भी स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[3] इन दानपरक अभिलेखों का एक संक्षिप्त परिचय निम्नवत है-

ठीमी शिलालेख:- यह शिलालेख नेपाल की राजधानी काठमाण्डू और भादगांव के मध्य

ठीमी नामक ग्राम में स्थित हैं जो अंशुवर्मा नामक शासक के शासन काल का प्रतीत होता है। इस दानपरक अभिलेख की भाषा एवं लिपि की तुलनात्मक अध्ययनोंपरान्त इतिहासविद्, अंशुवर्मा कालीन स्वीकार करते हैं।

भूमिदान अभिलेखः- भूमिदान से सम्बन्धित यह अभिलेख छंगूनारायण मंदिर से प्राप्त हुआ है जो मंदिर के स्तम्भ के मूल आधार पर उत्कीर्ण पाया गया है। इस अभिलेख की लिपि आंशिक रूप से कुछ नवीन जान पड़ती है। पूर्ववर्ती अभिलेखों में प्रयुक्त लिपि की तुलना में इस अभिलेख की लिपि नवीनता को प्रदर्शित करती है। यह अभिलेख किसी भूमि-भाग की स्वीकृति के सम्बन्ध में उत्कीर्ण कराया गया था।

देवपाटन-नागेश्वर शिलालेखः- यह अभिलेख 44 सेंटीमीटर चौड़ाई लिए हुए प्रस्तर पर उत्कीर्ण है, जो शिवलिंग की आधार-शिला पर है। यह शिवलिंग देवपाटन में मृगस्थली के मार्ग में स्थित है। अभिलेख के उत्कीर्णन में संस्कृत व्याकरण का पर्याप्त ध्यान दिया गया है।

मंगलबाजार पाटन शिलालेखः- यह लेख एक चबूतरे पर उत्कीर्ण है। यह चबूतरा एक शिलाखण्ड है जो 160 सेंटीमीटर चौड़ा है। इस शिलाखण्ड पर दो हिरण एवं दो मानव का अंकन कलात्मक ढंग से दर्शाया गया है। दो हिरणों के बीच बैठे हुए एवं दो व्यक्तियों द्वारा अर्चित भगवान 'बु' का चित्र भी अंकित है। यह शिलालेख लिपि और भाषा-शैली की दृष्टि से अंशुवर्मा के समय की प्रतीत होती है।

पशुपतिरत्नेश्वरस्थापना दानक्षेत्राभिलेखः- दानात्मक संस्कृत अभिलेखों में इस अभिलेख का महत्वपूर्ण स्थान है। यह अभिलेख शिवलिंग के अधोभाग में उत्कीर्ण हैं शिवलिंग जिस पर यह लेख उत्कीर्ण है, पशुपतिनाथ मंदिर के समीप देवपाटन में पाठाटोले के निकट स्थित है।

इन्दलदेवी शिलालेखः- इन्दलदेवी शिलालेख एक पाषण मूर्ति के अधोभाग में पाया गया है। यह पाषण मूर्ति इन्दलदेवी मंदिर में स्थापित है। वर्तमान में इन्दलदेवी मंदिर नेपाल की गजधानी काठमाण्डू के विशाल नगर में स्थित है। इस शिलालेख में 399 अर्थात 477 की तिथि अंकित है।

शाडरभवन भूमि दानलेखः- पारमाभिमानिनी के पुत्र की भार्या आभीर जाति की गुण विख्यात और अपने पति को ही परमदेवता मानने वाली रानी ने अपने पति की पुण्य के लिए परममाननी पत्नी ने यहां से जाते हुए पुण्य दिवस पर धन कोश के द्वारा दानमान से ब्राह्मणों का अच्छी प्रकार पूजन करके अपने पुत्र की स्वीकृति से अनुपरमेश्वर नामक शंकर भगवान की स्थापना की। अनुपरमेश्वर नामक शंभु-भुवन का दान किया। देवो के देव भगवान अनुपरमेश्वर की दैनिक अर्चना एवं स्नानादि के लिए सुगंधित धूप, भेंट, प्रसाद, नैवेद्य तथा उसके जीर्णोद्धार के लिए स्थायी रूप से भूमि एवं आभूषणों का दान किया। पतिदेव के स्वर्ग में पुण्य प्राप्ति के लिए पुनीत अभीर

पत्नी ने आयुष्मान भौमगुप्त आदि सन्तान के भोग, आरोग्य और दीर्घायु की प्राप्ति के लिए तिम्पा ग्राम में कमलों से सुशोभित नदी के क्षेत्र में दो खण्ड दिये गये हैं।

संतुगल वनछेदन निषेध शिलालेखः- मानगृह से सबका कल्याण हो। असीमित गुणों के समुदाय के द्वारा प्रकाशित यशवाले, बप्पा के चरणों का ध्यान करने वाले, लिच्छविकुल की कीर्ति ध्वजा महाराज शिवदेव कुशलतापूर्वक कान्दुक ग्राम निवासियों, प्रधान मुखियाओं तथा ग्राम कुटुम्बियों से कुशल सम्भाषण करके सूचित करते हैं कि जैसे इस विज्ञप्ति के द्वारा शारदीयधनों से सुशोभित चन्द्रमुख वाले, अपने अपिरिमित बल पराक्रम के द्वारा असंख्य शत्रुओं को शामिल करने वाले, श्रीमहासामन्त अंशुवर्मा के द्वारा आप की अनुकम्पा के द्वारा, गौरवपूर्वक मेरे द्वारा यह आज्ञाशिलापट्ट पर लिखकर यह कृपा आप पर की गई है। आप के ग्राम निवासी यहां मे तोरणादि के पत्ते लेने के लिए, सर्वत्र वन-भूमि में जाते हुए और पत्ते लाते हुए मार्ग में प्रफोरनकोट निवासियों द्वारा अथवा अन्यों के द्वारा भी यहां दात्री, कैंची से वृक्षादि पर आधान न करे न करवायें। जो इस आज्ञा को न मानकर विपरीत करेगा या करायेगा वह बन्दी बनाया जाकर राजा की आज्ञा का अतिक्रमण करने के नियम के द्वारा दंण्डित होगा। आगे होने वाले राजाओं, धर्मगुरूओं और उनकी कृपा के अनुयायियों के द्वारा भी इस आज्ञा का पालन होना चाहिए।

उपर्युक्त नेपाली दान परक संस्कृत अभिलेखों की ही भांति भारतीय अभिलेखों में भी दान सम्बन्धी चर्चाएं प्राप्त होती हैं, जो दोनों संस्कृतियों के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध को प्रकाशित करती हैं। सम्राट अशोक के बरावर गुहा लेख जो गुहा दान का आरम्भिक रूप है, में उल्लेख है कि ''बारह वर्ष पूर्व अभिशिक्त हुए प्रियदर्शी राजा के द्वारा यह न्यग्रोध (नामक) गुफा आजीविकों को दी गयी।''[4] 'आजीविक' एक वैदिकेतर सम्प्रदाय का नाम था। इसके प्रवर्तक मक्खलि गोसाल थे, जो बुद्ध के समकालीन थे। इसी तरह के उल्लेख बरावर गुहालेख के द्वितीय एवं तृतीय लेख में भी है। द्वितीय लेख में कहा गया है कि द्वादश वर्ष से अभिषिक्त राजा प्रियदर्शी द्वारा खलतिक पर्वत पर यह गुफा आजीविकों को दी गयी।[5] अशोक के समय बरावर नामक की पहाड़ियां खलतिक पर्वत कहलाती थी। पतंजलि के महाभाष्य में खलतिक पर्वत का उल्लेख है। खारवेल के हाथीगुम्फा लेख में इसे गोरथगिरी कहा गया है। बरावर गुंहा लेख के तृतीय लेख में भी कहा गया है कि ''उन्नीस वर्ष से अभिषिक्त राजा प्रियदर्शी द्वारा वर्षाकाल में निवास के लिए सुप्रिय खलतिक पर्वत पर यह गुहा दी गयी।''[6] अशोक के पौत्र दशरथ के नागार्जुनी गुहालेख, जो संख्या में तीन है, दशरथ द्वारा आजीविकों को गुहादान देने का अल्लेख है। इसमें कहा गया है कि देवों के प्रिय दशरथ ने अभिषेक के बाद ही आजीविक महानुभावों को निवास के लिए, वह्रियका गुफा, गोपिका गुहा एवं बडथिका गुहा, जबतक चन्द्र और सूर्य हैं तबतक के लिए दान कर दी।[7] उड़ीसा में उदयगिरी और खंडगिरी की तथा औरंगावाद के समीप अजंता की गुहाओं से ऐसे गुंहा दान

सम्बंधी अनेक अभिलेख प्राप्त हुए है। इन अभिलेखों में सम्पूर्ण गुहा अथवा दो या दो अधिक कोठरियों का दान, चैत्य गुहाओं का दान, सभामण्डप, भोजनशाला अथवा पूजा मण्डप का दान, कुओं अथवा तालाबों का दान पथ दान, स्तूपदान, प्रतिमा दान, वेदिकादान अथवा पूजा आसन का दान उल्लिखित है।

मथुरा से प्राप्त हुविष्क के प्रस्तर अभिलेख में एक अक्षयनीवी (स्थायी धनराशि जिसके ब्याज से ही व्यय कार्य होता रहे) के रूप में दान का उल्लेख है। इस अभिलेख में उल्लिखित दान को प्राचीनिक नामक व्यक्ति ने, जो सरूकमाणा का पुत्र और खरासलेन तथा वकन का स्वामी था, ब्राह्मणों को दिया। दानकर्ता ने 550 पुराण (सिक्का) की अक्षयनीवि दो श्रेणियों में जमा की थी, जिसके ब्याज से प्रतिमाम शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को पुण्यशाला में 100 ब्राह्मणों को भोजन कराने का आदेश दिया। साथ ही प्रतिदिन अनाथ, भूखों और प्यासों के लिए 3 आढ़क सत्तू, एक पस्थ लवण, एक प्रस्थ शुक्त, तीन घटक रहित कलापक तथा पांच मल्लक पुण्यशाला के द्वार पर रखने का निर्देश है। इस दान का उद्देश्य शुद्ध पुण्य लाभ है, जिसमें दानकर्ता ने हुविष्क की प्रजा तथा सम्पूर्ण मानवमात्र को इस पुण्य का भागी होने की मंगल कामना की है।[8]

उषावदात के नासिक अभिलेख में भी दान की चर्चा है। इस अभिलेख में चार धर्मशाला, उद्यान, तालाब, कुएं, नावे, विश्रामगृह, पौधशालाएं आदि का निर्माण कराने व तीन सौ सहस्र गायें, सोलह ग्राम, प्रतिवर्ष सौ ब्राह्मणों का भोजन तथा बत्तीस सहस्र नारियल के मूल दान कराने का उल्लेख है।[9] गोन्दो फरनीज के तख्ते-ए-वाही पाषाणलेख में भी श्रद्धादान का उल्लेख है। इसमें कहा गया है कि महाराज गोन्दोफरनीज के (शासन के) 26वें वर्ष में सम्वतसर 103 के बैशाख मास के प्रथम दिन पुण्य शुक्ल पक्ष में बल स्वामी बोयन का वासगृह पुत्र सहित केनमिर बोयन का कुमार के सम्मान में, माता-पिता के सम्मान में श्रद्धादान है।[10] कुछ ताम्रपत्र अभिलेख भी उल्लेखनीय है जिसमें भूमि या गांव के दान का वर्णन है। जैसे पहाड़ पुर ताम्रपत्र अभिलेख, दामोदर गुप्त ताम्रपत्र अभिलेख, प्रभावती गुप्ता का पूना ताम्रपत्र अभिलेख, हर्ष का बांसखेडा ताम्रपत्र अभिलेख, वाकाटक वंश के ताम्रपत्र अभिलेख, राष्टकूटों, वल्लभी राजाओं, प्रतिहारों, गहड़वालों तथा चेदियों के दान सम्बन्धी ताम्रपत्र अभिलेख। स्कन्दगुप्त के भीतरी स्तम्भ लेख में भगवान की मूर्ति तथा गांव दोनों के पिता के पुण्यार्थ निर्दिष्ट किया गया है।[11] गौतमी वलश्री के नासिक गुहालेख में गौतमी पुत्र सातकर्णी की माता गौतमी बलश्री ने अपने पौत्र वासिष्ठी पुत्र पुलमावी के शासन के 19वें वर्ष की ग्रीष्म ऋतु के दूसरे पक्ष के 13वें दिन भद्रायणीय सम्प्रदाय के बौद्धभिक्षुओं को नासिक के त्रिरश्मि पर्वत की एक गुहा दान में थी। इस अभिलेख का मुख्य विषय गौतमीपुत्र सातकर्णी की उपलब्धियों एवं चरित्र तथा उसकी माता बलश्री द्वारा गुंहा वास दान का वर्णन है।[12]

भारत-नेपाल के राजनयिक सम्बन्धों के माथ धार्मिक सम्बन्धों में भी प्रगाढ़ता रही है जिसके

प्रत्यक्ष प्रमाण, भारत का रामेश्वरम तथा नेपाल का पशुपतिनाथ मन्दिर हैं। जहाँ एक ओर रामेश्वरम् मन्दिर के गर्भगृह तक प्रवेश करने के अधिकारी तीन व्यक्तियों में नेपाल की प्रजा भी एक है[13], तो दूसरी ओर पशुपतिनाथ की गणना भारत के द्वादश ज्योतिर्लिंगों में होती है। साथ ही नेपाल के लोगों के लिए भारत का बद्रीनाथ और केदारनाथ तथा भारत के लोगों के लिए नेपाल के मन्दिर, स्तूप तथा विहार समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार भारत और नेपाल को एकता के सूत्र में बांधने में धर्म का भी योगदान रहा है।

भारत और नेपाल के पारस्परिक सम्बन्धों की परम्परा को अधिक विश्वास और वास्तविकता से बताने वाले साधन भाषा और साहित्य हैं। नेपाल में शुंग काल से लेकर लिच्छवियों एवं मल्लों के काल तक के सभी अभिलेख संस्कृत में जो भारत से नेपाल पहुँची यही स्थिति पालि भाषा की भी रही जो संस्कृत से पहले ही नेपाल में प्रचलन में थी। नेपाल में सम्प्रति सुरक्षित पालि और संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर इतिहास के लिए अनेक नवीन तथ्यों को जुटाया जा सकता है।

उपरोक्त के अतिरिक्त अधीत काल में दोनों देशों की न्याय तथा प्रशासनिक[14] व्यवस्थाओं में पर्याप्त साम्यता दृष्टिगत होती है। अर्थव्यवस्था जैसे- कृषि,[15] पशुपालन व्यवसाय[16], मुद्राप्रणाली[17], व्यापार[18] इत्यादि में भी दोनों देशों में समानता दिखायी पड़ती है। नेपाल की सामाजिक स्थिति भी भारत के समान ही थी[19] यहाँ वर्ण व जातियों में समाज विभक्त था। पारिवारिक स्थिति तथा रहन-सहन भी भारत से मिलता-जुलता था।[20] भवन-निर्माण कल तथा मूर्तिकला में भी भारत और नेपाल में समानता दृष्टिगत होती है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत के समान नेपाल में भी दान की परम्परा थी। यह दान धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक प्रयोजनों से किय गये हैं। यह प्रयोजन भारत और नेपाल दोनों देशों में समान रूप से विद्यमान थी। इसकी पुष्टि दोनों देशों के अभिलेखिक साक्ष्यों से हो रही है। इससे दोनों देशों की सांस्कृतिक एकता स्पष्ट होती है।

सन्दर्भ सूची-

1. श्रीवास्तव, काज़ी प्रसाद, नेपाल की कहानी, आत्माराम एण्ड संस, नई दिल्ली, पृ. 5-6
2. गैरोला, वाचस्पति, भारत के उत्तरपूर्व सीमान्त देश, हिन्दी समिति सुचना विभाग, लखनऊ, पृ. 148
3. 'अरविंद' अग्रवाल, के.डी., इम्पारटेंस ऑफ नेपाली संस्कृत इन्सक्रिपशान्स, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान डीम्ड विश्वविद्यालय दिल्ली, 2010, पृ. 11
4. गुप्त, पी.एल., प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, बरावर गुहा लेख संख्या प्रथम
5. गुप्त, पी.एल., पूर्वोक्त, वरावर गुहा लेख संख्या द्वितीय
6. गुप्त, पी.एल., बरावर गुहा लेख संख्या तृतीय
7. गुप्त, पी.एल., पूर्वोक्त, दशरथ के नागार्जूनीगुहालेख संख्या प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय

8. गुप्त, पी.एल., पूर्वोक्त, हुविष्क का मथुरा प्रस्तर अभिलेख
9. गुप्त, पी.एल., पूर्वोक्त, उषावदात के नासिक अभिलेख
10. गुप्त, पी.एल., पूर्वोक्त, गोन्दोफरनीज का तख्ते-ए-वाही अभिलेख पाषाण
11. गुप्त, पी.एल., पूर्वोक्त, स्कन्दगुप्त का भीतरी स्तम्भ अभिलेख
12. गुप्त, पी.एल., पूर्वोक्त, गौतमी बलश्री का नासिक गुहालेख
13. गैरोला वाचस्पति, वही, पृ. 145.
14. तिवारी रामजी (सं.) - अभिलेख संग्रह 5, पृ. 7, पृ. 14, 41-42.
15. रेग्मी, ए.ने, पृ. 187.
16. जे.आर.ए.एस. 1880, पृ. 442.
17. वाटर्स, ट्रैवेल्स, पृ. 83.
18. रेग्मी, वही, पृ. 38.
19. चांगु नारायण अभिलेख (बोली-1)
20. रेग्मी, वही, पृ. 176.

थाईलैण्ड में रामकथा

मनीषा शरण*

जिस प्रकार आदिकाल से जनजीवन में व्याप्त आदि रामायण की पुरातन गाथा कालान्तर में वाल्मीकि द्वारा लिपिबद्ध हुई, भारत से हजारों मील की दूरी पर स्थित द्वीप-द्वीपान्तरों में भी राम, सीता और रावण की यह कथा रूपायित होती रही। दक्षिण-पूर्व एशिया में ऐतिहासिक उत्थान-पतन के क्रम में एक देश से दूसरे देश तक भ्रमण करती हुई यह रामकथा वहाँ की भौगोलिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप अपना स्वतंत्र स्वरूप ग्रहण करती रही। रामकथा वहाँ के इतिहास तथा धर्म सम्बन्धी विषमताओं में सांस्कृतिक ऐक्य तथा समन्वय की स्थापना करती आयी है। यह देशविशेष के जातीय जीवन में रमकर वहाँ की राष्ट्रीय कथा के रूप में समादृत होती रही।[1]

जब हम अपने पड़ोसी राष्ट्र थाईलैण्ड के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने अभ्युदय काल में स्याम नाम से प्रसिद्ध यह थाईलैण्ड आधुनिक युग में दक्षिण-पूर्व एशिया का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देश माना जाता है। थाईलैण्ड के सामाजिक, धार्मिक तथा कला का ऐतिहासिक इतिवृत्ति इस तथ्य का साक्षी है कि भारतीय संस्कृति का चतुरस्र विकास वहाँ अपने विशिष्ट गुण धर्मों से अन्वित विविध रूपों में पूर्णता के साथ हुआ था। चाहे स्थानों के नाम, नृत्य नाटक, भाषा, साहित्य और कला हो अथवा वहाँ के पर्व, उत्सव एवं समारोह हों, सबमें ब्राह्मण धर्म की विभिन्न अन्तर्धाराओं का अक्षुण्ण प्रवाह हमें देखने को मिलेगा यद्यपि ऊपरी सतह पर थाई बौद्धधर्म का ही वर्चस्व है किन्तु इन सबों का प्रेरणास्रोत पौराणिक कथाएँ और रामायण अथवा थाई रामकियेन है। थाईलैण्ड में रामायण की एक विशिष्ट परम्परा रही है। यहाँ विभिन्न कालखण्डों में अनेक रामायण ग्रन्थों की रचना हुई पर चक्री गजवंश का संस्थापक राजा राम प्रथम (1781-1808) द्वारा जिस रामायण की रचना हुई वह सर्वमान्य है जिसका अर्थ होता है राजकीर्ति। इसका कथानक मूलत: वाल्मीकीय रामायण पर आधारित है। पर इसमें थाईलैण्ड देश की संस्कृति, सभ्यता और परम्परा का प्रत्यक्ष प्रभाव भी हमें मिलता है।[2] राम प्रथम के पुत्र राम द्वितीय (1809-1824) रामकियेन का नाट्य रूपान्तरण भी किया जिससे यह काव्य सम्भ्रान्त घरानों और प्रबुद्ध वर्ग के लोगों के अतिरिक्त लोकमानस में काफी प्रचलित हो गया। इस काव्य में नैतिकता, सत्कर्म आदि की शिक्षा तो है ही, राज्य कर्मचारियों के कर्तव्य का भी उल्लेख है।

---

*103, श्री बैद्यनाथ अपार्टमेण्ट, शुक्ला कॉलोनी, हिनू, राँची (झारखण्ड)

आरम्भ में कथावाचक इस आदर्श कथा (रामकियेन) द्वारा जनता का मनोरंजन भी करते थे। वहाँ के स्थानीय कथावाचकों ने इसमें कई नये कथांशों को भी जोड़ा तथा नये-नये प्रसंगों की भी सर्जना की। अतः हम यह कह सकते हैं कि थाई रामायण स्वयं में नई सुन्दर मनोहारी, लोकरंजक बृहत्कथा बन गयी। जैसा कि हम जानते हैं कि राम प्रथम ने इसमें राज्याभिषेक और राजकीय उत्सवों को भी मिला दिया जिस कारण यह एक विशाल ग्रन्थ हो गया। राम द्वितीय ने, जो स्वयं भावुक हृदय कवि था, इसका संक्षिप्त संस्करण निकाला। इस रामकियेन का प्रभाव वहाँ के जनजीवन पर इतना व्यापक है कि प्रतिदिन के थाई जनजीवन पर रामकियेन की सूक्तियों का प्रयोग विशेष ध्यान आकर्षित करता है। रामकियेन के पढ़े बिना थाई साहित्य का परिचय अधूरा है। देश की राजधानी बैंकॉक स्थित एमरेल्ड बुद्ध मन्दिर के कोरिडोर की भित्तियाँ रामायण के रंगीन भित्तिचित्रों से अलंकृत हैं। दर्शक चाहे किसी भी अवस्था का क्यों न हों इन चित्रों के द्वारा रामायण की कथा को हृदयसात् करते नहीं थकते। यहाँ की चित्रकथा और वास्तुकला को सजाने के लिए रामायण के दृश्य सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। देश की जनता और राजाओं के मनोरंजन का यह प्रमुख स्रोत है। मुखौटे लगाकर खेले जाने वाले खोन नाटक रामायण की कथा द्वारा स्वयं तथा विदेशियों को भी आकर्षित करते हैं।

थाई रामकियेन की कथावस्तु का प्रारम्भ कहाँ से होता है- इतिहासकार एकमत नहीं हैं पर देश की जनता रामकियेन के प्रति अपार श्रद्धा रखती है। चित्रकला, वास्तुकला तथा भित्तिचित्रों पर रामकियेन की दृश्यावलियाँ आज भी हम देख सकते हैं। फिर भी उनमें थाई कलाकारों की कल्पना की उड़ान तथा भावाभिव्यक्ति की कोई सीमा नहीं। इन सभी चित्रों में राम की सशक्त वानरी सेना तथा रावण की राक्षसी सेना का चित्रण इतना सजीव और जीवन्त है जो अन्यत्र नहीं मिलता। बैंकॉक के अधिकांश बौद्ध मन्दिरों में रंगीन चित्रकारियों से सुसज्जित रामकथा के दृश्य हमें देखने को मिलते हैं। इन सभी मन्दिरों में सर्वाधिक उल्लेखनीय वट फ्रा जेतुवन है जहाँ 152 शिलोत्कीर्ण मूर्तियों की शृंखला का प्रमुख विषय सीताहरण है।[3] प्रोफेसर उपेन्द्र ठाकुर का ऐसा मानना है कि इन चित्रों की सजावट देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि थाईलैण्ड के सामान्य जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को भारतीय संस्कृति ने प्रभावित किया था चाहे वह वास्तुकला हो अथवा यांत्रिकी, धर्म अथवा राजनीति, नाट्य अथवा कलाएँ।[4]

थाई रामकियेन का दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य राम कथाओं के समान ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस रामकियेन की कथा में ही मूल कथा की व्यापकता तथा प्रासंगिक कथाओं के पूर्ण विकास के दर्शन होते हैं। कथा के अन्त में राम राज्य की प्रज़ंसा और रामकथा के पठन और वाचन से होने वाले आनन्द और पुण्य की चर्चा के द्वारा प्रभाव की परिपूर्णता बनी रहती है। थाईलैण्ड में चित्रकला और वास्तुकला को सजाने के लिए रामायण के दृश्य सर्वाधिक लोकप्रिय है ऐसा मनीषा शरण की अभिव्यक्ति है।[5]

थाईलैण्ड का राजनीतिक इतिहास तीन कालों में विभक्त है। प्रथम काल सुखोथाई काल के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसका प्रारम्भ 1275 ई. से होकर 1350 ई. तक का है। इस काल का सर्वप्रसिद्ध राजा रामकैमहेंग था जिसके अभिलेखों में श्रीराम का उल्लेख है। अयुथ्या काल जिसे हम अयोध्या काल के नाम से भी जानते हैं। इसका समय 1350 ई. से 1781 ई. है। इस काल के अनेक राजाओं ने थाईलैण्ड में रामकथा के प्रभावों को विभिन्न रूपों में दृष्टिगत कराया है जैसे साहित्य, चित्रकला, स्थापत्य कला, मूर्तिकला, नृत्य नाटिकाएँ एवं अन्य लोक प्रस्तुतियाँ। रामकियेन के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि थाईलैण्ड में 10 प्रकार के रामकियेन उपलब्ध थे। थाई समाज में रामकथा से प्रभावित कई आख्यानों पर आधारित लघु नृत्य नाटिकाएँ प्रचलित और लोकप्रिय थीं। इनके प्रदर्शनों में चमकदार रंगीन वेशभूषा और कलात्मक मुखौटों का प्रचुर प्रयोग होता था।[6]

थाई रामकियेन की कथा एवं रामायण या रामचरितमानस की कथाओं में हम कई प्रकार के अन्तर पाते हैं जो तत्कालीन थाई जनमानस की प्रवृत्ति और रुचि के अनुकूल है। इसलिए इस कथा में कई युद्धों और दु:खद प्रसंगों के स्थान पर सुखद आख्यानों का वर्णन हमें मिलता है। कई पात्रों के नाम रामायण के पात्रों से भिन्न हैं। रामकियेन में राजवंश, सम्भ्रान्त कुल एवं जनमानस की मान्यताओं और भावनाओं का जो वर्णन है वह उनकी वीरता, उदारता, सरलता और परिष्कृत साहित्यिक अभिरुचि का परिचय देता है। थाई रामकियेन में श्रीराम, फरान, सीता को सिदा, दशरथ को थोसरोत, रावण को थोसाकन्थ, विभीषण को फिफेक, लक्ष्मण को फ्रा लाक कहा गया है। जबकि हनुमान को हनुमान ही कहा गया है, पर रामायण के हनुमान और रामकियेन के हनुमान के कार्यों में हम भिन्नता पाते हैं। बैंकॉक के निकट ऐनसियन्ट सिटी में हम रामायण वाटिका और रामायण शाला को देख सकते हैं जिनमें रामायण के मनोरम चित्रवलियों को उत्कीर्ण कराया गया है जो पर्यटकों के आकर्षण का मुख्य केन्द्र माना जाता है।

रामकियेन के विषय में थाईवासियों की ऐसी मान्यता है कि रामकियेन शासक वर्ग, सम्भ्रान्त वर्ग, प्रशासक और सैनिक से लेकर सामान्य नागरिक और उसके परिवार के हर सदस्य के लिए उत्तम जीवन जीने की व्यावहारिक ज़िक्षा देता है।

सन्दर्भ:

1. वर्मा सुधा – आग्नेय एशिया में रामकथा, प्रस्तावना, गया, 1982
2. सदय, गोवर्द्धन प्रसाद – राम आख्यान, गया, 2002 की प्रस्तावना से
3. बादेत, जे.एम. – दि रामकियेन, कोदांसा इण्टरनेशनल लिमिटेड, 1971, पृ. 4
4. ठाकुर, उपेन्द्र – साहित्य और संस्कृति, आगरा, 1988, पृ. 116
5. शरण, मनीषा – थाईलैण्ड की सांस्कृतिक परम्पराएँ, पटना, 2004, पृ.
6. नारायण, अमरेन्द्र – 'थाईलैण्ड में रामायण का प्रभाव', दी कोर– भारत के पार भारत, नई दिल्ली, जनवरी 2017, पृ. 44

भारतीय राष्ट्रीयता के प्रसार में नाथ पंथ का योगदान

सचिन राय*

शोध सारांश : भारत प्राचीनकाल से ही राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टियों से एकात्मता के अखण्ड और सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध रहा है। समय चाहे वैदिककाल का रहा हो या उत्तर वैदिककाल का, रामायणकाल का रहा हो या महाभारत काल का, मौर्यकाल का हो या गुप्तकाल का, भारतीय वाङ्मय चाहे ऋग्वेद हो या अथर्ववेद, पुराण हो या शास्त्र, रामायण हो या महाभारत इन सभी में स्थान-स्थान पर ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जो इसकी प्राचीनता और एकात्मता की पुष्टि करते हैं। जिस राष्ट्र ने सदैव एक मजबूत और अखण्ड इकाई के रूप में अपनी पहचान को स्थापित किया हो उसे संकीर्ण राजनीतिक स्वार्थों के लिए क्षेत्रीय आधार पर बाँटना किसी राष्ट्रद्रोही षड्यंत्र से कम नहीं। पूर्वांचल प्रखर सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की मूल भूमि रही है। 'राष्ट्र', राष्ट्रीयता, 'देशप्रेम' एक परम पवित्र अवधारणा की अभिव्यक्ति करने वाले शब्द हैं। एक मानव समुदाय का एक राष्ट्र के साथ, शाश्वत अनुरक्ति का अटूट भावपूर्ण बन्धन ही उसकी राष्ट्रीयता है। एक मातृभूमि, समान इतिहास, परम्परा, संस्कृति, आदर्श, श्रद्धाकेन्द्र समान जीवन लक्ष्य, समान सुख-दुख, समान आशा आकांक्षा आदि भावों से राष्ट्रीयता प्रकट होती है। ये सभी लक्षण पूर्वांचल की संस्कृति में प्राचीन काल से ही विद्यमान है।

राष्ट्र अर्थात एक विशिष्ट भूमि, उसके प्रति नितान्त शुद्ध भावना रखकर, स्वयं को उसकी सन्तान रूप मे मानने वाला समुदाय, जो भविष्य के प्रति समान आकांक्षा रखने वाला हो, सभी प्रसंगों की स्मृतियां संस्कार रूप में समान रूप से विद्यमान हों, उस समुदाय को राष्ट्र रूप में पहचाना जाता है। राष्ट्र कुछ सम्प्रदायों अथवा जन समूहों का समुच्चय मात्र नहीं अपितु एक जीव मान इकाई है, जिसे जोड़-तोड़ कर नहीं बनाया जा सकता। इसका अपना व्यक्तित्व होता है, जो उसकी प्रकृति के आधार पर कालक्रम का परिणाम है। उसके घटकों में राष्ट्रीयता की यह अनुभूति मातृभूमि के प्रति भक्ति, उसके जन के प्रति आत्मीयता और उसकी संस्कृति के प्रति गौरव के भाव में प्रकट होती है।

महर्षि अरविन्द का कहना है कि सनातन धर्म ही हमारे लिये राष्ट्रीयता है। यह हिन्दू जाति सनातन धर्म को लेकर ही उत्पन्न हुयी है, उसी को लेकर चलती है और उसी को लेकर पनपती है। जब सनातन धर्म की हानि होती है तब इस जाति की भी अवनति होती है और

*पूर्व आई.सी.एच.आर. फेलो इतिहास विभाग, दी.द.उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

यदि सनातन धर्म का विनाश सम्भव होता तो इस जाति का भी विनाश सम्भव होता तो इस जाति का भी विनाश हो जाता। सनातन धर्म ही है राष्ट्रीयता। यही वह संदेश है जिसे मुझे और आपको सुनना है।

आज से लगभग 110 वर्ष पूर्व यही वह विचार था जिसने भारत को खड़ा कर दिया था। उसे आज पुनः स्मरण करना आवश्यक हो गया है। अपनी धार्मिक और आध्यात्मिक साधना के वैभव के लिये प्रसिद्ध भारत वर्ष में विशेष कर योग साधना के क्षेत्र में नाथ सम्प्रदाय और उनके योगियों का प्रमुख स्थान रहा है। नाथ सम्प्रदाय में किसी प्रकार का भेदभाव, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, जाति वर्ण का विभेद नहीं रहा है। नाथ सम्प्रदाय भारत का एक हिन्दू धार्मिक पन्थ रहा है। भारतीय संस्कृति एवं साधना के अनन्य साधकों का इतिहास ही भारत का यथार्थ इतिहास है। उनकी तपचर्या एवं दैनिक साधना ने ही भारत को भारत बनाया। और विश्वगुरु के रूप में भी प्रतिष्ठित किया।

वृहत्तर भारत का कोई नगर, नद-नदी, पर्वत, गुफा वन और शमशान नहीं जो उनकी साधना के प्रभाव से पवित्र स्थल न बन गया हो। इन सिद्धों, योगियों और मनीषियों ने अपनी साधना के प्रभाव से विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी भारत के सांस्कृतिक राष्ट्रीयता अखण्डता को कभी विनष्ट नहीं होने दिया।

बीज शब्द : राष्ट्र, राष्ट्रीयता, देशप्रेम, नाथ सम्प्रदाय, नाथपंथ, गोरक्षपीठ, बाबा गोरखनाथ, गम्भीरनाथ, दिग्विजयनाथ, अवेद्यनाथ, योगी आदित्यनाथ जी महाराज।

भारतीय संस्कृति की सर्वप्रमुख विशेषता है आत्मशुद्धि एवं स्वयंशुद्धिकरण की। इसी विशेषता के क्रम में जब वैदिक धर्म में विकार आया तो बौद्ध धर्म की और जब बौद्ध धर्म में विकार आया तो आदि शंकराचार्य और गुरु गोरक्षनाथ का प्रादुर्भाव हुआ। नाथ सम्प्रदाय के अनुसार भगवान गोरक्षनाथ सर्वकालिक हैं और सभी युग में भारत के अलग-अलग स्थानों पर विद्यमान रहे। मैं स्थानाभाव के कारण उस विस्तार में न जाकर वहाँ से उनकी भूमिका का उल्लेख करना चाहता हूँ जब भारत मुस्लिम आक्रान्ताओं से त्रस्त था और वैदिक धर्म खतरे में था उस समय गुरु मत्स्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य गुरु गोरक्षनाथ ने नाथ सम्प्रदाय को पुनर्जीवित किया।[1] प्रारम्भ में नाथ पंथ में कुछ निम्न जाति और जनजाति वाले लोग, कुछ वे लोग जो बौद्ध धर्म में चले गये थे या जिन्होंने जैन धर्म अपना लिया था और वापस हिन्दू धर्म में आना चाहते थे, कुछ उच्च ब्राह्मण, कुछ निम्न ब्राह्मण, कुछ इस्लाम धर्म से वापस हिन्दू धर्म में आने वाले लोग शामिल थे। इस तरह गुरु गोरक्षनाथ ने सभी धर्मों और वर्गों के लोगों को नाथ पंथ के माध्यम से पुनः हिन्दू धर्म में वापस लेकर न केवल हिन्दू धर्म के लिये बल्कि भारतीय राष्ट्रीयता के लिये बड़ा कार्य किया।

भक्ति आन्दोलन के दौरान अपने गोरखवाणी से गोरखनाथ ने लोक कल्याण के लिये समाज को एकसूत्र में बाँधने का कार्य किया।[2] नाथ संतों को 'अवधूत' भी कहा जाता है।[3] 'अवधूत' का

शाब्दिक अर्थ है- ऐसे संत जो बिना किसी कामना के ईश्वर की उपासना और समाज में समन्वय की स्थापना करते हैं। इस तरह नाथ संतों को अवधूत कहा जाना यह बताता है कि न केवल ईश्वर की भक्ति बल्कि समाज में समन्वय स्थापित करना भी एक मुख्य कार्य है। जो भारतीय राष्ट्रीयता का एक आवश्यक अंग है।

मेरे शोध पत्र का जो विषय है उसे आजादी के लड़ाई में नाथ योगियों के योगदान तथा राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण में उनकी भूमिका को देखना है। विद्यार्थी जीवन में ही महन्त दिग्विजयनाथ जी के हृदय में हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति के प्रति पूरी आस्था थी। योगिराज गम्भीरनाथजी के चरणों में बैठकर उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दू संस्कृति के मूल तत्वों को पहचानने का प्रयास किया। विद्यार्थी जीवन का धर्म-प्रेम सम्बन्धी कुछ घटनाएँ अविस्मरणीय हैं।

उनका काल खण्ड भारतीय पराधीनता का कठोरतम समय था। अंग्रेजी शासन की कठोरता और दमन की दुर्दमनीयता के कारण साधारण जनता में नौकरशाही के विरुद्ध आवाज उठाने का साहस न था। तथापि उस अवस्था में भी राष्ट्र से प्रेम रखने वाले लोगों की कमी न थी। विदेशी शासन सत्ता को उन्मूलित करके राष्ट्र को स्वाधीन बनाने का प्रयास करने वाले इन राष्ट्रभक्तों के दो वर्ग थे। एक वर्ग ऐसे लोगों का था, जो प्रत्यक्ष रूप से जनता के मध्य जागरण का संदेश देता रहता था। सरकारी अधिकारियों से मिलकर जनता के कष्टों को दूर करने का प्रयास करता था और आवश्यकता पड़ने पर सत्याग्रह आदि का भी सहारा लेता था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस आदि से संबंधित लोग इसी वर्ग के थे।[4]

दूसरे वर्ग में वे लोग थे, जो सरकारी कार्यों में व्यवधान उत्पन्न करते थे। सरकारी खजानों को लूटते, नौकरशाही के विभिन्न शिकंजों को तोड़कर जनशक्ति के बल पर विदेशी शासन सत्ता को दहला देने का प्रयास करते थे। ऐसे लोग गुप्त संगठनों के माध्यम से कार्य करते हुए स्वाधीनता प्राप्ति के लिए एक युगान्तरकारी क्रांति का बीजारोपण कर रहे थे। उन्होंने विद्यार्थी जीवन में दोनों वर्गों से संबंध स्थापित किया। उनके हृदय में हिन्दू धर्म, हिन्दू जाति, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू राष्ट्र के प्रति संस्कारत: अंकुरित उत्कट प्रेम और बलिदान की भावना उन्हें एक सही दिशा प्रदान करने के लिए जागरूक थी। उस काल में ही उन्होंने अनेक क्रांतिकारियों से भी संपर्क स्थापित किया था, जो यथा अवसर मन्दिर पर भी आया करते थे। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में भारतीय जनता की भावनाओं का नेतृत्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के हाथों में आ गया था। कांग्रेस में भी दो प्रकार के लोग थे। एक उग्रवादी, जो प्रत्यक्ष ध्वन्सात्मक कार्यवाही में विश्वास करते थे। दूसरे समझौतावादी, जो अपने नम्र विचारों के कारण 'नरम दल' के नाम से सम्बोधित किये जाते थे। उस समय कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गाँधी जैसे नरम दलीय नेता के हाथों में आ रहा था।[5]

सन् 1920 में महात्मा गाँधी का गोरखपुर आगमन हुआ। महात्मा गाँधी ने एक विशाल

जनसमूह को सम्बोधित किया।[6] महन्थ जी ने गाँधी जी के कार्यक्रम की निर्विघ्न समाप्ति के लिए 'वालेन्टियर कोर' का संगठन किया था और गाँधी जी के कार्यों को पूरा करने में तन-मन-धन से सहयोग किया। किन्तु थोड़े दिनों के पश्चात् चौरीचौरा की प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना ने यह सिद्ध कर दिया कि पूज्य महंत दिग्विजयनाथजी महात्मा गाँधी के समझौतावादी सिद्धान्तों के पोषक न थे। सन् 1921 में महात्मा गाँधी का राष्ट्रव्यापी असहयोग आंदोलन प्रारम्भ हुआ। राष्ट्र प्रेमी युवकों ने अपने अध्ययन-अध्यापन, नौकरी तथा व्यवसाय आदि का परित्याग कर असहयोग आंदोलन में भाग लिया। इस समय पूर्वी उत्तर प्रदेश में विशेष रूप से गोरखपुर, देवरिया जनपद में कांग्रेस का संगठन अत्यंत शक्तिहीन था। इन आंदोलनों से प्रभावित होकर सन् 1920 ई. में ही कालेज का परित्याग कर दिया था। उन्होंने असहयोग आंदोलन को सफल बनाने का पूरा प्रयास किया। गोरखपुर जिले में स्थित चौरीचौरा स्थान पर आंदोलन के खिलाफ जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, उससे नौकरशाही तो आतंकित हुई ही, महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक आंदोलन का रूप ही बदल गया।[7] उन्हें बहुत शीघ्र ही अपना आंदोलन वापस लेना पड़ा। इस चौरीचौरा काण्ड के अभियुक्तों को फांसी की सजा देने का निर्णय किया गया था। उनमें महन्थ जी भी थे। किन्तु साक्ष्य न होने के कारण वे मुक्त कर दिये गये।

इसी काल खण्ड में महन्थ जी हिन्दू महासभा की सदस्यता ग्रहण करते हैं। हिन्दू महासभा में रहते हुए नेहरू सरकार द्वारा रामलला के प्रकटीकरण के समय मूर्तियाँ न हटे इसके लिए महन्थ जी ने उस समय गोपाल सिंह विसारद जो हिन्दू महासभा के अध्यक्ष थे एवं रामचन्द्र परमहंस जी महाराज जो उस समय हिन्दू महासभा के नगर अध्यक्ष थे को न्यायालय में भेजना प्रारम्भ किया कानूनी खर्चा उपलब्ध कराने का कार्य दिग्विजयनाथ महाराज ही सहयोग से करवाते थे।

हिन्दू महासभा की सदस्यता ग्रहण करते ही महंतजी सभा के प्रमुख नेताओं के वर्ग में समादृत होने लगे। कांग्रेस में रहते हुए भी वे हिन्दू हितों की रक्षा के लिए तत्पर रहते थे। सन् 1934 के पूर्व उन्होंने कांग्रेस की उन नीतियों का विरोध किया था, जिनसे हिन्दू जाति और धर्म के ऊपर किसी प्रकार के आघात की आशंका थी। सन् 1931 में कांग्रेस ने भारतीय जनगणना का विरोध किया था। महंतजी ने कांग्रेस की उस अदूरदर्शिता की निंदा की और देश में हिन्दुओं की संख्या को कम दिखाये जाने से रोका। सन् 1930 के दशक में कांग्रेस ने साइमन कमीशन का विरोध किया। सन् 1945 में क्रिप्समिशन का भी बहिष्कार किया। महंतजी ने दोनों अवसरों पर कांग्रेस की नीतियों का खुलकर विरोध किया। देश के विभाजन के अवसर पर महंत जी की बातें अधिक दूरदर्शितापूर्ण सिद्ध हुई।

हिन्दू महासभा के मंच से महंतजी को मुक्त रूप से कार्य करने का अवसर मिला। एक वर्ष पश्चात् ही उन्होंने अखिल भारतीय हिन्दू महासभा के वार्षिक अधिवेशन में भाग लिया। उस अवसर पर उनके भाषणों की सबने सराहना की। उन्होंने एक साथ ही धार्मिक और राजनीतिक कार्यों को

अपने हाथ में लिया और कुशलतापूर्वक उनका निर्वाह किया। वे आगरा प्रांतीय हिन्दू महासभा के महामंत्री रहे। संयुक्त प्रांतीय हिन्दू महासभा के मंत्री और फिर अध्यक्ष चुने गये। सन् 1939 में डॉ. मुन्जे की अध्यक्षता में उन्होंने कमिश्नरी हिन्दू महासभा के अधिवेशन का आयोजन किया। इसी वर्ष उन्होंने अखिल भारत वर्षीय अवधूत भेष बारह पंथ योगी महासभा की स्थापना की। अनेक वर्षों तक वे उसके अध्यक्ष रहे। साधु सम्प्रदाय को उन्होंने नवीन दिशा प्रदान की। उन्होंने समस्त हिन्दू मंदिरों और मठों को धीरे-धीरे संगठित किया और उनमें एकसूत्रता लाने का सफल प्रयास किया।

सन् 1939 में दिल्ली शिव मंदिर सत्याग्रह में उन्होंने अपने गुरु भाई बाबा नौमीनाथ के नेतृत्व में सत्याग्रहियों का जत्था भेजा था। मुल्तान की जेल में पर्यात समय तक सजा भुगतने के बाद यह जत्था मुक्त हुआ। इस वर्ष फौज में मुसलमानों की भर्ती पर अधिक जोर दिया जा रहा था। मुहम्मद अली जिन्ना यह चाहते थे कि फौज में मुसलमानों की संख्या अधिक हो जाये। महंत जी ने इस नीति का सख्त विरोध किया। फलतः हिन्दुओं की भी भर्ती होती रही। ब्रिटिश शासन की दृष्टि पहले से ही महंतजी पर लगी हुई थी।

सन् 1942 में महात्मा गाँधी ने भारत छोड़ो आंदोलन का नेतृत्व किया। समूचा राष्ट्र विदेशी शासन सत्ता और विदेशी सामग्रियों के बहिष्कार के लिए उतावला हो रहा था। महंतजी को उस अवसर पर मुक्त न रहने देने के लिए नौकरशाही की ओर से उन पर अनेक आरोप लगाये गये। कहा गया कि नेपाल में राणा विरोधी आंदोलन के यही सूत्रधार हैं। यह भी कहा गया कि वे जर्मनी और जापान को अंग्रेजों के विरुद्ध मदद देते हैं। महंतजी के विरुद्ध वारंट निकाला गया।[8]

सन् 1944 में महंतजी ने प्रांतीय हिन्दू महासभा के वार्षिक अधिवेशन का आयोजन गोरखपुर में किया। डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने इस अधिवेशन को सम्बोधित किया था। सन् 1947 में भारत के विभाजन का प्रश्न भारतीय नेताओं के सम्मुख था। राजगोपालाचारी ने विभाजन के संबंध में अपना सुझाव प्रस्तुत किया जो सी आर फार्मूला के नाम से प्रसिद्ध है। महंतजी ने इस फार्मूले का डटकर विरोध किया। उन्होंने गोरखपुर में इसी वर्ष अखिल भारतवर्षीय हिन्दू महासभा का अधिवेशन बुलाया। नेहरू लियाकत पैक्ट के द्वारा हिन्दू हितों पर आघात होते देखकर उन्होंने उसका विरोध किया। शेख अब्दुल्ला द्वारा कश्मीर के अलग राज्य की मांग को उन्होंने राष्ट्रद्रोही कार्य कहा। गोवा, दमन, दीव की स्वाधीनता का उन्होंने पूर्ण समर्थन किया। उस समय महंतजी आगरा ..... स्वाधीनता संग्राम को उग्र बनाने के लिए उन्होंने स्वयंसेवकों का जत्था भेजा। गोरक्षा आंदोलन का देशव्यापी प्रचार किया। अयोध्या में रामजन्मभूमि के उद्धार कार्य में उन्होंने हार्दिक सहयोग प्रदान किया। सन् 1955-56 में मास्टर तारासिंह ने पृथक पंजाबी सूबे की मांग की। इस माँग को लेकर उन्होंने आमरण अनशन भी प्रारम्भ कर दिया।[9] महंत दिग्विजयनाथ जी महाराज राष्ट्रीय एकता को किसी भी मूल्य पर खंडित होते नहीं देखना चाहते थे। उन्होंने मास्टर तारा सिंह से भेंट की। परिस्थिति की गंभीरता और उसके भावी

परिणाम से परिचित कराया। अन्ततः मास्टर तारा सिंह ने अनशन त्याग दिया। इससे स्वतः ही ब्रह्मलीन महंतजी की निष्ठा, दूरदर्शिता, सूझबूझ एवं राजनीतिक प्रभाव का परिचय प्राप्त होता है।

देश के आजादी के बाद 11 मई सन् 1957 में दिल्ली में प्रथम स्वाधीनता संग्राम का शताब्दी समारोह मनाया गया।[10] इस समारोह की अध्यक्षता स्वातंत्रता सेनानी वीर सावरकर जी ने की थी। भारत की स्वतंत्रता के लिए आजीवन संघर्षशील महंतजी ने इस समारोह में अपना पूरा सहयोग प्रदान किया था। समारोह की सफलता का श्रेय चाहे जो ले किन्तु समारोह की सच्ची भावना के प्रतीक दो ही नेता थे, वीर सावरकर और महंत दिग्विजयनाथ जी।

सन् 1959 में काशी विश्वनाथ मंदिर उद्धार आंदोलन में उन्होंने भाग लिया। दफा 144 को भंग करने के आरोप में उनके अनेक सहकर्मी गिरफ्तार हो गये। महंतजी ने राज्यपाल को पत्र लिखकर मंदिर के उद्धार के औचित्य पर बल दिया। भारत गणराज्य की स्वदेशी सरकार हिन्दू कोड बिल, हिन्दू विवाह और तलाक तथा हिन्दू सम्पत्ति उत्तराधिकार अधिनियम जैसे कानूनों का निर्माण कर हिन्दू सत्वों का कुठाराघात कर रही थी। महंत जी ने इन बिलों का विरोध किया। सन् 1960 में हरिद्वार में अखिल भारतीय षट्दर्शन साधु सम्मेलन के अध्यक्ष पद से उन्होंने इन बिलों का विरोध किया और अपने ओजस्वी भाषणों से उनके विरुद्ध जनमत जागृत किया।

युगद्रष्टा महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज ने भारतीय मनीषियों की इन्हीं चिन्ताओं के समाधान तथा लार्ड मैकाले द्वारा उत्पन्न की गयी चुनौती से निपटने के लिए भारतीय शिक्षा पद्धति के अनुरूप शिक्षा का तन्त्र खड़ा करने की नींव 1932 ईस्वी में रख दी। महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज ने अपने वरेण्य गुरुदेव महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज के सपनों को साकार किया। उन्होंने अपनी निष्ठा, सुदीर्धकालीन तपस्या और अनुभव की पूँजी से उत्तरोत्तर समृद्ध और समुन्नत करते हुए महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् को वृहत्तर स्वरूप प्रदान किया। महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के अन्तर्गत आज साढ़े तीन दर्जन से अधिक शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थान, चिकित्सा संस्थान तथा सेवा संस्थान संचालित हो रहे हैं। प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक के परम्परागत शिक्षण संस्थानों के साथ-साथ तकनीकी एवं स्वास्थ्य शिक्षा के संस्थानों में हजारों छात्र-छात्राएँ रोजगारपरक पुस्तकीय पाठ्यक्रमों के साथ-साथ भारतीयता तथा सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ रहे हैं। प्रतिवर्ष 4 दिसम्बर से 10 दिसम्बर तक चलने वाले महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के संस्थापक सप्ताह/समारोह तथा 4 दिसम्बर को निकलने वाली गोरखपुर महानगर की सड़कों पर शोभा-यात्रा में सम्मिलित समस्त शिक्षण संस्थाओं के हजारों अनुशासित तथा राष्ट्रभक्ति से ओत-प्रोत युवा पीढ़ी को देखकर महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज के साकार स्वप्न का अनुभव किया जा सकता है। सप्ताह भर चलने वाले विविध प्रतियोगिताओं के माध्यम से विद्यार्थियों में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का भाव भरने वाले इस भव्य आयोजन का समारोप 10 दिसम्बर को होता है, जिसमें प्रतिवर्ष लगभग साढ़े छः सौ

छात्र-छात्राओं को छात्रवृत्ति एवं पुरस्कार प्रदान की जाती है तथा विद्यार्थियों के समग्र विकास में भारतीयता को सर्वाधिक महत्व देता है।[11]

बाह्य और आंतरिक दोनों दृष्टियों से सन् 1962 का वर्ष देश के लिए घोर संकट का समय था। उस समय तक पंचशील के सिद्धांतों पर आधारित हिन्दी-चीनी मैत्री का संबंध टूट चुका था। चीन ने लगभग 12 सहस्त्र वर्गमील भारतीय भूमि पर अधिकार कर लिया था। युद्ध की आशंका बलवती होती जा रही थी। इधर देश में बढ़ती हुई मुस्लिम साम्प्रदायिकता की भावना नयी दिशा की ओर संकेत कर रही थी। केरल में मुस्लिम लीग की स्थापना हो चुकी थी। पाकिस्तान के संकेतों पर देश में ही पंचमार्गियों का एक बहुत बड़ा वर्ग प्रस्तुत हो रहा था। सन् 1961 में अखिल भारतीय स्तर पर मुसलमानों को संगठित करने का प्रयास हुआ था। दिल्ली में उनकी एक विशाल सभा हुई।[12] भारत की किसी भी राजनीतिक संस्था ने इस साम्प्रदायिक सम्मेलन के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा। महंतजी ने उसी समय यह आशंका व्यक्त की कि यह मुस्लिम लीग के संगठन और देश के पुनर्विभाजन की नींव को मजबूत करने वाला है। उन्होंने उसका खुलकर विरोध किया। बाद में इसके परिणाम देखे जा सकते हैं।

महन्त अवेद्यनाथ जी की कृपाल सिंह विष्ट से सन्यासी बनकर 'अवेद्य' बनने की वास्तविक यात्रा नाथपंथ में दीक्षा के साथ प्रारम्भ हुई। 8 फरवरी सन् 1942 ई. को गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त दिग्विजयनाथ जी द्वारा इन्हें विधिवत दीक्षा देकर अपना शिष्य एवं उत्तराधिकारी घोषित कर दिया गया। वस्तुतः यह वर्ष भारत के स्वतंत्रता संग्राम का महत्त्वपूर्ण वर्ष था। महन्त दिग्विजयनाथ जी हिन्दू महासभा के माध्यम से आजादी की लड़ाई के एक सन्यासी योद्धा थे। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में भारत छोड़ो आन्दोलन की घोषणा से देशभर के आजादी के योद्धा हरकत में आ चुके थे। महन्त दिग्विजयनाथ जी भी नेपाल सहित इस सम्पूर्ण क्षेत्र में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध जन-जागरण अभियान में व्यस्त रहते थे तथा जर्मनी एवं जापान की मदद से सक्रिय आजाद फौज की सहायता कर रहे थे। परिणामतः अवेद्यनाथ जी को गोरक्षनाथ मन्दिर की व्यवस्था की पूर्ण जिम्मेवारी उठानी पड़ी। महन्त दिग्विजयनाथ जी के निर्देशन में वे गोरक्षनाथ मन्दिर से जुड़े विभिन्न धर्मस्थानों एवं संस्थानों की देख-रेख में निष्णात होते गये। महन्त दिग्विजयनाथ जी को स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय रहने का पूरा अवसर प्राप्त हुआ। परिणामतः 1944 में गोरखपुर में हिन्दू महासभा का ऐतिहासिक अधिवेशन सम्पन्न हुआ जिसमें श्यामा प्रसाद मुखर्जी भी सम्मिलित हुए।[13]

गोरक्षपीठ के पीठाधीश्वर ब्रह्मलीन महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज का बचपन का नाम कृपाल सिंह विष्ट था। आपके पिता श्री रायसिंह विष्ट हिमालय की गोद में बसे देवभूमि के पौड़ी गढ़वाल के काण्डी ग्राम के निवासी थे। 18 मई, 1919 को काण्डी ग्राम में जन्मे बालक को कौन जानता था कि एक दिन वह बालक देश-विदेश के हिन्दू धर्माचार्यों का नेतृत्व करेगा और सांस्कृतिक

राष्ट्रीयता के प्रति पूर्णतः समर्पित होकर राष्ट्रीय एकता-अखण्डता के उस यज्ञ का आचार्य बनेगा जिसकी प्रज्वलित अग्निशिखाओं से हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों, विशेषकर छुआछूत को भस्म करने की प्रेरणा एवं सन्देश प्राप्त होगा। किन्तु ईश्वर ने उन्हें भारतभूमि पर इसी महान कार्य हेतु भेजा था सो उसी अनुरूप परिस्थितियाँ करवट लेने लगीं।[14]

महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज का विराट व्यक्तित्व एक ऐसे मनीषी का विराट स्वरूप है जिसमें 'धर्म' का साक्षात् दर्शन होता है।[14(a)] उन्होंने भारतीय राजनीति को एक नयी दिशा दी; कथित धर्मनिरपेक्ष राजनीति की दूषित अवधारणा को नकारते हुए धर्माधिष्ठित राजनीति की प्रतिष्ठा की। भारतीय समाज में 'जातिवाद' की विषबेलि को समूल उखाड़ फेंका और बिना किसी की परवाह के सामाजिक समरसता का मूलमंत्र देकर भारतीय धर्मगुरुओं का नेतृत्व किया तथा छुआछूत जैसी कुरीतियों के विरुद्ध जन-जागरण अभियान छेड़कर हिन्दू समाज को एकता का पाठ पढ़ाया। शिक्षा और स्वास्थ्य को जन-सेवा का आधार बनाकर 'परहित सरिस धर्म नहि भाई' उक्ति को चरितार्थ किया। श्रीराम जन्मभूमि मुक्ति आन्दोलन के बहाने पंथों के नाम पर बँटे धर्मगुरुओं को एक मंच पर लाकर राष्ट्रीय स्वाभिमान तथा सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का शंखनाद किया।[15] महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज अपने युग के एक ऐसे महानायक थे जिन्होंने राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में एक साथ पुनर्जागरण का उद्घोष किया। भारत के बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के तथा इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में वे जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। वे ऐसे महायोगी थे जिनका अन्तःकरण समता में स्थित था, जिन्होंने जीवित अवस्था में ही सबको जीत लिया था, जो जीव-मुक्त हो गये हैं और ब्रह्म में ही स्थित हैं।[16]

महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज सामाजिक समरसता के प्रश्न पर सदैव स्पष्टवादी रहे। उन्होंने इस प्रश्न पर धर्माचार्यों, संत-महात्माओं, राजनीतिज्ञों, किसी को भी क्षमा नहीं किया, यदि वे हिन्दू समाज की एकता के विरुद्ध अथवा अस्पृश्यता के पक्ष में खड़े हुए।[17] महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज एक बार अपने प्रिय एवं पुरी के जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी निश्चलानन्द जी सरस्वती के खिलाफ भी तब तनकर खड़े हो गये जब उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय परिसर में आयोजित समारोह में एक विदुषी महिला को वेदपाठ करने पर रोक दिया। महन्त जी ने इस पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि यह कृत्य कहीं से भी न तो न्यायसंगत है और न ही धर्मानुसार उचित है। यह कृत्य महिला समाज का अपमान करता ही है इससे हिन्दुत्व भी लांछित होता है।[18] कोई भी समझदार व्यक्ति ऐसे कृत्य का समर्थन नहीं कर सकता। आज जबकि जातिवाद, ऊँच-नीच, छूत-अछूत आदि विकृतियों को शह देकर हिन्दू समाज को बाँटने एवं कमजोर करने का षडयन्त्र चल रहा है, जगद्गुरु शंकराचार्य द्वारा महिलाओं के वेदपाठ पर आपत्ति न तो धर्मानुकूल है और न ही युगानुकूल।

महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज द्वारा सामाजिक समरसता हेतु किये गये भगीरथ प्रयासों का

संकलन और उनका उल्लेख तो सम्भव नहीं है किन्तु पटना के महावीर मन्दिर में दलित (हरिजन) पुजारी की प्रतिष्ठा के प्रयास का इतिहास में हमेशा उल्लेख किया जाता रहेगा। बिहार जब जातिवादी-साम्प्रदायिक राजनीति के सर्वोच्च शिखर पर था; श्री लालू प्रसाद यादव के नेतृत्व में सत्ता पर काबिज रहने के लिए जातिवाद की विषबेलि को पूर्णतः खाद-पानी प्राप्त हो रहा था; बिहार एक प्रकार से जल रहा था, महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज ने इस जातिवादी राजनीति के सीने पर चढ़कर बिहार की राजधानी पटना में स्थित महावीर मन्दिर में सूर्यवंशी लाल उर्फ फलाहारी बाबा (हरिजन) को पुजारी नियुक्त कर एक बार फिर भारत की सामाजिक विखण्डनकारी राजनीति को आईना दिखा दिया।[19] समारोह के साथ पुजारी नियुक्त किया गया। इस समारोह में महन्त जी के साथ स्वामी चिन्मयानन्द जी महाराज भी उपस्थित हुए। महन्त अवेद्यनाथ जी महाराज के इस युग-परिवर्तनकारी प्रयास को दुनिया भर में सराहा गया। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि महंत जी के सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक कार्यों से देश की राष्ट्रीयता मजबूत हुई है।

जब सम्पूर्ण पूर्वी उत्तर प्रदेश जेहाद, धर्मान्तरण, नक्सली व माओवादी हिंसा, भ्रष्टाचार तथा अपराध की अराजकता में जकड़ा था उसी समय माघ शुक्ल 5 संवत् 2050 तदनुसार 15 फरवरी सन् 1994 की शुभ तिथि पर गोरक्षपीठाधीश्वर महंत अवेद्यनाथ जी महाराज ने अपने उत्तराधिकारी योगी आदित्यनाथ जी का दीक्षाभिषेक सम्पन्न किया।[20]

योगी आदित्यनाथ जी महाराज के व्यक्तित्व में मन्त और जननेता के गुणों का अद्भुत समन्वय है। ऐसा व्यक्तित्व बिरला ही होता हैं। यही कारण है कि एक तरफ जहाँ वे धर्म-संस्कृति के रक्षक के रूप में दिखते हैं तो दूसरी तरु वे जनसमस्याओं के समाधान हेतु संवेदनशील रहते हैं।[20(a)] सड़क, बिजली, पानी, कृषि आवास, दवाई और पढ़ाई आदि की समस्याओं से प्रतिदिन जूझती जनता के दर्द को समझने वाले जन-नेता के रूप में उनकी ख्याति के आज सभी साक्षी बन रहे हैं। भारत के उत्तर से लेकर दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक एक ही संस्कृति है। कुछ लोग कहते हैं कि भारत 1947 में बना। यह बातें वही लोग कहते हैं जिनके अन्दर जानकारी का अभाव है। रामायण और महाभारत काल से भारत रहा है। भारतीय संतों ने भारत की एकता और अखण्डता के लिए जो महत्वपूर्ण कार्य किये हैं उनमें गोरक्षपीठ का महत्वपूर्ण योगदान है उसे भुलाया नहीं जा सकता।[21]

योगी आदित्यनाथ जी महाराज का मानना है कि राष्ट्र निर्माण का आधार कभी मजहब हो ही नहीं सकता। उन्होंने कहा कि मजहब के आधार पर पाकिस्तान का निर्माण हुआ है जो अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। भारत का आधार संस्कृति है जो पूरे देश को एक सूत्र में बांधे हुए है। यही कारण है कि भारत की एकता हजारों साल से चली आ रही है। रामायण और महाभारत काल की अनेक घटनाएं देश की एकता के लिए उदाहरण पेश करती है। राम उत्तर के थे और दक्षिण को जोड़ने का कार्य करते हैं। महाराज जी का साफ कहना है कि भारतीय एकता और अखण्डता

के खिलाफ कोई भी षडयंत्र सफल नहीं होने दिया जाएगा। राजनीति मेरा पेशा नहीं है हिन्दुत्व मेरा मिशन है। भारतीय राष्ट्रीयता की जो रक्षा करेगा हम उसके साथ रहेगें। हमारे दादा गुरु भी इसी मंत्र के साथ राम मन्दिर आन्दोलन का शुरूआत किये थे।[22] महाराज जी का कहना है कि जायसी ने अपने यहाँ गोरखनाथ का मन्दिर बनाया था। गोरखनाथ में जाति और भाषा का बन्धन नहीं है। हर भाषा में उनका साहित्य मिलेगा। पूरे देश ही नहीं विदेशों में भी गोरखनाथ में मन्दिर है। त्रिपुरा के 35% असम 15% आबादी गोरखनाथ से जुड़े हैं। बंगाल, उड़ीसा, त्रिपुरा में बड़ी आबादी नाथ सम्प्रदाय की हैं।[23]

नाथ सम्प्रदाय के प्रमुख संतों में भारतीय राष्ट्रीयता के प्रवर्त्तक गोरक्ष पीठाधीश्वर महंत दिग्विजयनाथ जी के शब्दों में, ''हिन्दू राष्ट्रीयता एवं उसके वैज्ञानिक सांस्कृतिक आधार के प्रति हमारी अटूट निष्ठा है क्योंकि हमारा कांग्रेस की तरह यह विश्वास नहीं है कि भारत की राष्ट्रीयता एक रासायनिक घोल है जो हाइड्रोजन और आक्सीजन के सम्मिश्रण से पानी के समान स्वतः उत्पन्न हो जाता है। हमारा विश्वास है कि न तो ऐसी खिचड़ी राष्ट्रीयता ने भारत अथवा संसार के किसी अन्य देश में जन्म लिया और न भविष्य में ही इसके जन्म की कोई संभावना है।[24] यह एक मनोवैज्ञानिक असंभाविता है। महागज दिग्विजयनाथ जी के आलेखों, भाषणों को पढ़ने और सुनने से यह स्पष्ट होता है कि भारत की राष्ट्रीयता और हिन्दू राष्ट्रीयता एक दूसरे के पर्याय हैं। वे कहते थे कि हिन्दूत्व ही भारत की राष्ट्रीयता है। हिन्दू किसी धर्म पंथ का नाम नहीं है अपितु देश की राष्ट्रीयता का नाम है। हिन्दू नाम न तो साम्प्रदायिक है न राष्ट्र विरोधी यह युगों से इस देश की राष्ट्रीयता का बोधक बना हुआ है।[25] हम देखते हैं कि विश्व की सारी प्राचीन सभ्यतायें मिट चुकी है और संसार की महानतम शक्तियों के निरन्तर आघातों के पश्चात् भी हम विविध जलवायु, जातियों, भाषाओं और धार्मिक विश्वासों के होने पर भी एक राष्ट्र के रूप में जीवित हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भारत के साधु सन्तों, योगियों ने इस देश के राष्ट्रीय एकता को अक्षुण बनाये रखने के लिए भिन्न-भिन्न कालखण्डों में कार्य किया है।[26]

हिन्दूत्व ही वह शक्ति है जो हूण, शक, सीथियन आदि विभिन्न कबीलों को एक सूत्र में पिरो दिया तथा बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि अनेक भारत भूमि में उपजे धार्मिक विश्वास भी हिन्दू राष्ट्रीयता की शक्तिशाली धारा को मजबूत बनाने में अपना योगदान दिये। उनका मानना है कि किसी भी भूखण्ड में निवास करने वाले समूह को ही राष्ट्र कहा जाता है जो उस भूखण्ड की संस्कृति, सभ्यता, परम्परा, इतिहास, महापुरुषों को अपनी मातृभूमि का अंग मानता है और परस्पर एकता की अनुभूति रखता है। आज भारत के सामने जो भी ज्वलन्त समस्या है उसका निराकरण भारत के सांस्कृतिक राष्ट्रीयता में देखा जा सकता है। भारतीय राष्ट्रीयता की एकमात्र परिचायक हिन्दूत्व के खिलाफ विघटनकारी प्रवृत्तियाँ जो बढ़ रही हैं उसका हल सांस्कृतिक राष्ट्रीयता से ही संभव है।

इसके लिए साधु संत सन्यासियों ने अनादिकाल से इसकी रक्षा का प्रयास किया। भारत की सांस्कृतिक राष्ट्रीयता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए हम सभी भारतवासियों विशेषकर लेखकों, विद्वानों, साहित्यकारों और पत्रकारों को समाज को सही दिशा दिखाने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ सूची एवं व्याख्या

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी : नाथ सम्प्रदाय, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश इलाहाबाद।
2. हबकि न बोलिबा, हवकि न चालिबा, धीरे धारिबा पावं।
   गरब न करिबा सहज रहिबा, भणत गोरख रावं।।
3. डॉ. विष्णुदत्त राकेश : उत्तर भारत के निर्गुण पन्थ साहित्य का इतिहास।
4. 'युग पुरुष महंत दिग्विजयनाथ' संकलनकर्ता- योगी आदित्यनाथ, प्रकाशक-गोरखनाथ मंदिर गोरखपुर।
5. वही,
6. शाहिद अमीन, गाँधी निज महात्मा : गोरखपुर डिस्ट्रिक्ट, ईस्टर्न यू.पी., 1921-22 सबाल्टर्न स्टडीज लेख।
7. शाहिद अमीन, इवेंट, मेटाफर, मेमोरी 1922-1952 ओ.यू.पी. नई दिल्ली, 1995.
8. उस समय मि. यंग डी.आई.जी. के पद पर कार्य कर रहे थे। गोरखपुर में मि. वाडेल पुलिस अधीक्षक थे। यंग साहब हाकी के मैदान में महंतजी के साथ खेल चुके थे और उनके विचारों से पूर्णतया अवगत थे। उन्होंने अपने उत्तरदायित्व के आधार पर महंत जी के विरुद्ध भेजे गये वारंट को वापस करा दिया था।
9. रामचन्द्र गुहा, भारत : गांधी के बाद, 2016.
10. मंथन-2007 के द्वारे 1857 की दस्तक - देवेन्द्र स्वरूप।
11. 'युग पुरुष महंत दिग्विजयनाथ' वही।
12. अक्टूबर 1961 में महंत जी ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता का विरोध करने के लिए अखिल भारतीय हिन्दू सम्मेलन का आयोजन दिल्ली में किया। सम्मेलन की अध्यक्षता कलकत्ता उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति और बंगाल विधान सभा परिषद के सदस्य डॉ. चिंतामणि देशमुख ने भी भाग लिया था। जनरल करियप्पा ने भी इस सम्मेलन में उपस्थित होकर अपने राष्ट्र प्रेम का परिचय दिया था। महंतजी ने उस सम्मेलन को मुस्लिम साम्प्रदायिकता के बढ़ते हुए रोग के लिए एकमात्र औषधि कहा था।
13. महंत दिग्विजयनाथ, विकिपीडिया।
14. दैनिक भास्कर न्यूज, 13 सितम्बर 2014.
14.(a) जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्मतस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।
15. जी न्यूज डेस्क, 10 नवम्बर 2019.
16. उनके जीवन का उद्देश्य था- 'न त्वं कामये राज्यं, न स्वर्गं ना पुनर्भवम्। कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामर्तिनाशनम्।' अर्थात् ''हे प्रभो! मैं लोक जीवन में राजपाट पाने की कामना नहीं करता हूँ। मैं लोकोत्तर जीवन में स्वर्ग और मोक्ष पाने की ही कामना नहीं करता। मैं अपने लिये इन तमाम सुखों के बदले केवल प्राणिमात्र के कष्टों का निवारण ही चाहता हूँ।''

17. हिन्दुत्व साधना के शिखर सन्त महन्त अवेद्यनाथ। लेखक- स्वामी चिन्मयानन्द सरस्वती, पूर्व गृह राज्यमंत्री, भारत सरकार, मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर।

18. महन्त अवेद्यनाथ, विकिपीडिया।

19. वही।

20. 'योद्धा योगी – प्रवीण कुमार, मूल पुस्तक–योगी आदित्यनाथ : दॉ राइज आफ सैफरन सोशलिस्ट' इसका हिन्दी अनुवाद प्रेमशंकर मिश्र ने किया है।

20(a) पाञ्चजन्य–ऑर्गनाइजर ''संकट में हर नागरिक के साथ खड़ी है सरकार'' गत 24 मई 2020 को 'पाञ्चजन्य' और 'आर्गनाइजर' के तत्वावधान में देश के अनेक प्रसिद्ध मीडिया पोर्टल के सहयोग से 'वेबिनार' के माध्यम से एक संवाद आयोजित किया गया। विषय था- 'कोरोना संक्रमण काल सजगता से सफलता'' मुख्य वक्ता थे उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ। योगी आदित्यनाथ ने अपने वक्तव्य में प्रदेश में प्रशासनिक तत्परता से कोरोना संकट से जुड़े विभिन्न पहलुओं की सफलतापूर्वक सुलझाने के सूत्रों की चर्चा की।

21. वही।

22. न्यूज 18 हिंदी, 11 नवम्बर 2019- 'अयोध्या विवाद: राममंदिर आंदोलन से ये है गोरखनाथ मठ का कनेक्शन।

23. वही।

24. महंत दिग्विजयनाथ जी महाराज के भाषण का अंश, 'विकिपीडिया'।

25. श्री अरविन्द ''उत्तरपाड़ा भाषण'' (1909)।

26. डॉ. कल्यानी मल्लिक : नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना प्रणाली' कलकत्ता वि.वि. 1950।

कम्बुज देश का देवराज संप्रदाय

प्रभास कुमार झा*

आधुनिक दक्षिण-पूर्व एशिया का क्षेत्र प्राचीन काल में सुवर्ण भूमि और सुवर्ण द्वीप के नाम से जाना जाता है। कालांतर में इसे वृहत्तर भारत भी कहा जाने लगा। प्राचीन काल से ही भारत से ही विश्व के विभिन्न देशों के साथ भारतवर्ष का दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों से भी घनिष्ठ संबंध रहा है। दक्षिण पूर्व एशिया के अन्तर्गत भारत तथा चीन के मध्य स्थित वर्मा (म्यांमार) वियतनाम, कम्बोडिया, लाओस, थाईलैंड, हिन्देशिया, मलेशिया और फिलिपीन द्वीप-समूह को शामिल किया जाता है। विक्टर पुरसेल ने इसे भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से स्वयं में एक इकाई माना है।[1]

दक्षिण-पूर्व एशिया में अन्य भारतीय उपनिवेशों के समान कम्बुज देश में पौराणिक हिन्दू-धर्म (ब्राह्मण-धर्म) का प्रचलन था। ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध भाग में कौण्डिन्य नामक भारतीय ब्राह्मण ने सर्व प्रथम फुनान राज्य की स्थापना कम्बुज देश में की तथा उसके वंशजो ने छठी शताब्दी तक वहाँ शासक के साथ-साथ भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को फैलाया। कौण्डिन्य के साथ जो अन्य भारतीय औपनिवेशक भारत से गए थे भी जाति के ब्राह्मण थे।[2]

दक्षिण-पूर्व एशिया में अन्य भारतीय उपनिवेशों के समान कम्बुज देश में भी पौराणिक हिन्दू-धर्म का प्रचार था। चौथी-पाँचवी शताब्दी में कम्बुज देश गए ब्राह्मण जाति के लोग शिव-विष्णु आदि पौराणिक देवी देवताओं के उपासक थे।[3]

भारत के पौराणिक हिन्दू धर्म में कम्बुज देश में एक नये संप्रदाय का विकास हुआ जिसे देवराज मत या जगत्-ता-राज कहा जाता है। यह कई शताब्दियों तक कम्बुज का राजधर्म रहा। इस संप्रदाय का प्रारम्भ कम्बुज को एक विशाल राजनीतिक सूत्र में बांधने वाले महान वीर एवं शक्तिशाली शासक जयवर्मन द्वितीय के शासन काल में 9वीं शताब्दी में हुआ।[4]

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के प्रणेताओं ने राजा के दैवीय सिद्धांत अर्थात देवत्व की मान्यता दी है। राजा का महत्व देवता के समान होता है। इस मतानुसार राजा अनेक देवताओं के अंश से

*सहायक सचिव, मा.शि.प. उ.प्र., वाराणसी।

निर्मित होता है। कम्बुज में राजा के देवत्व की अवधारणा भी भारत से ली गई। कुषाण शासक कनिष्क-I की उपाधि 'देवपुत्र' से ही यहाँ देवराज की अवधारणा पनपी। साँची अभिलेख में प्रसिद्ध गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए देवराज का प्रयोग मिला है।[5]

उदयादित्य के स्डोक-कॉक-थॉम अभिलेख में देवराज संप्रदाय से संबंधित विस्तृत वर्णन मिलता है। कम्बुज के अभिलेख में देवपूत्र की जगह देवराज का प्रयोग किया गया है। स्डोक-कॉक-थॉम अभिलेख के अनुसार इस मत के शिक्षण के लिए शासक जयवर्मन द्वितीय द्वारा भारत से तंत्र-मंत्र में परम निष्णात हिरण्यदामन नामक तांत्रिक को ब्रह्मविनाशिख संस्कार करने हेतु आमंत्रित किया गया था।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि इस मत के उत्कर्ष के पीछे धार्मिक के अलावा राजनीतिक विचारधारा का भी योगदान रहा होगा। राजा का उद्देश्य इस विधान के द्वारा अपने राज्य में चक्रवर्ती सम्राट बनकर रहना था। हिरण्यदामन ने शिवकैवल्य को ब्रह्मविनाशिख, नयोत्तर, सम्मोह और शिरच्छेद की शिक्षा देकर उन्हें आदि से अंत तक बोलकर लिखवा दिया।[7] तथा देवराज की पूजा अनुष्ठान कैसे किया जाता है इसके बारे में भी सीखा दिया। हिरण्यदामन राजा से यह भी शपथ ले लिया कि जगत-ता-राज विधि का अनुष्ठान करने का कार्य केवल शिवकैवल्य परिवार से ही लिया जायेगा।

शिवकैवल्य ने यह विधि अपने सगे-संबंधियों को भी सिखलाया। इसके वंशज ही आगामी ढाई शताब्दियों तक देवराज के पुजारी अर्थात राजपुरोहित के पद पर बने रहे। इस प्रकार पुजारियों और पुरोहितों की श्रेणीबद्ध परंपरा प्रारम्भ हुई। कम्बुज राजा 'शैलेन्द्र' कहलाते थे और पुजारी-पुरोहित शैलेश (खलोग लोम) शैलाधिप या शैलाधिपति कहलाते थे। अनेक शैलाधिपों होते के ऊपर सर्व शैलाधिपति होते थे। इन अधिकारियों को धार्मिक प्रशासनिक तथा न्यायिक अधिकार प्राप्त थे। ये पद ब्राह्मण को दिये जाते जो तांत्रिक विधि से राजा का अभिषेक करते थे।

देवराज के पुजारी को भूमि (गाँव) मुद्रा दान में दिये जाते थे। क्षेत्र या राजधानी परिवर्तन के साथ देवराज की प्रतिमा एवं पुरोहित भी वहाँ जाते थे। फलतः देवराज के देवता महेन्द्र पर्वत (फुनोन कुलेन) से हरिहरालय और अंत में यशोधरपुर अंगकोर थोम पहुँच गए। इस प्रकार कहा जा सकता है कि देवराज भगवान को कम्बुज देश का संरक्षक मानकर इनकी पूजा कराते थे।

कम्बुज देश में देवराज का अभिप्रायः शिव से था। इसलिए जय वर्मन द्वितीय द्वारा कम्बुज में स्थापित इस देवराज नामक रहस्यात्मक संप्रदाय का शिवलिंग की पूजा अर्चन का घनिष्ठ संबंध था। इस संप्रदाय में जहाँ शिव के निवास स्थान कैलाश पर्वत के प्रतीक के रूप में किसी ऊँचे स्थान या पर्वत पर शिवलिंग को प्रतिस्थापित किया जाता था। साथ ही वहाँ पर राजा तथा उसके परिवार के निकटम अन्य व्यक्तियों की भी मूर्तियाँ स्थापित की जाती थी। कम्बुज देश में राजा की देवता के रूप में पूजा की जाती थी। ऐसी भी परंपरा देखने को मिलती है कि मृत्यु के उपरांत राजा को

एक ऐसा नाम दे दिया जाता था जिससे यह ज्ञात हो कि उसने देवत्व की प्राप्ति कर ली है। मृत्यु के उपरान्त राजा हर्षवर्मन प्रथम 'परम रूद्रलोक', जय वर्मन चतुर्थ को 'परम शिव पाद' हर्षवर्मन द्वितीय को 'ब्रह्मलोक', सूर्यवर्मन प्रथम को निर्वाणपद, जय वर्मन सप्तम को महापरमसौगात के नाम प्रदान किये जाने का उल्लेख वहाँ के अभिलेखों में मिलता है। इन राजाओं की देव मूर्ति बनाकर उन्हें देवराज शिव के लिंग के समीप मंदिर में स्थापित कर उनकी पूजा की जाती थी। राजाओं के साथ-साथ उनके पूर्वजों तथा विशिष्ट कतिपय जनों के नाम जो देव मूर्तियाँ बनाया जाती थी। उनकी मुखाकृतियाँ भी उन्हीं के समान होती थी।

इलियट के मतानुसार सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया में पूर्वजों की उपसना धर्म का अंग बन गया था। उनका पूर्ण विश्वास था कि ईश्वर मनुष्य रूप में पृथ्वी पर अवतरित होते हैं और उसी मूर्ति द्वारा देवराज की उपासना की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट को देवत्व स्वरूप प्रदान कर धर्म और राष्ट्र का एकीकरण किया गया।

हम कह सकते है कि देवराज संप्रदाय की पूजा विधि का मूल स्रोत भारत ही था और वहाँ के शैव-धर्म के एक तांत्रिक मत से ही उसको लिया गया था। देवराज संप्रदाय के अन्तर्गत बहुत सी धार्मिक भावनाओं का समावेश किया गया था। जिसका मुख्य उद्देश्य सम्राट को दैवीय स्वरूप देना तथा पितरों की उपासना भी थी।

संदर्भ-ग्रन्थ

1. साउथ एण्ड ईस्ट एशिया, पृष्ठ-2
2. शरण, महेश कुमार, कम्बुज देश का राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ-137
3. विद्यालंकार, सत्यकेतु, दक्षिण पूर्वी और दक्षिणी एशिया में भारतीय संस्कृति, पृष्ठ-179
4. वही, दक्षिण पूर्वी और दक्षिणी एशिया में भारतीय संस्कृति, पृष्ठ-137
5. पांथरी, शैलेन्द्र, दक्षिण पूर्व एशिया, पृष्ठ-48
6. शरण, महेश कुमार, कम्बुज देश का राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ-148
7. पांथरी, शैलेन्द्र, दक्षिण पूर्व एशिया, पृष्ठ-49

Indian Buddhism Survives in South-East Asia

Mahesh Kumar Sharan*

Spread of Buddhism in South-East Asia offers examples of unique achievement in the field of culture. After a brief survey of South-East Asian history, in all its aspects, one can realize what a great similarity exists between India and South-East Asian countries. These neighbouring regions of India were so highly Indianised that Arab travellers in the 10th century A.D. considered them as an inseparable part of India. It is not a matter of mere Indian influence which somehow travelled abroad rather it is a complete migration of Indian culture and idealogy with all its characteristic details.

As we know that the ancient Indian established colonies in South-East Asia not by force of arms but by peaceful commercial contacts and religious activities. The study of the spread of Indian culture and its transformation into strange and new but adorable form is specially worthy of study by scholars from India who should more and more consider this field to focus their attention.[1]

There is no denying the fact that Buddhism came to occupy a very prominent position in and outside India. It greatly influenced the Indian thoughts for several countries and contributed largely to the growth of a huge mass of literature in Pali and Sanskrit. The fact should not be lost sight of that from the 3rd century B.C. to the 12th century A.D., Buddhism moulded thoughts, ideals and literatures of entire South-East Asia. History of Buddhism is on this account, not only a story of the growth of a great civilization but also a story of cultural contacts through the medium of expanding civilization between the different groups of the people in these regions.

From its origin in India, Buddhism spread far and wide to various parts of the world. At one time, it was the largest world religion commanding one-fourth of the total world population. As such it was one of the greatest civilizing forces the world has known. As H.G. Wells puts it "Buddhism has done more for the advance of world civilization than any other influence in the chronicles of mankind.[2]

*Aparajita, 26R, Bank Colony, Padari Bazar, Gorakhpur, Mob. 6393771493

The ideals which Buddha upheld for the humanity were, however, so powerful that in due course almost whole of Asia accepted them as the guiding principles of human existence. These ideals represent a society based on the principles of equality, justice and democratic norms, free from the prejudice of caste and birth. A society in which every man is empowered to work out his material and moral salvation without the intermediary of a priesthood or privileged class.[3]

The people living beyond the valley of Ganga in the present day Burma, Thailand, Cambodia, Laos, Vietnam, Singapore, Indonesia and the Philippines found the message of the Buddha acceptable to them. They practiced those ideals by their own choice. The peninsular South-East Asia, extending from the Burma to Vietnam was called the Suvarnabhoomi or the land of gold in ancient Indian literature. In the 3rd century B.C., the third Mauryan king Ashoka, the great sent a mission to the capital of the land of gold to propagate the message of the Buddha. The mission helped in the building the first stupa in the area.

Burma

The Burmese historians claim that the main centre of Suvarnabhoomi was in Burma where the mission of Ashoka headed bu Uttara and Sona – the two Mahatheras landed. The Thai historians accord this honour to the small town of Nakhon Pathom (nagar pratham), near Bangkok. They assert that the first stupa was built at this place. Ashoka is held in high honour in these countries and remembered gratefully for sharing Buddha's wisdom with the fraternity of Asia. So it was a direct transmission from India to Burma in the Hinayana form of Buddhism and this planted deep roots in the country. Later on Mahayana thought gradually entered the country and the controversies between Mahayana and Hinyana were very sharp. In the end, he Mahayana form of Buddhist thought lost all influence in Burma and up through the present day it is Hinayana Buddhism that holds sway in the country. Moreover, Burma is a purely Buddhist country.

Burma is dotted with Buddhist temples and in the temples the Buddhist monks devote themselves to educational works. In general the people send their sons to the temples to receive a Buddhist education and over 60 percent of the people can read and write. Usually boys over the age of seven are sent to the temples to receive a general education. Those who excel at their studies of Pali Buddhists text books are sent on to higher level academics, where they receive a higher level education and eventually become monks.[4]

In the recent history of Buddhist studies, since Burma is one of the remaining homelands of Indian Buddhism, when Europeans who have become Buddhist monks were ordained in Burma. They have started various English language journals about

Buddhist studies, and many noteworthy essays have appeared in these journals.

In Burma Pegu and Pagan were the great centres of Buddhism. In the 11th century Kyanzittha – the son of Aniruddha, the king of Pagan restored the temple of Mahabodhi at Bodhgaya. In the beginning of the 12th century A.D., Letyaminnam, the ruler of Arakan had this temple repaired. The temple of Mahabodhi at Pagan (Burma) and at Chiang Mai (Thailand) are the testimony to the common Buddhist heritage which India shares with these countries.

Thailand

Buddhism is state religion of Thailand and the country is known as the land of the yellow robes. Ninty four percent of the population of the country are Buddhists. This proves how Buddhism holds its influence in Siam (the ancient name of Thailand). Indeed the nation as a whole, Buddhism has been the main spring from which flow its culture and philosophy, its art and literature, its ethics and morality and many of the folkways and festivals.[5]

We also know that Thailand was called Siam in the past. Early on, Buddhism was brought from Cambodia to the region that is now Thailand. In those days, Buddhaghosh, who was famous for spreading Buddhism, had united the Buddhism of Burma and Cambodia. He often stayed in Cambodia, thus he disseminated Buddhism into the territory that was to become Thailand. He was revived by the royal family and the common people, and thus Buddhism became the national religion. Subsequently, the year of Shakyamuni Buddha's death was made the starting point of the Thai Buddhist calendar. Thai Buddhism takes Hinayana Buddhist thought as its standard.

Young men in Thailand must enter Buddhist temples and become monks for a time. There they receive a Buddhist education. All the Thai people take Buddhist principles as their standard of self-cultivation. Whatever form of schooling they receive, when they begin school and when they graduate they must formally recite Buddhist scriptures. When they reach the legally prescribed age, young Thai men leave home and live as monks for a period of three months or one year. During this period, they curb their desires and devote themselves to learning Buddhist forms of conduct and studying Buddhist thought. This training provides them with moral standards for dealing with the world in later life. When a new king comes to the throne in Thailand, his installation must be carried out and proclaimed according to Buddhist ritual forms.

Thus from top to bottom, throughout the whole country, all Thais are Buddhists. The Buddhist monks wear yellow robes and the whole nation could be said to be a purely Buddhist country robed in yellow. Many Buddhist monks participate directly in

politics. Deeply qualified monks are given titles as monk-princes. Buddhist images and temples are everywhere throughout the country. Temple buildings occupy 40 percent of the total area of the capital, Bangkok. The famous Wat Po temple is the most splendid structure in Bangkok. Wat Mahathat is a major Buddhist centre to which monks from all directions come to study. Wat Bonchamabopit is the one of the oldest Buddhist temples. It contains many statues of Buddha in various postures, ranging in size from many tens of feet to a few inches, all rich in artistic value.[6]

Thailand is an ancient Buddhist land and it preserves many of the customs of early Indian Buddhism. The South-East Asian Buddhist countries of Thailand and Burma are both strongholds for the preservation and dissemination of Buddism. As the great wheel of time advances on these tranquil, Buddhist lands, they still remain serenely in the Buddhist realm of blue skies and lush forest.

The ancient kingdom of Dvaravati which flourished in central Thailand from 6th century to 10th century A.D. was one of the earliest cradles of the Buddhist culture. Nakhon Pathom was the political and cultural centre of this kingdom from where a number of representations of dharmachakra, statues of the Buddha, seals and sealings have been found. Sukhothai and Ayuthia were the other great Buddhist centres in Thailand from the 13th to the 18th century. The present Chakri dynasty of Thailand is devout Buddhist, pledged to restore the words of the Lord Buddha to its pristine originality. H.M. King Chulalongkoru (Rama V), the fifth king of the present Chakra dynasty visited India in 1872 and paid homage to the Buddha in Sarnath. In 1898 when the relics of the Buddha were discovered in Piparahiwa, the king brought them to Bangkok and enshrined them in a golden stupa and Bangkok.

Cambodia

The earliest record of the existence of Buddhism in Cambodia is a short inscription which dates from the end of the 6th century or beginning of 7th century A.D. This inscription relates to a person called Pon Prajna Candra who dedicated male and female slaves to three Bodhisattvas – Sasta, Maintereya and Avalokiteshwara.[7]

In course of centuries it had flourishing periods but at times it was also forgotten. It remained in the shadow in the 8th and 10th centuries. This was a period after the pre-Angkor era during which it had gained some favours. But afterwards its importance increased continuously till it became the state religion at the end of the 12th century during the reign of Jayavarman VII. In the second half of the 13th century this religion had to face presentation from the Saivities but soon it overcame the strain and since then it is the religion of Cambodia to this day. In sculpture as well as architecture the religion inspired the Khmer artist who produced master-pieces.

Inscriptions which are older and numerous prove the view held even by the royal families of Cambodia today that Buddhism has been the state religion of the country for more than thousand years.

Cambodian Buddhism differed from Indian counterparts. The religion had its advent in India by contradicting and opposing Brahmanism and the prevalent vedic traditions where the Brahmanas monopolized all religious activities and performed most superfluous yajnas. Cambodian Buddhism, on the other hand, had no such rivalaries or idealogical disputes as Buddha advocated the middle path and avoided conflict with the power of the state. Followers of Buddhism earned the respect of kings since they did not have any political bliss. Besides Buddhist kings, other kings professing different religious faiths also respected the religion with the result that Funan became an important centre of this religion. The Buddhists who flourished at the time of Funan belonged to Hinayana sect and had their canon in Sanskrit for which their love increased with the introduction of Mahayana.[8]

Many of the rulers of Cambodia were Buddhist but they never opposed the Devaraja cult. Buddha's images adored their temples variously. South Indian Buddhist missionaries which were in a developed religious state contributed to the spread of the doctrine of the Lord Buddha. Monks did not hesitate to undertake long journeys by sea and spread Buddhist laws among the most population of the deltas of the Irrawaddy, the Salwin, the Chao Phraya rivers and finally among the coastal plains of south Cambodia.

During the reign of Jayavarman V, Buddhism seems to have made great progress in Cambodia. From the inscriptions of Serisanthor, it is evident that Jayavarman II had also a Buddhist minister named Kirti Pandita. This Kirti Pandita had served under his father also. We learn that this minister lighted the torch of true law again which had extinguished from the land of the sins of the world. He also put his maximum efforts to establish Mahayana Buddhism by bringing many treatises also and commentaries on this sect. He tried to inculcate the populace but he could not get much success in this mission.

Cambodia has offered us the finest Buddhist architecture such as the Bayon, a complex of beautiful towers with human faces representing the Bodhis attva Avalokiteshwara. In the 12th century A.D. Cambodia was served by a chain of hospitals (102 in number) under the auspices of Bhaishajyaguru or Buddha, the healer. The Buddhist sangha has survived the genocide of the recent years in Cambodia, prepared to resume its role for future transformation of the country.

Vietnam & Laos (ancient Champa)

Vietman (ancient Champa) belonging to the east of Indo-Chinese peninsula is a

long and narrow country which is bounded in the west by Cambodia and Laos and on the north-east and south by China, Pacific Ocean and the Gulf of Siam (Thailand) respectively. It has a coast line wandering along a distance of nearly 2,500 kilometers from the Gulf of South Vietnam (Mong-Gay) to the Cambodian border (Gulf of Siam) having a total area of 32,800 square km. which comprise North-Vietnam, Central Vietnam and South Vietnam. The geographical character of Vietnam is dominated by the two fertile rice producing deltas – the Red River delta in the north and the Mekong delta in the south which are joined by the Truongson range.[9]

From all available accounts it is clear that Buddhism was for the first time introduced in North Vietnam (Giao Chi) by the monks who came from India and China by land and sea-routes. It is said that towards the end of the 2nd century A.D. Giao Chi was a Buddhist cultural centre which has progressed gradually with the affluence of the Indian merchants. The influence of Buddhism on the development of India navigation in ancient time can be judged from the fact that the mighty junks of maritime tradesmen always travelled under the protection of the Dipankar Buddha or calmer of the waters. These merchants often brought along with them in their long voyages the monks who served as physicians, priests as well as sorciers. Further we learn from Sylvain Leir and Paul Pelliot that from the 3rd (C. 245 A.D.) to the 7th century A.D. Giao-Chi (modera North Vietnam) was considered as the place of contact between India and China for the travelers and foreign missions which also served as the rest station for the merchants and Buddhist missionaries of the time travelling by sea between Inda and vice-versa. And in order to meet the new religious requirements many monasteries are known to have been contructed in succeeding periods.

Champa in southern part of Vietnam is another ancient kingdom which nourished the doctrine of the Buddha in art, architecture and everyday life of the people. In modera Vietnam, along with Confucianism and communism, the words of Lord Buddha continue as source of inspiration for many people.

Vietnamese Buddhism was originally brought in from China but later also received the influence of the Hinayana Buddhism of Burma and Thailand. Mahayana thought was unable to plant deep roots in Vietnam. As in the other South-East Asian countries, in Vietnam, the understanding of the concepts of Mahayana Buddhism was always somewhat unclear. Buddhist temples and Buddhist monks in Vietnam did not follow the Chinese monastic system.

During the second half of the 19th century A.D., Vietnam was invaded and occupied by the French. From this point on, the religious situation no longer remained simple before Vietnam regained its independence. The ancient Buddhist faith, which had relied on the protection of the royal family, had fallen into the gap between the new and the

old eras and had run its natural course. At present, Vietnamese Buddhists have declared their struggle for independence. There have been several waves of this struggle that have risen up and overthrown governments. Monks and nuns have even immolated themselves in this struggle to demonstrate their adamant resistance to anti-Buddhist measures, and this has already attracted the attention of the whole world. At present it is very difficult to judge whether this movement will succeed or not and we must leave this for future historical judgement.

The dynamic kingdom of Lan Xang in Laos nourished the Buddhist cultural heritage from the beginning of the 13th to the first half of the 20th century. The Laotions believe that the Buddha actually passed through their country, visited many places and turned numerous nagas into devout Buddhists. The Mekong River, the life time of Laos, is studded with a string of sacred spots, marked by the visit of Buddha according to the Laotions belief the museum of Vat Phra Keo in Vietiane, the capital of Laos offers some of the finest statue of walking or smiling Buddha. The stupa of that Luang in the heart of the capital city stands witness to the past glory of the Buddhist culture in Laos. Happily the present communist regime in Laos has preserved the Buddhist heritage of the country.

Indonesia (Ancient Java, Sumatra, Bali and Borneo)

Indonesia, also called Insulinda, consists of islands like, Java, Sumatra, Bali and Borneo. Buddhism obtained a firm footing in Indonesia in the 5th century A.D. From the 7th to the 10th centuries A.D. it became an important centre of Buddhism. In the 7th century A.D., Dharmapala a famous teacher of Nalanda, Vajrabodhi – a monk of South India and Amoghavajra visited Indonesia. Towards the end of the 8th century A.D. Indonesia became a stronghold of Mahayana Buddhism owing to the patronage of the Shailendra kings who held sway over the greater part of this island. During their reign the temple of Kalasan (779 A.D.) was constructed and dedicated to goddess Tata.[10]

Java – It is said the Buddhism was introduced into Java after the 4th century A.D. Fahein the famous Chinese pilgrim visited this island in the 5th century A.D. According to him we know that Brahmanism dominated this island and very little was heard of Buddhism there. But shortly after Prince Gunavarman of Kashmir – who became a Buddhist monk visited the island, he converted the king, his mother and the people to Buddhism there. From the king and queen all the people in the country put their faith in him and Mahayana Buddhism became very popular. As a consequence Buddhism spread throughout the kingdom and became well-established there. We are told that Gunavarman was an adherent of Mulasravastivada school of Buddhism so due to his strenuous efforts this school became powerful in Java and neighbouring regions. Late in the 7th century,

the Chinese monk Itsing passed through various regions of South-East Asia as he made his way by sea to study in India, he spread the Buddha dharma as he went. Java particularly central and western Java was occupied by a dynasty which professed Mahayanism from Sumatra known as the Shailendras of Sri Vijaya. Their territory extended not only over Sumatra but also over Malay peninsula.

The great stupa of Borobudur was built on the island of Java under the patronage of Sri Vijaya. The galleries of Borobudur, covering many miles of space, depict the life of the Buddha according to the famous Buddhist text, the Lalitvistara. The sculptured galleries of Borobudur are the finest specimen of the Buddhist art ever created by chisel of an artist.[11]

Sumatra

From an inscription dated 684 A.D. discovered in this region we learn that Sumatra (especially the kingdom of Sri Vijaya) generally identified with Palembang also received early the doctrine of Buddha. We know that the words of Lord Buddha penetrated into the remote islands of Indonesia. Here emerged as an international centre of Buddhist art, culture and philosophy from 6th to 12th centuries A.D. We learn that King Jayanasa who ruled over Sr Vijaya was a devout Buddhist. The famous Chinese pilgrim I-tsing visited Sri Vijaya twice. From his itinerary we learn about the popularity and prosperity of Buddhism in the island of Southern sea covering more than ten countries. According to him Hinayana Buddhism was prevalent in those regions except Sri Vijaya where Mahayanism prevailed. This also points out the importance of Sri Vijaya as a centre of Mahayana Buddhism. The Chinese pilgrim Hiuen Tsang also stayed in Sri Vijaya before visiting Nalanda. In his opinion, a foreign student desirous of gaining knowledge about Buddhism in India should begin his studies in Sri Vijaya.

Balaputradeva, the Indonesian king of Sri Vijaya built a monastery at Nalanda for the residence of Indonesian students during the reign period of the Paladynasty of India in the 10th century A.D. Devapala, the king of the Pala dynasty granted the revenue of some villages in the neighbourhood of Nalanda for the upkeep of the monastery.

Bali and Borneo

These two islands of Indonesia also came under the influence of Buddhism. But it could not make much headway there. Brahmanical religion was ascendant and Buddhism gradually became extinct there.

Throughout South-East Asia Buddhism exists on a concrete scale. Some of these countries have been influenced by the Hinayana Buddhism of Burma and Thailand. Some have been influenced by the Pure land school of Chinese Mahayana Buddhism.

The sound of the Pure land invocation Hail to Amitabh Buddha (Namo Amitajo) is present everywhere and there are Buddhist temples being built all over the area. In South-East Asia, spirit of tolerance has prevailed through centuries. As a result the patrons of Buddhism supported the Brahmanical faith as well. The Thai kingship is the best example of the symbiosis between Buddhism and Brahmanism. The king of Thailand is both an incarnation of Vishnu and upholder of Buddhism. In Indonesia, the cult of Shiva-Buddha stressed the essential unity of dhammas, as preached in the Brahmanical texts and Buddhist scriptures.

Reference

1. Sharan, Mahesh Kumar, Studies in Sanskrit Inscriptions of Ancient Cambodia, New Delhi, 1974, Foreword by C. Sivaramamurti.
2. Quoted by Sunthorn Plamintr in the Discovery of Buddhism, Bangkok, 2007, pp. 25.
3. Na Huan-Chin, Basic Buddhism-Exploring Budhism and Zen, Mumbai, 2003, pp. 109.
4. Ibid., pp. 119.
5. Sahai, Sachichidanand, Bunddha Vandana, 1998 – published on the occasion Buddha Mahotsava, Bodhgaya, pp. 33.
6. Sharan, Mahesh Kumar, Buddha Vandaana, 1999 – published on the occasion Buddha Mahotsava, Bodhgaya, pp. 22.
7. Banerjee, Anukul Chandra, Buddhism in India and Abroad, Calcutta, pp. 195.
8. Sharan, Mahesh Kumar, Buddhism in Cambodia, published in Buddhism in South-East Asia edited by Sonia Jasrotia on the occasion of 2nd International Conference, Phnom Penh (Cambodia), 2018, pp. 27 ff.
9. Eliot, Charles, Hinduism and Buddhism, 3vols, London, 1921, pp. 272
10. Banerjee, Anukul Chandra, op. cit., pp. 211
11. LeMay, Reginld, the Culture of South-East Asia, London, 1954, pp. 97

Hindu Trinity in Laos

Ishwar Sharan Vishwakarma*

The people of ancient India established colonies in South-East Asia not by force of arms but by peaceful commercial and religious activities. It was for this reason that the effect was almost permanent in nature. These are numerous evidences of this novel method of performance almost singular in the history of mankind. *Hindu* civilization itself is broad based on a spirit of harmony and inclusiveness which does not regard anything humane as essentially alien or repugnant either to man or God. All those who came in touch with its vivifying influence contributed to make it richer and more universal while they themselves participated in the deeper and wider life presented by it.

The term South-East Asia was coined during the Second World War (1939-45) as a term of military usages but now it has become geographical. The area of South-East Asia may broadly be defined as nearly the whole of Indo-Chinese peninsula and East Indies – called by the Indians respectively as *Suvarnabhoomi* and *Suvarnadvipa*. To be more precise, it comprised the territories, now known as Burma (Myamara), Siam (Thailand), Kambuja (Cambodia), Malay Peninsula, Champa (Laos and Vietnam) on the main land and the islands of Sumatra, Java, Madura, Bali and Borneo etc. on the East Indies.

The countries of South-East Asia have a glorious past of which any civilized region may justly be proud. The relics of their glorious past can yet be seen in its ancient cities and the achievements of the prominent kings of Champa as Sri Mara and Harivarman, Fa Ngun of Laos were the main builders and organizers of Hinduism and Buddhism in their time.

Laos bounded by Thailand, China, Vietnam and Cambodia is a green and mountainous land with deep river valleys. It cannot be said with certainly as to how and when Hinduism was introduced in Laos. However, we are told that in the sixth century A.D. Funan[1] came to be conquered by its northern vassal state of Chenla which was ultimately divided into two parts viz. (i) Upper Chenla (i.e. the Lao state to the west of Annam) and (ii) Lower Chenla (called water Chenla or Maritime Chenla-the capital

*Chairman, Uttar Pradesh Higher Education Service Commission, Prayagraj

was probably *Vyadhapura*). Hinduism became quite popular in Laos and was adopted by a large number of people as the main religion. Since Laos formed parts of the Kambuja empire about 8th or 9th century A.D., she was naturally very much influenced by the religious condition of that country. It is, therefore, justly said that Laos, particularly Vientiane and Luang Prabang had received religious ideas of Hinduism indirectly from India, probably through Cambodia and with the result Hinduism (Saivism and Vaishnavism etc.) flourished in the regions and the people in general were quite familiar with the Brahmanical philosophical ideas and religious beliefs.

The prevalence of Hinduism in Laos is attested to by the inscriptions and archaeological objects of the country. The Phou Lokhon in Sanskrit language consisting of six lines, comprising three verses in the anustubh metre, is engraved on the north-east face of a sandstone column which crowns the top of the hill called Phou Bokhon. It records the erection of a *Sivalinga* by king Mahendravarman which still stands on the spot at a distance of 21/2 metres from the inscribed column.[2] The remains of the temple of Vat Phu on the *Lingaparvata* containing *Bhadresvara Siva* is still extant to the south-west of Champasaka in South Laos.[3] The specimen of the religious art at Vat Phu depicts *Indra* on *Airavata* and *Visnu* on *Garuda*.[4] It was in the seventh century A.D. that Jayavarman I had installed a stele inscription at this sanctuary which he named as *Lingaparvata* (the mountain containing the *Linga* or phallic representation of Lord *Siva*). An inscription of 835 A.D. speaks of *Sresthapura* as a holy place because of its association with the worship of Lord *Siva*. These instances are the greatest evidence of the presence of Hinduism in Laos. Whatever be the precise nature and age of the process of Indian cultural alliance and influences, its extent was deep and extensive and its impacts were felt in every sphere of their cultural and religious life. It is not possible to make representation of all due to paucity of time and space, but as an interesting case study in the field of Hinduism, we would like to analyze in brief the trinity of *Hindu* religion and its impact and influence on Lao religion.

Brahma

By the Hindus *Brahma* is believed to be the creator of the universe. He is referred to as creator in many Lao inscriptions but he does not seem to have held a very prominent position in Laos. He is also called here *Chaturanan* having four faces and in several inscriptions of the 13th century A.D., he is referred to as *Svayamupanna* or self created. In one inscription he is said to have made the golden peak of mount *Meru*.

King Jaya Parameshwar Varman installed an image of *Svayamupanna* at Phanrang in 1233 A.D. and rich endowments were made to the God by the king himself, his heir apparent Nandabhadra his Commander-in-Chief Abhimanyudeva and by the king

Indravarman. Only two small images of *Brahma* have been discovered in Myson. These were originally placed in temples A and B. *Brahma* also figures in bas-relief decorations of temples but mostly as a subsidiary god.

The characteristic features of the image of *Brahma* are his four faces of course, only these being visible in most cases and his *Vahna*- the goose. His common attributes are roasary and lotus-stems. In a bas-relief in Touranne Museum *Brahma* is represented as standing with four heads and eight arms holding a scepter in one of them.

The scene figuring the birth of *Brahma* has been reference to in connection with *Visnu*. Here *Brahma* wears a sacred thread and holds a discus and a long necked bottle in his hands. *Brahma* is usually seated on lotus though in one case the serpents form his bed.

The real importance of *Brahma* lies in the fact that he is regarded as a member of the trinity. We find the conception of the trinity of Brahmanic gods in one Bhadravarman dating from the 5th century A.D. begins with a reverence to *Uma* and *Mahesvara* as well as to *Brahma* and *Visnu*.[5] The same idea is conveyed by iconographic representations on decorative panels. The tympanum at Trach Pho has a *Mukhalinga* in the middle with *Brahma* seated on a serpent to the proper right, and *Visnu* seated on a boar, to the proper left. Both these gods are turned towards *Siva* with joined hands and two attributes of *Visnu* viz. a discus and a club are shown in the background.[6] In the tympanum of U' Diem, *Siva* and *Uma* riding on a single bull occupying the centre, Brahma and *Visnu*, with joined hands, and seated respectively on a lotus and a *Garuda*, are in the upper right and upper left corners, while two other figures, and armed soldier and *Kartikeya*, occupy position just below these figures.[7] At Thuy Trieu, however, *Visnu* occupies the central position with *Brahma* on the left and *Siva* on the right. *Siva* rides on a boar, and both the gods have their hands joined in an attitude of prayer.

Visnu

In India the Lord Visnu is the object of worship and devotion as the supreme God.[8] The cult of *Visnu* known as Vaisnavism flourished side-by-side with Brahmanism and Saivism in Laos. This fact is attested to by the inscriptions and archaeological objects of the country.[9] *Visnu* was known by various names such as *Purusottama, Narayana, Hari, Govinda, Madhava, Vikrama* and *Tribhuvanakranta*.[10] The kings of Laos took delight in comparing themselves to *Visnu* and sometimes even regarded themselves as his incarnation. Thus Jaya Rudravarman was regarded as incarnation of *Visnu* and his son king Sri Jaya Harivarmadeva Sivlanandana regarded himself as unique *Visnu* whose glories surprised those of *Rama* and *Krsna*, firmly established in all directions.

The epigraphic records are in this respect fully corroborated by the actual images of *Visnu* discovered at Champa. The one erected by Prince Nank Glaum Vijaya and found at Bien Hoa is seated cross-legged in Indian style and richly decorated.[11] He has four arms, two of them hold two clubs, while the other two hold a discus and conch-shell. He wears a sacred thread, a unique feature as it is absent from the other images of *Visnu* in Champa, about seven or eight in number, which have so far been discovered. In some decorative panels *Visnu* is represented as riding on *Garuda* or seated cross-legged on its back.[12] There are also images of the *Anantsayana* of *Visnu*. The god is lying at ease on the coils of serpent *Vasuki*, whose seven hoods guard his head. From the naval of the God rises a lotus on the petals of which is seated *Brahma* in an attitude meditation. That the scene is laid on the bed of the ocean is indicated by wavy lines with fishes.[13] *Laksmi,* the *Sakti* of *Visnu* also referred to as *Padma* and *Sri*, was a well-known goddess of the country. Several inscriptions of the country give the long history of an image of *Laksmi*, originally installed by king Sambhuvarman and reinstalled by king Vikrantavarman in 731 A.D. The goddess is frequently represented as having only two arms and holding stems of lotus plant.[14]

Although the great god of the trinity viz. *Brahma, Visnu* and *Siva* almost monopolized the homage and worship of the people, the lesser gods of *Hindu* pantheon were not altogether forgotten. In one inscription we find the reverence to all the gods and recognizes their importance in the following words:

"In some places *Indra, Brahma* and *Visnu*, in some place *Vasuki*, in some places *Sankara*, in some places ascetics, Sun, Moon, *Agni, Varuna* and in some places images of *Abhayada* (*Buddha*) appeared for the deliverance of creature." It shows that side-by-side with the pompous worship of *Siva* and *Visnu* there were popular cults of various gods and goddess.

Siva

Siva, the second god of trinity had an important position in Laos. Some of the great achievements of Indian *Siva* were quite familiar in Champa. The famous episode of burning *Kamdeva* (cupid) to ashes is again and again referred to. Being struck with the arrow named *sammohana* by cupid, he reduced the latter to ashes by means of burning fire proceeding from his third eye, but later on again restored him to life. This well-known allegorical myth, depicting Siva's absolute control over sensual passions, is a favourite theme of Sanskrit poets and has been immortalized by Kalidasa in his famous book *Kumarasambhava*. Apparently this aspect of *Siva's* character made a deep impression upon his devotees at Champa.

The second memorable achievement of *Siva*, stressed in the inscription of Champa,

is the destruction fo the demon *Tripura* and his three cities in the sky. The third mythological incident about Siva is the story of *Upamanyu*. This has been narrated at great length in the *Anusasanaparva* of the Mahabharata which agrees with the inscriptions of Champa in extolling *Mahadeva* in the most extravagant terms and placing him above all other gods including Brahma and Visnu.

In Champa *Siva* was represented both as a human figure as well as linga form. The latter occurs more frequently as in India than the image of variety of forms. The image of *Siva* found at Myson are less decorated and much simple in design.[15] In one of the standing style of the image we find that the upper part of the body is nude, while two garments fixed by a belt round the waist cover the lower part. The lower garment reaches almost up to the ankle, but the upper one stops at the knee. There is a rosary round the wrist of the right hand, while the left hand holds a vase. The hair is arranged in three stages on the head. The god has a smiling face with fine moustaches and the third eye is represented on the forehead. Very often *Siva* is represented as seated in an attitude of meditation.[16] Sometimes there is a beautifully decorated halo behind the head.[17]

Siva is sometimes represented as a human figure with extra hands in various attitudes. He abides in eight forms corresponding to his eight names- *Sarva, Bhava, Pasupati, Isana, Bhima, Rudra, Mahadeva* and *Ugra*. Sometimes *Siva* is represented as seated on *Nandin*, very much in the same style as one sits on a chair. One of the oldest lingas of *Siva* came to be regarded as the national deity and maintained this position throughout the course of history. Towards the close of the fourth or the beginning of the fifth century A.D. Bhavavarman established a linga named *Bhadreshwara* in a temple of Myson which soon became a national sanctuary. The king endowed the temple with land for the maintenance of officials of the temple. From the middle of the eleventh century A.D. *Srisana-Bhadresvara* came to occupy the position of national god. It is thus absolutely clear that *Sambhubhadresvara* or *Srisanabhadresvara* was regarded as the national deity of Champa from beginning to end, and most elaborate arrangements compatible with wealth and resources of the kingdom were made for his worship.

In addition to *Sivalinga* which attained the position of the national deity, there were many others thought of less importance. The most remarkable among these was a mukhalinga of *Sambhu* in Po. Nagar but it never acquired the statue of a national deity like *Sambhu-Bhadresvara* or *Srisana Bhadresvara*. A tendency to associate with their own names with the gods which were established by them was also prevalent in the country such as king Indravarman – Indravarman *Sivalingesvara*. A number of deities came to be associated with *Siva*.The most prominent among them was of course, the *Sakti* of *Siva* known variously as *Uma, Gauri, Bhavani, Mahabhagavati, Devi* and *Mahadevi*. There was also a temple of *Ganesa* (*Sri Vinayaka*) at Nhatrang but statues of

this deity and *Skanda-Kartikeya* are rare.

We can conclude that the spread of *Hindu* thought in the country of Champa was an intellectual conquest, not an exchange of ideas according to Sir Charles Eliot.[18] Indian religious system since the contact with Cambodia and its neighbouring countries in the early centuries of the Christian era made or profound import on the people inhabiting in these regions and moulded their way of life to a great extent after the Indian pattern. It is no wonder, therefore that the Indian travellers who founded a new settlement in south-east Asia transported to their lands of adaptation the religious ideas with which they were at home.

References:

1. Funan was the first ruling dynasty of Kambuja (Cambodia)
2. Chhabra, B.C., 1965, Expansion of Indo-Aryan Culture, Delhi, pp. 69
3. Marshal. Henri, 1943, Le Temple de Wat Phu. Paris, pp. 2
4. Ibid. pp. 24-28
5. Sharan, Mahesh Kumar, 1974, Studies in Sanskrit Inscriptions of Ancient Cambodia, New Delhi, pp. 77
6. Parmentier, H., 1939, Inventaire Descriptif des monuments cams vol.II, Paris, pp. 411
7. Ibid. Vol. I, pp. 518
8. Majumdar, R.C. (edited), 1963, The Age of Imperial Unity, Bombay, pp. 431
9. Banerji, J.N., 1953, Hindu Iconography, Calcutta, pp. 24-28
10. Majumdar, R.C., 1927, Inscriptions of Champa, Calcutta, pp. 78
11. Parmentier, H. – op.cit., pp. 554
12. Ibid, Vol. II, pp. 422
13. Ibid, pp. 423
14. Ibid, Vol. II, pp. 421-27
15. Ibid.
16. Ibid, pp. 408-409
17. Ibid.
18. Eliot, Charles, 1968, Reprint. Hinduism and Buddhism, Vol. III, London, Chapter – XXXIV, pp. 1.

Buddhist Approach to Harmonious Family Life in Modern Perspective with Special Reference to Vietnam

Prem Shankar Shrivastava*

ABSTRACT : When all members of a family get along well just like a group of different musical instruments which harmoniously produce a soothing music is called pleasant excellent family. The role of it for the progress of society is vital.

In this era of rat-race with the advent of science and technology people enjoy abundant material facilities yet their family life is not happy. Extra marital relation, illicit sexual conduct, craving, selfishness, intolerance, ignorance etc. create conflict, disharmony in a family. Resultantly rate of divorce, mental agony, sleepless night, juvenile delinquency etc. are on the rampage the world over. Sociologists have been trying to solve it. In this context extended family with the ideology of Buddhism would be more valuable. It has been disseminated in different counties at different time. It has been accepted by various countries adapting the ecology, existing culture, mindset of that very places. Vietname is one of them. The Buddha has preached for the welfare of human life. Family is one of a significant aspect of it.

Economics, Education and Ethics are valuable ingredients of aharmonious family. Various kinds of mind training based on middle way, eight fold Path, Brahmavihara, five moral Precepts, Ideology of Dhamapada, Meditation and so on and so forth for the attainment of Boddhichitta, a balanced and blissful state of mind has been prescribed for a happy family life.

Freud, Marx, Einstein and other modern thinkers throw light on the subject according to their own way. Vietnamese Buddhist families have been living happily though polygamy was also in vogue in their tradition. That credit goes to Buddhism.

A brief history of family and position of women in South East Asia

In this era of 20th century people are striving for equality. Women that constitute half of the population have also been raising their voice for the same. They like to be considered at par with the men. For in most of the countries of the world they have been looked down by male. Though woman is a pivot of family. Responsibility of nurturing of offspring's is more upon her than man. H.H. the present Dalai Lama always says that infants, kids, and young boys feel secure and comfort in one's mother's lap. Family is

* Department of Tibetan Studies, Nava Nalanda Mahavihara, Nalanda, Bihar-803111

the first and foremost school for educating an individual. Vital role of woman in smooth running of a family cannot be discarded.

In the case of South East Asian region woman has largely maintained the high place before the earliest impact of Indian culture, a far higher one than she has ever occupied in India during recorded history.[1] Vietnam is not an exception. Like other countries of the world Buddhism has boosted the position of women. For Buddhism always advocates for equality. Unequality is the curse of society.

Glimpses of Buddhism in Vietnam

Prior to the inception of Buddhism and cultureal influence of Confucianism, Taoism etc., indigenous religion of Vietnam was Annimism. Ancestor as well as spirit worship was prevalent the then.[2]

Ascertaining the exact date of the advent of Buddhism and its dissemination in Vietnam is controversial. For there was complete Sinicization during Trinh period, When Mandarin classes were revived and Confucian classics were introduced.[3]

Vietnames literature is filled with harmony of three religions, calling them triple ways to the same destination. Thus Vietnamese Buddhism has its own feature. It has developed with the ideology of Confucianism and Taoism along with some elements of Annimism. It practices some rituals which has some elements of Annimism that differs from other countries. Yet influence of Mahâyâna is quite vivid. Most of the scholars say that Buddhism was introduced in Vietnam around 2nd century B.C.[4] A Vietnames Buddhist opines the year 189 C.E.[5]

Dissemination of Buddhism in Vietnam is highly motivated by constant foreign aggressions of civil wars which occurred form the year 43-C.E. Up to 1975.[6]

Such fearful condition and stern sufferings make them to realize the positivity of Buddhist ideology. They thought that this is the only way to get rid of problems of war, strife and other sufferings of the nation and people of the world even. Buddhism in Vietnam has continued to survive and develop incessantly.[7]

Understanding Vietnames Buddhism properly various historical aspects as well as social life of Vietnam would be quite clear. Today almost 60% of the Vietnamese population is Buddhist. (Report of the Vietnamese Buddhist Sangha, in March, 2018.[8]

Influence of Buddhism in Vietnam appears in the form of a national symbol like dragons, turtles, bamboos, lotuses on many buildings and Buddhist temples throughout the country. Buddhist literature, art, architecture, dance and music etc. have made the people fully coversant with humanity, harmony, familial values, love, compassion. That sustains peace in the family and society as a whole even.

Uplift of nation or any society is based on individual's awakening. Awakening of an individual is deeply related with the family to which he/she belongs to. A family is the first school to build one's personality.

Definition of Family

Set of relations, especially parents and children, all the descendants of common ancestor, lineage or group of similar things,people etc.; or group of related genera of animals is called family.

Thus according to this definition family can be divided into two. One is biological based on blood relation such as parents children, and relatives. Another is non- biological based on their features, origination, and ideology. Family of Flora and fauna, Language, Hindu, Muslim, Christian, and Buddhist etc. are in this category.

Many kinds of biological families are found in different countries. Two are significant i.e. the nuclear the smallest and extended the biggest. Only parents & children are known as nuclear. It is mostly prevalent in the west. Another is extended family in which all relatives of one ancestor along with nuclear live together. It is in vogue in oriental countries.

Family in Buddhist Perspective

Keeping in view all these above mentioned divisions as well as definition and concept of oriental and occidental of a family H.H the 14th Dalai Lama always says that the whole world is one family despite of varieties. Such conception like "Vasudhaiva Kutumbakan" is also found in Vedic tradition[9] Honorable Prime Minister of Indian Narendra Modi always says so while delivering his lecture on world peace. ".... the concept of "Vasudhaiva Kutumbakam', the world is one family and our tradition of carrying everybody along gives India an identity different from all other countries (www@newsonair.com).[10]

All sentient and non-sentients including natural elements such as Air, Water, Earth, Sky, Sun, Moon, Fire. etc., are sub-families of one ancestor from which they all have evolved known as a single family tree i.e. the nature.

Kinds of family in Buddhism: According to Buddhist view three types of sub-families related to human world are evolved out of one family tree. These are as followed:

(a) The Five Buddha Families: It is highly philosophical and imaginary. It is based on Buddha's nature as well as the idea of Five- Enjoyments Body of Buddha's. These are five types of knowledge inherent in knowing. The Five Buddha "Families" consist of Buddha's as family heads (Fathers), their female Buddha consorts (mothers),

several Bodhisattvas seen as their spiritual descendants (sons and daughters), and several other minor figures.

Again, since the wisdom of self-arising knowledge appears in all kinds of forms there are the Vairocana ("illuminator"), Aksobhaya ("Unshakeable"), Amitabha ("Infinite light"), Ratnasambhava ("Soure of Jewels"), Amoghasidhi ("Action Accomplishment"). They do not exist apart from the in expressive power of knowing.

The great saint Gampopa (1079-1153) argues that the Buddha nature is present in all living beings.[11] Eventually they will all attain the supreme awakening of a Buddha if they endeavors assiduously[12]. Prior to that one must free oneself from this delusory world in Sanskrit "Samsara", i.e. the cycle of birth and death from time without beginning. It is "delusory" because it stems from ignorance or not knowing of ultimate reality and because it induces delusions (of Permanence where there is none etc.)

Laity family : It is based on biological relation. It consists of a mother, a father, grand parents and children and other relatives concerning the same pedigree.

Samgha family : It is based on ideology. It consists of teachers, pupils, co-learners, senior and junior learners' basedon particular ideology. In this family Acharyas are regarded as parents, disciples like sons, co-learners like brothers and sisters. Interest, aim, and ideals of a samgha family is same. The Buddha is regarded as the spiritual father of all members of the monastic community;[13] They live together, think for others and for the welfare of human world in general and the samgha family to which they belong to in particular.

In laity family all members are related with each other physically whereas in samgha family they are related with each other psychically.

Happy family : When all member of every family get along well just like a group of different musical instruments which harmoniously produce a soothing music like symphony is called a healthy, happy, harmonious as well as peaceful family. E^3+ PH i.e. Education, Ethics, Economics and Psychophysical Health are important factors for a happy family. That is lacking today.

Process of presentation

a. Objective: To understand differences between traditional and modern family life of Vietnam and its impact on society. To acknowledge people to lead a happy family life to establish harmonious relation in society.

b. Methodology : Verstehen method: It is adopted in which it has been tried to know opinion of some Vietnames about their family life in ancient and modern perspective. Primary as well as secondary sources of literature and internet material

etc. would have been analyzed.

c. Discussion and result : Discussing the pros and cons of traditional and modern aspect of this proposed article findings would have been summarized in concluding lines as to how to lead a happy and harmonious life in this age of terrifying and perturbed world.

Present Scenario of Family life in Global Perspective:

We are living in a new era of 21st century known as materialistic period. Charles Dickens once called it "Hard Time" pressures and tensions which are concomitant to economic growth are eroding the value system that was integral part of our ethos. Changes are taking place in all directions and every walk of our life. The fires of angers and hatred are raising. It is the time of rate-race, confusion, great losses, war, and continuous conflicts. Happy family life has become a dream. Unhappy conjugal life, familial violence, drug addiction, extra marital relations, bastard, delinquent children etc., are on the rampage. Resultantly disharmonious life of a couple disturbs not only the life of the two but it affects the whole family. It hampers the personality of children too. Naturally society can never be unaffected withthat very family just like a rotten mango spoils the mangoes of the whole bucket.

Most of the populace are suffering from many mental agonies, committing suicide and murder, passing sleepless nights while having excellent comfortable bed and abundant material facilities to lead a joyful life and so on and so forth. Family values are almost non-existent. Although problems of family life are all over the world yet they are more in the west. Data of divorce rate is higher in the west than the eastern countries including Vietnam.

World record relating to divorce acknowledges us that 87% in Luxemburg, Belgium 70% Spain, 65%, France 55%, China 3%, and India less than 1%. (UNO Report,[14] 2018) The lowest rate of divorce in India is due to Indian traditional way of family life in general and Buddhist tradition in particular Vietnam's rate is also less than western counties.

A number of social organizations along with scientists, psychologists, economists etc. have been trying to solve such perplexed problems. Yet needful success has not been achieved till today. Efforts would be made to throw a flood of light as to how such baffling problems of a family, society as well the globe could be mitigated in the light of Buddhist ideology. For being a minimal unit of society family life plays a pivotal role for the development and depletion of it.

Views of Einstein and the Buddha

Ignorance is the sole cause of suffering, said the Buddha[15] In fact we all are not fully conversant with the truth that we all are related with each other. If we understand it in reality, we will also understand the fact that one's happiness is based upon others happiness. For each and every thing is inter-related. Again all phenomena of the globe are interdependent. Conditionality is the basis of their existence as the Buddha has described it in the principle of dependent origination.[16] The same thing has been explained by the great saint Nâgârjuna in the theory of emptiness (shunyatâ) that none has its own existence or identity alone.[17]

His holiness the 14th Dalai Lama also always affirms the same that if a piece of paper falls anywhere on this earth trembling occurs in the universe because all are related with each other's.

Although the world fame scientist, Einstein, the great has not told anything about the theoryof dependent origination and emptiness yet it can be said that the theory of relativity and the phenomenal relationship of the Buddha is same to some extent. Difference between the two is that one deals the aspect which can be practiced only on this physical world and another is related with transcendental world along with present one too. Way of explanation also differs only.

To understand functions of husband and wife Einstein theory speaks that it is necessary to understand the natural function of heart and mind. Both are to be cooperated for the inner work to create a venture of their place alike in masculine and feminine energies. Here male qualities have been with the mind while the feminine energies with the heart.

The above mentioned fact is quite clear in the form of husbands and wives of the families that we find all over the globe. We find that when mind is either perturbed or peaceful, angry or happy then heart palpitation becomes accordingly. Husband and wife in a family represent mind and heart respectively. So they also follow the same status and feeling and behave like that.

With regard to energy Einstein and the Buddha affirms that all things are energy. Here there is one difference between the two that while tEinstein worked with his own mind rational side the Buddha took help of heart, body and chakras. Einstein took help of mind in a laboratory with certain external instruments while the Buddha took help of yogic practices, Vipashyana meditation system, self-realization beneath the tree in the open field. Buddha has propounded his unfathomable ideology with the help of internal intuition whereas Einstein has propounded his theory with the help of objective system which can be measured by any one (The Fusion of Einstein and Buddha: spiritual science

creates a New vision of reality.

Regarding religion and science Einstein himself once said that where science stops religion and spirituality begins. He further saidthat religion is blind without science and science is lame without religion and spirituality. His remarks about Buddhism are also very high. He says that if there is any religion that would cope with modern scientific needs it would be Buddhism.

Thus the similar thought of Einstein and Buddha is well expressed with regard to family life that we see in the form of male and female all over the world. It appears that different energies prevalent in the globe are manifested psychophysical relations of male and female.

Economics

Economics is the back bone of a family. Regarding financial affairs common economic interest is the most vital ingredients that bind a family with its members. Any division of interest between wife and husband on economic terms shakes the very fabric of all sorts of family relationship; even sexual relationship is reduced to external level only.[19]

In olden days Cultural Economy of Vietnam was Agricultural. Large number of Indian and Chinese scholars of theology and Buddhists with their philosophy, religious theories, cultural habits, symbols, motifs, deities, rituals, literatures and important manuscripts had greatly enriched Vietnamese.

Karl Marx and Lord Buddha

Many wise person of the east and those of the west had accepted the "Challenges of hungers" since the lifetime of Zoroaster (1000 B.C.) each personality analyzed the sources of human hungers from the one's own angle of vision. Among them we cite the thoughts of Lord Buddha C. 6th century B.C. and Karl Marx (1818-1883). They had their humane outlook regarding the human environment. Multiple of observations in the East and in the West appeared in the history of human since the pre-Christian days. Those personalities had their separate humane perspective. Their contributions made an effective advancement the world over. About one third of the world population follow the teachings of Sakyaputra Gautama Buddha. And almost every member of the working class and on the have nots today rely on the Marxian analysis to overcome the tyranny of the exploiters. Marxism thus becomes a solace to the economically handicapped and the downtrodden. A critical study of the social economy with reference to the materialistic approach is dealt by Marx. The Buddha has shown his middle path to appease the source of the human.

Hungers by understanding the self-nature (svabhâva) of the matter. The human suffers on account of one's ignorance avidya. One is the human mind, serene and effulgent by nature. But due to cravings led by two veils the average mental suffers in frustrations and depression (Pathak, pp.16-17).[20]

Acquiring perfect education if one practices ethics and lead a spiritual life he will be balanced mentally. All activities of a man of balanced mind would be balanced and moderate. Financial affairs are not an exception. Earning saving and expenditure should is proportionate. He earns money to support his family just like a bee extracts honey without harming flowers as prescribed in Buddhism. Miserliness and extravagance both are prohibited. Followers of the ideologies would be happy whatever wealth is possessed by them. Contentment is the greatest wealth. In short it can be said that significant ingredients such as education, ethics, economics etc. provide good psychophysical health of an individual if all activities based on it andassociated with Sheela, Samadhi and Pragya. Naturally Family will be happy and harmonious.

Karl Marx once said that if religion is the soul of soulless conditions, the heart of heartless world, the opium of the people, then Buddhism certainly is not such a religion. If by religion is meant a system of deliverance from the ills of life then Buddhism is the religion of religions. In Digh- Nikâya a proper work ethic is recommended for the laity (Gahapatis) and highlighted socio- economic responsibilities for them which focus on a series of actions based on materialistic relationship.

Education/Mental Training : Ignorance can be ended through proper education. The greatest gift of nature to human being is rationality. Rational mind can achieve happiness in this life and afterwards of it. In Mahayana Buddhism cultivation of mind is highly emphasized. Yogâchâra School also says that the whole world is nothing but the mind only. Mind as well as mental phenomena play very significant role in every walk of human life. Family life is not an exception. The Buddha has said:

1. " Manopubbangma dhamâ,
   Manosettha Manomaya
   Manasa ce paduthena
   Bhasati vakaroti va,
   tato nam dukkhamaneti,
   Cakkamva vahato padam."
2. "Manopubbangma dhamma
   Manosettha manomaya;
   Manasa ce pasannena
   Bhasati va karoti va ;

Tato nam sukkhamaneti.
Chaya, va anapayani." [21]

That mind works in all human activities. Accordingly man suffers or enjoy in this world and afterwards. Mind is very powerful and active. It is always working. It is very difficult to control it. Harnessing the mind of people is very difficult task. Einstein once said that even atomic energy which shakes the whole world cannot train a man's mind. He says it can be trained and harnessed through proper cultivation and guidance. Buddhism deals various kinds of mental training based on Abhidhama and teachings of other great seers of Mahâyâna tradition like Atisha,Nagarjuna etc. to harness the human mind which enables every individual to enjoy enormous mental peace. Being free from negativity such persons live harmoniously and happily in family, society or elsewhere in the world.

Buddhist and Modern psychology

Vigyânvâda is a description and explanation of psychic phenomena which deals with various processes of mental aspects of human beings to elevate them to such a high state that they would be able to get rid of all sorts of sufferings and enjoy enormous mental peace. Modern psychologists like Wundt, Freud, Jung and Adleretc. have explored some psychic methods for the treatment of persons suffering from mental disorders.These are not new. Only ways of treatment differ. Besides they have not unfolded many mental phenomena as the Buddha has done.

Freud's pleasure and pain principle deals id, Ego and superego and its relation with conscious, subconscious and unconscious aspects of mind. Human behaviour is guided by them. Gratification of desire of psychophysical needs during childhood is limited upto id. From adolescent to youth and thereafter function of ego and super ego also begins along with id. When Desire originates from id for its gratification, ego comes instantly and awakens the organism about the surroundings whether it is favorable for the same. The super ego comes at last and suggests that should be done according to the then situation, norms of society and ethics as well as morality.Then the individual acts accordingly. On the basis of this natural principle, case history, behavior and some other various techniques, along with his own intuition Freud treats his patients. Detecting reason for the disease of a particular patient he cures him. Whereas the Buddha, the great psychiatrist as well as social physician has preached human as to how one will remain free from any mental agony. He deals causes of suffering and its elimination through eight fold paths, middle way, dealt in four noble truths. Numerous mental exercises have been suggested by him to human for keeping sound mind. He further says that just like physical exercises and good food keep one's body fit and healthy so is

the mental exercises and pious thoughts. Vipassana system of meditation of the Buddha is the greatest gift to human world .Various kinds of methods prescribed by the Buddha are precautionary measures and at the same time curing too. He further says that most of the physical diseases are related with mind. In this way the theory of the Buddha is vast and deep. Today is the time of inter disciplinary study and research. Research should be done in that very direction. Recently in western countries people are practicing various kinds of mental training for balancing emotions. UK schools have begun teaching mindfulness, relaxation, techniques of breathing, Vipassana meditation and methods as subjects of study to regulate emotions of children. Almost 370 schools have already been imparting for some years such subjects along with other subjects.[22] It should be started like this in other parts of the world too.

Regarding The Fire Sermon of Adityapariyaya-sutta, which occurs in two places in Mahâvagga of Vinaya pitaka and in the Sanyuktanikâya of Sutta Pitaka, T S Eliot says that the Sermon delivered by the Buddha is very comprehensive. It covers all the psychological processes involved in the entanglement of the mind with passion of all kinds. It includes all the senses viz. visual, auditory, olfactory, gustatory, textile and bodily. Also includes mental attachment perhaps a stored in the active memory. It should be noted that it does not confine itself to sexual passion only. Going through The Wasteland it can be said that Buddhism exercised strong attraction on T.S. Eliot. He was highly influenced by Buddhist philosophy and psychology.

The Buddha has already taught more than that. In the context of Buddhist psychology and modern psychology it can be said that modern psychologists have had a limited success in the treatment of sick mind. They are still in experimental stage. In many cases they fail to relieve the tensions and inner conflicts that come through the lack of a spiritual anchorage in our turbulent and disturbed person, family, society and so on and so forth. It can be a substitute for that deep inner awareness of spiritual values, and that sense of security in a dangerous world which Buddhism gives. Charles Gustava Jung, the world fame - great psychologist believed that Buddhism was the most perfect religion the world has seen. Leo Matos, 21st century psychiatrist also praises Buddhist system of meditation and various kinds of mental training for the welfare of human world.

Ethics and Vietnamese Tradition of Family: A Bird's Eye View

The major function of a family in society is socialization of human. Pali canon mentions parents as first teacher and first gods[23]. Pubbacariya, pubbadeva. In fact family is a socio psychological need of an individual. Here socialization means an attempt to replace unwholesome roots with wholesome roots.[24]

Again as a rational human being one needs to have warmth, courteous and companionship for our psychological relief which a family provides. Both these requirements are fulfilled by Vietnamese families well in early days.

If family life is harmonious human world will be happy and harmonious. The world would be saved from annihilation. To achieve the goal one has to inculcate Bodhichitta which is the key of Buddhism.

The etymological meaning of the term "Bodhichitta" is to enhance one's courage on mental attitude. An awakening of man from within is Bodhi. It refers to a state of balance and harmony in the life of man who attained it. Conjugal as well as any kind of social life can never be unhappy if an individual has a state of balanced mind. Meditation lies at the heart of the spiritual life of Vietnamese Tradition. The last three stages of the noble- Eight fold path i.e. perfect. Effort, Perfect Awareness, and Perfect Samadhi-are all concerned in one way or another with meditation. Samadhi or meditation is one of the Parmitas.Perfections which according to the Mahâyâna tradition form the path of the Bodhisattva. H.H. the 14th Dalai Lama always says that one should regard all living beings as if they were one's own relatives like parents, wife, sons & daughters and so on and so forth. It is certain that everybody we meet has at some time a thousand life ago, been our parents or anyone family member. For Karma and rebirth theory says that our dead relatives are may be living as animals or any other form of creatures throughout the six realms according to their deeds. Compassion arises for them naturally after knowing such idea and we will think for the welfare of all living beings which is the ideology of Bodhisattva. Ancestor as well as spirit worship in Vietnam acknowledges us their high regard to elders, faith in rebirth and all sentient and non-sentient of the universe as one family.

Developing inter human relations cordial, observance of moral precepts Sila along with Brahmavihara which refers to amity (metta), compassion (karuna), rejoice in others joy (mudita) and indifference to pleasure and pain (upekkha) is essential.

Prior to deal way of family life in Vietnamese society it would be proper to mention common social relations of family members and way as prescribed in Sigâlovâd-Sutta in Pali canon. In making the efforts to attain the ideal state of perfect man the laymen are preached to fulfill their worldly duties for the good and interest of themselves as well as for others without any attachment.

Six types of fundamental principles of social ethical relationship may be derived from the teachings of the Buddha contained in the Sigâlovâda-Sutta.[25] Here the Buddha instructs an young man sigâl about the real meaning of worshiping the six directions properly as done by a noble person while explaining the significant phenomena of social

relations. This discourse also shows that how each and every member of a human family/ society, in general, has to act according to mutual interest. East, South, West, North, Nadir and Zenith, these six directions are mentioned here as symbols for six type of social relationships. Each group of human society including family relationship is setup here as a direction through these six type of relations. The discourse lays great emphasis upon a specific moral code of a family and social behavior, yet it cannot be regarded as a rigid social code.[26]

This discourse is the main consideration in the form of certain duties and obligations of a house-holder towards his wife, children, parents, servants, workers, friends and companions, teachers and religious persons. In Fact it is mainly due to the variations of the nature of these obligations that the social positions of an individual also vary as a husband, a father, an employer, a friend, a pupil and a religious lay adherents & monk.[27]

Rights and duties of each group of these six categories are indicated by the Buddha in the context of social relationship.

(A) Husband and Wife : The Buddha says that one's wife should be set up with respect, by handing over authority and by giving her adornments. As for wife is concerned she is also advised to arrange the work of the household well, treat the attendants properly, be faithful, look after the income, be skillful and diligent in everything that out to be done. A husband or a wife behaves properly in accordance with moral obligations, rights and duties in running the household business.

(B) Parents and Children : The Buddha strongly emphasizes on proper respect and love towards one's parents in general. Five conditions are shown in this teaching to be the ideal factors for making the mutual relationship of this group harmonious. These are the thinking that he was brought up by parents as a son should support his parents, should do such thing which ought to be done, should establish the family (the wealth), should engage in the family heritage (keep up its tradition), should grant donations for the parents after their death. On their turn, parents also should keep their children away from evil, introduce them to good, have them trained in a trade, and unite them with proper wives and handover the inheritance to them in time.

The supreme position occupied by the parents is further confirmed by several other passages of the Pali canon. At one place the Buddha declared that parents are as sacrificial fire. He further says that this venerable fire should be rightly attended for happiness, by esteeming, revering, venerating and worshiping them.[28] It is also declared one who neglects one's own parents and even does wrong to them, he cannot expect any blessing in the life but the doom of ruin and hell. Such statements reveal the Buddha's

acceptance of the highly valued position of good parents.

(C) Friends and companions : Friends and companions belonging to different families grow love and affection to each other after getting association at various stages of their life such as during childhood at playground in school, college, during youth in office, in monastery as co-learner, co- teachers and so on and so forth, become friend. Friend in need is friend indeed confirmed by the Buddha. They should be reciprocal in their helping nature.

(D) Teacher and taught : The ideal underlying the relationship within this group is highly valued in Buddhism. A teacher should provide resources and methods to impart knowledge as well as wisdom to the best of his capacity. He should love his pupil like his own son. The pupil also should pay high regard to his teacher more than his father even. His keen attention to the lesson, his good will by doing something useful for his teacher even in his day to day life should be maintained.

(E) Employer and employee : The Buddha's advice to both is based on their mutual harmonious relationship. Aim of both should be interdependency in boosting the organization so that both should be happy and wealthy. According to the Buddha's advice the employee should be employed by arranging the worth according to their ability, by granting proper wages and food, by attending to them in illness, by sharing special enjoyment with them and by granting them holidays at proper times. In turn the employee should be keen to fulfill his duties to the employer's contentment. They should be anxious to make them self-agreeable in deed and word, should wait upon their employer, should be eager to please him and should speak friendly words to him.

(F) Lay followers and monks : This is a special type of social group especially significant in Buddhist social set up in general and in Vietnamese society in particular. The relationship between the monks and the lay followers operate on the basis of mutual help and interdependence.

These principles work as the balancing factors for the proper preservance of the mutual relationship of the six types of social groups. Although they are negative in formulation yet positive recommendations are implied by them. Lastly it is essential to add here that in this system of relationship a detailed and specific positive code of social conduct has been presented by this discourse which was deeply rooted in Buddhist society. This discourse would be useful even in the present context the world over if it is practiced properly.

In olden days the family in Vietnam was patriarchal, Patrilineal and patrilocal. Often they were living together two to four generations under one roof. Generally extended family was prevalent. Scanty examples of immediate family (nha) were also

found.[29]

Vietnamese possessed some peculiar attributes of character in which "doc-lap" independence strong clan instinct and a profound sense of loyalty to family were the main characteristics. Household was considered as the most important unit. In village polity, too it was house hold and not the individual, which was a political unit. The economic base for tax purpose also was a household with slogan of "One fire, one lamp". Household was considered as sacred as a place of worship, in the affairs of which law of the land never interfered.

Regarding fair sex there was a body of older women's association, where a woman on becoming a widow after attaining the age of fifty or so would enter into the Buddhist order of piety. Prior to understanding Buddhist ideology Vietnamese were not deeply religious people in the quest for spiritual uplift but were pragmatic. They were more interested in their happiness in this material world, rather than life after death.

Husband is responsible for financial sustenance and wife is looking after domestic affairs. Women enjoy more respect in family. History sparks that women played a very significant role in the Vietnam war.[30]

Traditional Marriage – According to Buddhism marriage is a secular affair. It is not considered a sacrament. Buddhist are expected to follow the civil laws regarding marriage laid out by their respective governments. H.H. the 14th Dalai Lama says it is a personal matter. If couples agree fully they may marry. In Buddhism happiness and harmony of human being matters much.

Parents play an important role regarding marital affairs of their offspring's. The bride and groom in front of all their guests will turn to their parents. Each parent will then give advice about marriage and family to the couple. A candle ceremony will follow symbolizing the joining of the bride and groom and the joining of the two families.[31]

Marriage was arranged by parents often with the help of matchmakers and sometimes before their children has reached puberty. Polygamy was also in vogue[32, 33] Vietnamese marriage being a permanent bondage between the couple it was essential to know each other well. Brides were expected to be virgins prior to marriage. Significance of fidelity and the virtues of the bride were strictly maintained in the conjugal life. Generally traditional marriage of the couples happens within the same village. It may be within the relatives of that very family. Couples have been expected to live with the husband's family until they could afford a place of their own. In the olden days the bride was usually older than the groom. The reasoning went that an older girl was strong enough to perform farming chores. Social status of the families and astrological mystical

affinities of the marriage partners matter much. A Buddhist monk, versed in horoscopic study assists them. The uniformity of the mixtures of religious concepts in Vietnam except among tribal peoples tends to give a uniformity to marriage arrangements, ceremonies, feasts, dowry, etc., Because the individual is less important than the family, it is expected that the family will have a major voice in the selection of wives and husbands of their progeny. Here it shows that family is more significant than the couple. There is an Asia saying, which is accepted by Vietnamese that "one can get another wife or husband but not another mother or father."

Thus family loyalty is apparent. Vietnamese families keep elderly persons with respect and affection instead of sending them to old age home shelter or in any other institution.[34]

Conclusion

Consequently duties in respect to householders who live with family members, kith and kin, descendant, and neighbors have been dependent to socio-ethical norms of society.

Extended family in general and Indian in particular teaches love and affection. A child living amongst many members such as parent, grandparent, brother, sister, uncle, cousin, etc., learn love with their association if they are of positive thought. Home/ family is the first learning place for human. Because children learn love from mother first then father, uncles, grandparents and so on and so forth. Those who do not love their parents and grandparents or another family member they will never love anyone including wife/husband. Buddhism teaches to pay high regards and affection to ones parents, grandparents and other elders of the family.

Buddhism has emphasizes loving kindness and compassion along with other virtues. Compassion (Karuna) is a great virtue in Buddhism The buddha talks of developing great compassion means developing the mind.[35] In the Vietnamese Buddhist tradition compassion is analyzed as universal sympathetic understanding. Even at the cost of suspension of one's own emancipation, one should be ready to help others due to karuna. It has individualist and social aspect both. It needs to be developed individualistically and then collectively Extension is possible. A Boddhistava should practice four psycho-physical modes of living known as Maitri (empathy), Karuna, compassion, Mudita (sympathetic joy) and Upekkua (equanimity and impartiality) which are interrelated. Bodhisattava desires enlightenment for all beings and not for himself only. He is in grief on account of the suffering of others and does not care for his own happiness.[36] He desires welfare and good of the world. All his faults are destroyed when his heart is full of karuna. He loves all beings like a mother loves her only child. [37]

Karuna consists in realizing the equality of oneself and others as equal to himself, he gets rid of I and you; "yours" and "mine". He learns to feel love and joy of others like his own. His mind must be overwhelmed and saturated with the feeling of pity for others that it is impossible for him to think of his own enlightenment. Thus altruism is recognized and recommended as root motivation of the Bodhisattva.

Tradition, Modernity and Individual

Westernization has brought many changes in South East Asian Culture. Vietnam is one of them. But reason regarding Vietnam is quite different. Effect of war on Vietnamese population is very deep. It affects the population on various facets viz. psychophysical, Political, religious, cultural, socioeconomics in general and family life in particular.

The Vietnamese war has been resulted a sex imbalance among young adults caused by excess male mortality and sex selective emigration after the war. These imbalances have had consequences for the first marriage market due to the surplus of young women relatively to the young men. Naturally traditional family life has got conflict with gender inequality, modernity, intergenerational co-residence, non-agricultural occupation and other modernizing international societies.[38]

In family set-up numerous changes can be seen. Young Vietnamese go to western countries for study and earning. With their association they observe their way of leading family life. Contrary to extended traditional way of Vietnamese family life they see nuclear family, old age home, independent choice for marriage, frequent divorce, child care home for bastard, various kinds of physical enjoyments, no value of fidelity etc. Vietnam has not been remained unaffected with these elements of western society.

Resultantly changes occurred in their familial structure. They considered that traditional wedding was rather complicated including a lot of stages. Today Vietnamese have evolved new custom of marriage. It is simple yet it keeps some traditional characters too. Some cumbersome rituals that is no longer suitable for the modern life. Those were discarded. There are still some compulsory rituals for couples that they practice today even. Betrothal ceremony is one of them. This ritual happens before the wedding. Normally, the bride, the groom or their parents go to the fortune Teller at first to ask for the auspicious date and time for such ceremony. In Vietnamese beliefs, the odd number and the red color will bring luck to the young people. The gifts include betel leaves, areca nut fruits, wine, tea, husband wife-cake, etc. One of the most important gift is the whole roasted pig which placed in a long tray.[39]

There are other many engagement ceremonies also. Their marriage is based on that ceremony. Another one is a tea ceremony. It combines the celebration of marriage

with honoring the family's ancestor and relatives.[40] Like these there are some other ceremonies too that they celebrate today. Yet modern family life is not so happy as in the past. Divorce was scandalous for women in ancient Vietnamese family. It was a taboo in their tradition. Yet it is occurring now a day. There have been increasing larger numbers of couples aged about 35 years old in Hochi Minh City filing for divorce and the rate currently stands at around 30% of couples of all years.[41]

Romance as well as sex has got somewhat supremacy over love and marriage. Arranged marriage has been declining heavily (Pamela Laborde, M.D., Ethnomed. org/ cul/Vietnamese).[42]

Today some reforms have been introduced by the nation in Vietnam to cope up with the pace of modern socio-economic world. Major family reform was initiated under a new law enacted in 1959 and put into effect in 1960. The law's intent was to protect the rights of women and children by prohibiting polygamy, forced marriage, concubines, and abuse. It was designed to equalize the rights and obligations of women and men within the family and to enable women to enjoy equal status with men in social and work-related activities. According to state control media Vietnam's government has forbidden some marriage customs by local ethnic groups, including wife robbery, wedding of close relatives etc.[43]

While divorce has long been culturally discouraged and limited divorce has been increasing after the renovation policy in late 1980's with alternative causes, consequences, etc. This is happening in the process of modernization of transforming traditional society to modern one. Yet divorce rate remains relatively low compared to the rates of other developed countries and are similar to other Asian countries like China and other.[44, 45, 46]

The present Dalai Lama always says that Buddhism is fully associated with trees since its inception. He also advise human to learn altruism from trees which give humane fruits, leafs, plants shelter, wood for furniture and fuel but it never demand anything from human. Feeling altruism as well as sacrificing tendenty should be maintained in family life. It each and every member would follow such ideology the family along with society would be extremely happy and peaceful.

Today more than ever before, life must be characterized by a sense of universal responsibility, not only individual to individual in a family, nation to nation and human to human, but also human to other form of life.

Thus traditional Vietnamese Buddhist family generates the ideology of Brahmavihara which teaches the language of love, universality and how to live harmoniously in this era of rat-race.

Getting an opportunity to be in close association with them while participating a world conference on Buddhism in Vietnam, organized by UNO on the occasion of Annual United Nations Day of Vesak 2019, I have felt that somewhat Vietnamese Buddhists are trying to practice the ideology of the Buddha in their day to day life. Here it would not be out of the context to mention the words of our honorable Prime Minister Narendra Modi who has said that India is a country, that has given the world, not war, but the Buddha, whose message is peace and harmony,[47] Modi Narendra, P.M. Address the 74th session U.N.A, New York on Friday, The Times of India, Saturday 28, 2019, Patna.

Notes & References:

1. Hall. P.5
2. Cady. P 106
3. Ibid. P. 104
4. Duc-P.729
5. Ahir – p. 120
6. Duc-P-729
7. Ibid - 729
8. Ibid – P-739
9. Maha Upanishad, Chapter 6, Verse – 72
10. https://en.m.wikipedia.org
11. Brahmapandit, 2017, p.142
12. Brahmapandit, 2017, p.141
13. David, T.W.R. and Carpenter, J.E. 81
14. UNO Report, 2018)
15. Goenka.1998, pp. 155-56
16. Ibid, p.1
17. Madhymikarika,p-11, chap, 24, 18
18. The Fusion of Einstein and Buddha: spiritual science creates a New vision of reality
19. Wundt, pp. 225-227
20. Pathak, pp.16-17
21. Goncka, 1998, p. 1
22. The Times of India, page 21
23. A.11, 70
24. Ratanpal, p. 36 Delhi: Sri Satguru Publication, 1993
25. Goneka.1998, p.136-146
26. Goenka, p.136-137
27. Anguttar Nikâya, vol.iv, p.45
28. Goencka, p.4
29. https/ethnomed.org-culture>culture>Vietnam
30. https://facts and details.com

31. www.htts/en.m.wikipedia.org>wiki

32. facts and details. com entry 3387

33. htts//tuoitrenews-vn>society>vie

34. The Religion of South Vietnamese in Faith and Fact U.S. Navy, Bureau of Naval Personnel, Chaplains Division, 1967

35. Goneka, pp. 355-56

36. Jatakmala 41.1

37. Lankaavatara sutra

38. paa 2011 princeton edu. pap PDF 17 Sept. 2010

39. silkpathhotel.com –Vietnamese.eng.

40. https.//www.linandjinsa>Victnam....

41. Survey by Vietnamese sociologists and statistics from courts, Dec. 5 2018

42. Pamela Laborde, M.D., Ethnomed. org/cul/Vietnamese

43. associated press March 30, 2002

44. www.daridpblisher.com

45. Tran Thi Minh the Viet Nam Academy of Social Sciences, Ha Noi Vie Nam

46. Journal of Literature and Art Studies, March 2016, Vol.6, No. 3, 298+316 doi:10.17265/, 2159-5836/ 2016, 03-O\O

47. Modi, page – 12

Selected Bibliography:

1. Hall D.G.E., A History of South East Asia, Macmillan Asian Histories Series, Fourth Edition, 1981, Pub. London and Baringstoke Assodciated companies in Delhi, Dublin, Hong Kong, New York, Tokya.
2. Cady, John. F., South East Asia, its Historical Development, Mcgrahill Book Co., New York, 1964.
3. Duc. Thich Tam, Buddhism Around the world, Vietnam Buddhist University Seminer, Religion Publication, Ed. By Thich Nhat Tn, 2019.
4. Ahir, D.C.; Buddhism in South East Asia, A Cultural Survey, Sri Satguru Publication, Delhi, India, First Edition 2001.
5. Repot of the Vietnamese Buddhist Sangha in March 2018.
6. Maha Upanished.
7. Internet Modi. N. Prime Minister, India, January 2019.
8. Brahmapandit, 2017. *Common Buddhist Texts Guidance and Insight from the Buddha.* Ayutthya: Mahachulalongkornrajavidyalaya.
9. David T.W.R and Carpenter J.E,1910 *The Digha Nikaya, eds., 3 vols.London pali Text Society.*
10. UNO Report , 2018
11. Goenka,S.N.,*Visudhimagga, Volume-2.*Vipassna Research Institute,Igatpuri,India.
12. Goenka,S.N.1998,Pratityasamuttapada Mahavagga, Vinayapitaka, Vipassna Research Institute,Igatp uri,India.
13. Available at: www.learningmin.com Einstein and Buddha-spritual–science.15 January 2019.
14. Madhamik Karika, p.11, Ch-24, 18.
15. Available at: www.chenrezigproject.org. 14 january 2019.
16. Goenka,S.N.,1998*Dhammmapada, verse- 1&2.*Vipassna Research Institute, Igatpuri, India.
17. Avaialble at : https://en.wikipedia.org/wiki/Pleasure_principle_psychology. 14 january 2019.

18. Internet The Fusion of Einnestin and the Buddha (Spiritual Science Centers- A New Visin of Reality)
19. Ratanpal, Narendasen, 1993, Shree Satguru Publication, Delhi.
20. Jatakmala, 41.1
21. Associated Press, March 30, 2002
22. Journal of Literature and Arts Studies, March 2016.
23. Modi. N. The Time of India, 2019.
24. Magra, I. *Mindfulness,* The Times of India, Patna, thursday february 7, 2019)
25. Dhammmapada Atthakatahâ, vol. ii. P.102 PTS.
26. Goenka, S.N., 1998, *Singalovâda-Sutta Dîghnikay,* vol.iii. Vipassna Research Institute, Igatpuri, India.
27. Goenka, S.N., 1998, *Singalovâda-Sutta Dîghnikay, vol.iii.*. Vipassna Research Institute, Igatpuri, India.
28. Anguttar Nikâya, vol.iv, p.45. PTS Arun ji
29. Goenka, S.N., 1998, *Khuddakapath Mangalasutta,* Vipassna Research Institute,Igatpuri,India.
30. Goenka, S.N., 1998, *Mahavagga.* Vipassna Research Institute,Igatpuri,India
31. Wundt,W., 1901, *The principles of morality and the department of moral life.* Volume iii.London.
32. Lamb, A., 1960 *Britain and Chinese central Asia,The Road to Lhasa,* 1767-1905, London.
33. Pathak, S.K., 2011, *Buddhism, World peace and Harmony,* Ashok Vihar Delhi.
34. Goneka, S.N., 1998, *Majjhimanikaya.*Igatpuri: Vipasana Research institute, India.

Ploughing Ceremony of Thailand : Indian Origin

Preeti Vishwakarma*

Introductory

Thailand is a South-East Asian country. Siam (modern Thailand) had been in close cultural contact with India. It is true, in ancient literature of India, we have no specific reference to Siam, but frequent references to Suvarnadvipa suggests that the ancient Indians were probably familiar with Menam valley and Malay-Peninsula. This further supported by archaeological finds at Pong Tuk and Phra Pathom Chedi in Nakorn Pathom province (Thailand), which include the Buddhist symbol the Dharmachakra. This undoubtedly suggests that Buddhism had reached Thailand even before the Christian era, because the Dharmachakra belongs to the early phase of Indian art when the Buddha was represented only through symbols.[1]

The present paper presents a descriptive account of the Brahmanical origin of the ploughing ceremony which influenced the almost all the walks of Siamese life in those early days and moulded its policy and administration. This important ceremony is performed up to the present day in the country in order to usher in auspiciously the tilling of paddy fields. The ceremony of the first ploughing, known as Bidhi carat Nangala in Thai or popularly as Rek Na is always performed with full pomp and grandeur. It is always witnessed by His Majesty the King and the Court. It takes place at the beginning of May throughout the whole kingdom. The day is fixed by the Brahmanas.[2]

The Court and the Brahmanas

We know that Siam was a stronghold of the Brahmanas in the early-medieval period of its history. Ruang Nang Nabamasa- a Thai book (The Story of Lady Nabamasa) gives in detail the influence of the Brahmana Panditas in Thai court. The author of the book was the daughter of a Brahmana who received patronage in the Sukhothai period (1257 A.D. to 1350 A.D.) and this book is the best source material for knowing the Brahmanical and other traditions of the Thai people.

*27 D, Hirapuri Colony, University Campus, Gorakhpur

In Ayutthaya period (1350 A.D. to 1767 A.D.) also, the Brahmana Panditas exercised tremendous influence in the court. These Brahmanas are said to have been recruited mostly from North and South India. These Panditas discharged various functions at the court such as interpreting supernatural omens to the king, helping in the work of calendar making and fixing auspicious days for state ceremonies. The chief among them used to be a royal chaplain. But their most important duty was to officiate at the state ceremonials, particularly the anointing and crowning ceremony. Though it is difficult to say, when Brahmanism entered Siam. We can, however, guess on the basis of available data that since Siam formed a part of Kambuja empire about 8th or 9th century A.D., she was naturally influenced by the religious condition of that country. It has been therefore, rightly suggested that Siam received Brahmanism indirectly through Kambuja where it was well established by that time. It may also be presumed that Brahmanism was introduced in Thailand when historical facts were not recorded. But, considering all the aspects it seems that the former view is more plausible and nearer the truth.[3]

The Brahmana priests and scholars played a great role in the cultural life of Thailand like other adjoining regions of South-East Asia. Their attendance at the royal court was indirectly responsible for much of the people's belief in this religion and most of the royal ceremonies and activities were conducted in accordance with the Brahmanical concept as interpreted by them. In fact, Brahmanism influenced every aspect of Thai life. The Brahmana priests officiated at the king's coronation, tonsorial ceremonies, oaths of allegiance to the king taken by officials, royal weddings, royal cremations and first ploughing ceremonies.[4] Besides these, they also cast and set the favorable time for ceremonies, analyzed parlance interpreted dreams of the king, predicted victory or defeat in war and scarcity, sufficiency of rainfall.

The Brahmana Panditas functioning in the Siamese court in the present time constitute a small body of men who perform duties in connection with those ceremonies of the state that are not wholly Buddhist. One can discern in their features a trace of Indian Brahmana blood but since no female Brahmanas over accompanied them from India, they intermarried with the people of the country and so this trace of Indian blood is now but slight. They wear their hair long, in the form of a chignon and on ceremonial occasions don the Brahmanic cord and wear white (a Siamese lower garment called phanum) together with a white jacket, embroidered with silver flowers in the case of the Head priest. They represent two sects- the Vaisnavas (Brahmana Bradhipasa) and Saivas (Brahmana Bidhi) but they have in Bangkok three temples in one enclosure, the larger one (that on the south) being dedicated to Isvara (Siva), the middle one to Ganesa and the northern one to Narayana (Visnu), the houses in which the Brahmanas live in the vicinity.[5]

The Brahmanas of Siam are also known as Phrams, which is a corruption of the word Brahmana. They constitute a small community of Bangkok who live near their temple Vat Bot Phram- the Pagoda of the Sanctuary of the Brahmanas. Thus, the Brahmanas, the scholars and the priests have played a great role in the all-round progress of Thailand.[6] The presence of the Brahmanas at the court was indirectly responsible for such of the people's belief in Brahmanical and Hindu deities and Indian magico-religious practices. From the Sukhothai period up to the present day most of the state ceremonies have been a combination of the two religious Brahmanism and Buddhism. Even at the present time Brahmanical faith and rites are practiced in Thailand.

Performance

In the reign of King Mongkut, popularly known as Rama IV (1851 A.D. – 1868 A.D.) some Buddhist elements were introduced into the Ploughing ceremony. A pavilion was erected in the Pramane ground and an image of the Lord Buddha was placed there. Buddhist preists were also invited to the ceremony to make a recital,[7] and so we see that on the afternoon of the same day, Buddhist monks carry out the special image of the Buddha in procession in connection with the minor degree of the Barus Satva. Like the Buddhist monks, the Brahmana also carry the images of the Hindu gods to the crown paddy fields in procession. They place them on an altar in a ceremonial pavilion. There they perform religious rites on the usual lines.

Formerly it was the king himself who performed this rite. But is still the custom for the king to appoint a temporary substitute, who in this case is always the Minister of Agriculture- Phya Raek Nah, the successor of the ancient Baladeva (Krisna's brother) or Head of the Department of Lands. The object of ploughing by the king or his substitutes leading the ploughing is to set an example to his people and induce them to be industrious in cultivating the land.[8]

The day of the ploughing ceremony is the official start of the rice farming season and the correct name should really be "The ceremony of the First Ploughing."[9] On the preceding day the king gives his benediction to the Lord of the Harvest and the celestial Maidens at the Chapel Royal of the Emerald Buddha. In recent years the former has almost invariably been the Director-General of the Rice Department.

On the morning of the ceremony day the gay cavalcade proceeds from the Ministry of Agriculture to the Pramane ground, venue of the ritual. The temporary king or Phya Raek Nah (Baladeva) is carried on a palanquin in procession to the crown paddy field. This procession consists only of ceremonial drummers, processional umbrella-bearers, a body-guard bearing ancient weapons and pages carrying the insignia of the minister. On arrival at the field which is protected from the instruction of evil spirits by rajavat

fenus erected at each corner, the presiding official descends from his palanquin and goes to the pavilion of the Brahmanas and lights incense sticks before the images of the deities.[10] After he has prayed and lighted the candles and joss- sticks in front of the altars, the Brahmanas pour lustral water into his hands. The presiding official in turn puts several drone of it on his hand.

The ceremony begins for the spectators with the offering to the Lord of the Harvest. This offering is of three gold-embroidered pieces of folded cloth called 'Panung' of different lengths. The presiding official must put on one of them and his choice will constitute an omen permitting the Prediction of the season to come. In case he chooses the long one, a drought is foreseen.[11] The shortest one means that abundant rains smy ruin the harvest. But if good luck or father divine inspiration sakes his choose the 'Panung' of medium length, the favourable omen is welcomed with joy when at the crowd and advances towards the plough placed before the royal pavilion.

Then, the ploughing ceremony begins. Lustral water is sprinkled on the ground in front of the plough which has been anointed. It is stored by the Lord of the Harvest. He then takes the gilded handle of the plough which has been wrapped in red cloth by the Brah Maha Raj Guru (Chief of the Brahmanas) and whips up the pair of the magnificent oxen caparisoned in harness of red velvet and gold-thread while the senior Brahmanas chant rituals and blow the conches. Three concentric furrows in each direction are ploughed and at the roar four celestial Maiden of the nobility, called the Nan-devi follow sowing rice seeds from gold and silver baskets into the newly-turned grounds. Three-full circles are made to complete this part of the ceremony.

The sacred oxen are then unyoked and presented with seven containers of rice seeds, liquor, sea-same seeds, maize, beans, water and grass and from the order in which the oxen choose to eat, the Brahmanas can predict which crops are going to grow best in the coming season. From all these omens-choice of the 'Panung', by the minister and choice of cereals and liquids by the oxen- the Brahmanas, who have withdrawn to the foot of the altars, draw conclusions which are read to the king by a civil servant from the Ministry of Agriculture.[12]

Thus, the ploughing ceremony ends and the Lord of Harvest and his entourage leave in procession for the Ministry of Agriculture. The king and queen take their leave too but the vast crowd now burst on to the field and gather up the hallowed rice grain fertilizers believing that mixed with their own seeds and planted on their farms a good harvest will ensure. It is the end of their rest period and the beginning of the busy farm-work ahead when all the family will be active from dawn to dusk in the paddy field ploughing is also carried official deputed by the king.[13]

This kind of festival is of great importance to an agricultural country like Thailand is that it inspires confidence, diligence and hope in the farmers. It is a great stimulating moral force. The king himself sets an example to his people and leads the fashion in farming. The minute ceremonial details are no doubt designed to serve as good omens removing fears in the hearts of farmers and peasants with regard to see dangers that lie ahead such as too much or too little rain, too much or too little water and rice pests.

The objective of the ploughing ceremony is to cell upon the goodwill of the divinities for the coming harvest and especially to consult those divine the outcome of the harvest. As rice constituted Thailand's principal wealth this ceremony acquires a particular importance in the eyes of the people.[14]

Historicity of the ceremony

This ceremony of Brahmanical origin has been in existence for centuries not only in Thailand but in Burma, Cambodia and China besides India (from which it came). Antiquity of this function is testified by the ploughing of field of Punaura near Sitamarhi town (Bihar State) by king Janaka of Mithila and discovery of Sita by the ploughshare which struck the earthen pot containing her in the ground. It was this Sita, who was later married to Rama- the son of king Dasaratha of Ayodhya. There is another story related to the early life of Gautama Buddha himself narrating a similar ceremony conducted by his father king Suddodhana of Kapilvastu. A miracle finds mention narrating the mysterious behavior of the shade of a Jumbu tree which remained shadowing Gautama Buddha from Sun's heat when all the other shadows of other trees had moved away because of the shifting of the direction of the Sun. It is said that while the father king Suddodhana was himself ploughing ceremoniously to inaugurate the ploughing season of the country (for prosperity of the citizen) the son Gautama was deeply engrossed in meditation.

References:

1. Alabaster, H., 1871, The Wheel of the Law, London, p. 27
2. Bose, P.N., 1927, The Indian Colony of Siam, Lahore, p. 112
3. Dawee, Daweewarn, 1981, Brahmanism of South East Asia, New Delhi, p. 14
4. Dodd, D.W.C., 1923, The Tai Race, Cedar Napids, Iowa Press, p. 42
5. Lady Nabamasa, 1964, The Story of Lady Nabamasa (12th edn), Bangkok, p. 77
6. Notton, C., 1933, The Chronicle of the Emerald Buddha, Bangkok, p. 44
7. Phya Anuman Rajadhan- Introducing Cultural Thailand, No. 1, Bangkok, B.E.2516, p. 28
   - The Culture of Thailand, No. 8, Bangkok, 1953, p. 12
8. Phya Davids, T.W., The Nidana Katha or Commen tarial Introduction to the Buddhist Birth Stories, p. 14
9. Sharan, M.K., The Glory of Thailand, (in Press), p. 215

10. Singaravelu, S., 1966, "Some Aspects of South Indian Cultural contacts with Thailand: Historical Background" in proceedings of the First International Conference of Tamil Studies , Vol, I, Kuala Lumpur, p. 17

11. Thakur, U., 1986, "Brahmana Missionaries in Siam", Altekar-Datta Memorial Lecture, K.P. Jayaswal Research Institute, Patna, p. 15

12. Vella, W.F., 1968, Siam under Rama, III, New York, p. 14

13. Wales, H.G.Q., 1931, Siamese State Ceremonies, London, p. 210

14. Wells, K.E., 1975, Thai Buddhism : its Rites and Activities, Bangkok, p. 175

Kambuja Polity : Indian Origin

Salil Kumar Pandey*

Kampuchea, Cambodia or the Khmer Republic (called by the inhabitants Srot Khmer or Srot Kampuchea, by the French Cambodge and by the Indians Kambuja-the land of *rishi* Kambuja)[1], is a country where the Hindu state of Funan was flourishing at the time of the beginning of the Christian era. Brahmana Kaundinya (in Chinese Hun Tien)- an Indian Brahmana get divine inspiration in his dreams and as directed by the supernatural, set off for a voyage. He was blessed with a divine bow. His ship reached the ports of Funan by the force of wind. The female ruler of Funan Liu Yeh (Indian name Soma) came in a boat for plundering the ship. Kaundinya used his divine bow resulting in the surrender of the local empress. After this incident Kaundinya became the ruler of Funan. From 1st century A.D. to the fall or Angkor dynasty, in the year 1431 A.D. Cambodia was in close contact with India.

Of all the ancient Hindu kingdoms established by Indian settlers in South-East Asia, the kingdom of Kampuchea offers an example of unique achievement of Indians in the field of culture, language, literature, religion, philosophy, polity and art. Sanskrit was the State language during Angkorian regime. So we see that about one thousand Sanskrit inscriptions were found in the different parts of the country. These inscriptions portray sufficient light on the State administration of Kambuja.

The Khmer people came to be acquainted fully with Hindu *Rajasastra* which deal with the problems of State and its administration. It was in the 4th century A.D. that Kaundinya- the second, indianised law and customs of the country.[2] Khmer epigraphs mention many Indian Brahmanas who held high position in Cambodia. Many of them established matrimonial relations in the royal families. They had, thus, ample opportunity to introduce Indian political traditions and also modify the preventing State-craft.

A large number of Sanskrit technical terms on administration like *Arthasastra, Nitisastra. Rajvidya* and *Rajdharma* mentioned in the inscriptions suggest a profound identity with their Indian counterparts. In Cambodian State-craft Dharmadeva and Simhadeva, Ministers of Bhavavarman and Mahendravarman respectively, have been

*Managing Editor, CHETANTA

described to be personifications of *dharma* and *artha*, since they possessed supreme knowledge of them.[3]

Kautilya's *Arthasastra* prescribes four types of tests for ascertaining the identity and loyalty of the government officials.[4] Bhavavarman II also must have subjected his own high-ranking officials to those tests as we learn from the records of the 7th century.[5] The *Arthasastra* also recommends the knowledge of four Hindu Sciences- *Anviksiki, Dandaniti, Trayi* and *Varta* for kings.[6] One inscription refers to a similar study by a Khmer king who has been compared with the god with four faces because he possessed knowledge of all the four science referred to above.[7]

The Kambuja inscriptions throw a floodlight on administrative set-up of government from the very advent of ancient Khmer rulers. The Kambuja Empire extended from Tong king and Champa and the borders of Siam (Thailand). People of various races and tribes lived in this area. It is enjoyed the benefits of a compact set-up of administrative system. The country was ruled by a woman previously and it was Kaundinya who initiated his own way of administration. The country was divided into provincial governments which had several *Janapadas*. Evidences in many inscriptions suggested republican set-up at various levels like the election of *Rajyasabha, Sabhapati* and local administrators by old men of the villages.

Rules had been laid down for the minutest details about provincial government, justice, local self government, revenue, military organization and appointments etc., most of which were based on Indian tradition in which there is a lot of respect and reverence for the authorities. The entire set-up of administration was oriented on the lines of *Arthasastra* and *Dharmasastra*.[8] Prevalence of Indian administrative system and general understanding can be seen everywhere. Notable features of which are:

1. The divine origin theory,
2. King's council of ministers,
3. Provincial chiefs,
4. Local self government,
5. Hereditary appointments.

Besides the above features, the seven elements (*saptanga*) of state of Kautilya were also found. In Cambodian texts also a frequent reference to the fundamental elements of Hindu *Rajyasastra* has been made and similar to Hindu ideals, the king was considered to be the most important of the seven elements.

1. The King

The king's authority was supreme and a divine origin was claimed for him. Coronation to the throne was performed by the Brahmana priests. It was later followed by royal *guru*. The royal *gurus* like Divakara Pandita, Yogiswara Pandita and Vamasiva have also been mentioned. These *gurus* had great influence over the kings. They taught them mathematics, grammar, *dharmasastra*. These royal *gurus* also initiated the sovereigns into the rites of royal pontificate such as secret mysteries, including probably blood rites and human sacrifices.

The Cambodian kings, at the time of coronation and on occasions of some great achievements, took the following titles of Indian origin:

1.	*Rajadhiraja*	-	Harsavarman I
2.	*Kambujendradhiraja*	-	Harsavarman I
3.	*Narendrajah*	-	Yasovarman
4.	*Rajendra*	-	Yasovarman
5.	*Maharajadhiraja*	-	Bhavavarman
6.	*Samrat*	-	Sûryavarman
7.	*Prthviapati*	-	Prthvindravarman
8.	*Adhisvara*	-	Jayavarman II

The king was considered to be either an incarnation of god or a descendant from a god or both. King Jayavarman II is said to have taken birth on the earth from lord *Siva* himself.[9] Those who appeared before the king touched the earth at the feet of the steps three times with their foreheads. This custom was prevalent in India till recently.

As per the description of Chou Ta Kuan, the king held two audiences each for the transaction of public business. At the appointed hours he met the officials and citizens who wanted to see him. The king appeared before a gilded window. His approach was heralded by music, conches blow and after some time the slave girls attending the palace raised the curtain of the window. The crowd clasped their hands in devotion and bowed until their foreheads touched the ground. Only when the conches ceased blowing people could raise their faces and look upon the king god.[10]

From the above description, it appears that though some democratic notions had spread in the country, aristocracy still persisted during the time of his visit (12th century A.D.). A detailed description about the pomp and grandeur of the palace (the movement of the king, his royal procession, palace girls, concubines and queens, his dress and royal conveyance) is contained in Angkor, a book written by M. Mac Donald.

Siva was generally thought to incarnate himself in king's or to engender dynastic. Monarchy was intimately bound up with the cult of *Linga* which was considered to be the seat of divine essence of kingship. The *Linga* represents the *devaraja* 'god king' was adorned in the temple situated in the centre of the capital.

Ma Tuan Lin's description mentions a tradition of the king to mutilate all the brothers on the day when a new king was proclaimed. But since there is no reference to such inhuman attitude towards their brothers by the kings. L.P. Briggs considers the above statement of the Chinese writer to be unreliable.[11] About the harmonious relation of the king with his brothers, we know for certain that Chitrasena- the brother of king Bhavavarman, served faithfully as commander-in-chief for a long time and after the death of the king (his own brother) he succeeded him on the throne and adopted the name of Mahendravarma. Isanavarman is believed to have killed his brother to clear his way to the throne but such stray events, if correct, should not be taken as an established custom.

To impress their nobility of ancestry, the kings claimed descent from Indian dynastics like the Sûryavamsa and Somavamsa etc. For increasing their popularity and influence among the Indianised Khmers and also to raise their estimation in the minds of their subjects, the Cambodian kings established matrimonial alliances with the Brahmanas.

The Cambodian royal courts looked much like an Indian court full of pomp and magnificence. The king was surrounded by a host of officials like *Brahmana purohitas, hota, rajguru,* Ministers and Generals and other officials including royal physicians. He used to be absolute monarch-supreme head of both executive and judiciary like the Indian kings. Their authority was not limited by any check but they were expected to rule according to the Indian law books.

The kings were great builders. They made magnificent temples and splendid palaces. They had usually several wives among whom one used to be principal queen known as *agraamahishi*. The general rule was that the king was followed after his death by his son on the throne. Besides the oldest son, other relatives could also become king's successor. Udayadityavarman was succeeded by his brother and Rudravarman was succeeded by his nephew P°thvindravarman in 860 A.D.[12] Mention of *Arthasastra* and *Dharmasastra* has also made and the position of the ruler has been defined thoroughly.[13] This reveals that the king was highly revered. He was source of law and supreme commander of the army. Appointments of provincial administrators were made by him only. Before the appointment to the post of *visriayapati* the candidates had to work on lower posts also. From Chinese sources we learn that generally princes used to be appointed as provincial governors. These provincial governors could interfere in any

affair of the provincial administration. They had a council of ministers and many other officials to help.

The king celebrated holy sacrifices of Hindu belief such as *Sastrotsava mahahoma, laksahoma, kotihoma, Sraddha* and *bhuvanatha*. It was the duty of the whole nation to protect the king for which purpose *Napantaranga* and *Dvaradhyaksa* were appointed.[15] Besides these two officials, there were thousands of other guards. People were always prepared to offer supreme sacrifice to the king.

2. Government Officials

We have seen that appointments to high-ranking posts like governors and other officials of provincial and judicial administration were made directly by the king. In some of the cases where hereditary considerations were made, it was ensured that such individuals were capable, suitable and worthy of being appointed. The other consideration was the allegiance of the family to which the candidate belonged.

We know from an inscription about a family which was favoured by the king because of its patriotic spirit. This was called the family of royal officers.[17] Dharmasvami, an educated Brahmana well-versed in the Vedas and the Vedangas was made the chief of Dharmapura. His two sons were also given government appointments. The elder son held many royal offices such as commander of the cavalry.[18] and lord of Sre°thapura etc.[19] His younger brother Pracanasimha was also a high official.[20] He successively held the posts of commander of the palace-guards (palace-guards possessed arms and wore helmets on their heads),[21] commander of the navy and chief of the thousand soldiers of Dhanvapura.[22]

From an inscription of king Udayadityavarman, we know of family which is mentioned to have monopolized the post of 'the bearer of royal fan', for thirteen successive kings beginning from Jayavarman II. The inscription records the gift of a golden *laksmi* by king Udayadityavarman as an insignia of the office of the bearer of the royal fan. This hereditary office of fan bearers was founded by Vagisa and continued for many generations from Jayavarman, II to Sûryavarman I.

Women were also appointed on high ranking posts. Prana one of the wives of king Rajendravarman II, was appointed as the private secretary of Jayavarman. This appears to have been done for two reasons:

1. In making appointments effects were made to appoint members of the royal family on especially exalted positions and when no male members available from among them, such posts were filled up by females.
2. It appears to have been done also for the sake of efficiency.

Government officials had to take oath of allegiance to the king. They took a vow before sacred fire in the presence of a gathering of the Brahmanas and Acaryas to sacrifice their life in the king's service.[25] Such people were supposed not to honor any other king or accomplices to the enemy. For apses corporal punishments were also awarded. Government officials were subject to transfer from one place to another. Their posts and designations could also be changed. The high officials of the government had similar designations as prevalent in ancient India. Mention of the following has been made:

1. *Kumaramantri* [26] - He appears to be *Kumaramantri* as mentioned in north India.
2. *Baladhyksa* [27] - He is *Baladhykrta* referred to in Indian records.
3. *Mantri* [28] - He holds an important position in the State.
4. *Rajabhiseka* [29], and
5. *Rajakulamahamantri* [30] - These two high officials are mentioned in the inscriptions but it is not always easy to distinguish their exact status and nature of duties.

Kumaramantri lived with the princes. Their duty was to control over the princes and to ensure that they obeyed the orders of the emperors. The *Baladhyksa* or the *Baladhykrta* was a bit different from the army chief while the army chief went to the battle-field, the *Baladhykrta* administered the army from ministerial headquarters. He was the head of all affairs related to the army but it was not necessary for him to go to battle-field.

The *Mantri* was appointed by the king. They generally came from aristocratic families. There were a number of ministers in the Cambodian royal court during the 7th century A.D., as we learn from the Chinese sources, and the emperor sat amidst five types of high ranking officials.[32] The Angkor Vat reliefs also portray such royal courts.

Among the other officials mention can be made about the following:

1. *Purohita* [33]
2. *Dvaradhyaksa* [34]
3. *Annadhipati* [35]
4. *Gugadosapariksaka* [36]
5. *Dûta* [37]

The Prasat Komnap Stele inscription gives a list of many other officials who were concerned with the management of the religious Institution of various sects constructed by YaSovarman.[38] They had no hand in the general civil administration:

1. *Rajakutipala* - He kept the government seal in his custody.
2. *Pustakaraksaka* - He used to look after the libraries of the government monasteries. His duty was to save the books as well as the important documents from destruction.
3. *Lekhaka*[39] - This *Lekhaka* can be identified with *kayastha* mentioned in Indian records.

Ulkadharaka (torch-bearer), Sakatiharaka, Panyaharaksa, Tambûlika, Patrakaraka, Tandulakarinya and *Ksuskacakra* have also been mentioned. Besides them, we have also mention of the following government officials:

1. Rajasabhadhipati
2. Mahasvapati
3. Mahanauvahaka
4. Samantanauvahaka
5. Sahasravargadhipati
6. Chief of royal household
7. Royal physician
8. Leader of royal bodyguard
9. Chief of corvee labour.

The *Rajahoti* was government official occupying a high position with some authority in the management of civil administration. The Khmer rulers showed keen interest in religious, benevolent and public-welfare Institutions. The administration was almost blending of *dharma* and therefore, even the minor officials of religious Institutions were appointed by the rulers.

3. Provincial Administration

From the Chinese accounts we learn that the whole country was divided into as many as 30 provinces. Some of these were ISanapura, Vikramapura, Dhanvipura, Adhyapura, Tadantarapura, Sresthapura and Ugrapura. The king generally appointed the princess as provincial governors. These provincial governors could interfere in any affair of provincial administration. They had a council of ministers and many officials to help. Some of these provincial heads used to get this post after the death of their fathers but in such cases selection was made on the prime consideration of personality and individual capability. Samaradhipativarman was the hereditary governor of Bhavapura.[40] The Tan Kran inscription of Jayavarman I mentions the eldest son of Dharmasvamin who was appointed as governor of Dhruvapura on his father's death.[41]

Kambuja inscriptions refer to a provincial administrator named Simhadatta and another Brahmadatta, who was the administrator of Dharmapura.[42] This Simhadatta was also a royal physician. References to donations and charities made by the administrators of Bhavapura and Jyesthapura are also available.[43]

From a reference to the administrative set-up of Cakrankapura, Amoghapura and Bhimpura it transpires that they were not directly administered by the royal officials. They, rather, enjoyed some sort of internal autonomy, as king Isanavarman has been called the suzerain of three kings.

Provincial chiefs, more often than not, used to work at lower posts before elevation to the appointment. This was done to give them training and experience so that they could handle responsibilities of greater importance.

4. Local Self Government

Detailed information about local self government is lacking but we know that the whole administrative set-up, Cambodia was patterned on the model of Indian political theories and prevailing political structure in the main land. Democratic set-up was functioning in India much before the time when India's intercourse with the south-east Asian countries began. The pioneers of this contact remodeled the system and grafted Indian administrative system which included local self government also.

We have mention of village officials like the *Gramavrddha, Purusapradhana* and *Dasakagrama* etc. which show that the villages were having their own leaders. The Prasat Trapan inscription of Jayavarman mentions a head of ten villages.[45] On the basis of this inscription it can be conjectured that the village leaders and the *Dasakagrama* (leaders of ten villages) must have possessed some authority and must have given them power to administer and manage certain affairs locally.

5. Military Organization

The country had vast land and sea frontiers. It was necessary for the Cambodian government to have both land and naval forces. The king had a number of generals. When Kamvau revolted, the king had deputed his great army chief named Devasran, Vlon, Vhur, Gam, Cenarau, Camnat, Rann and Khamonn to punish him. From this it is clear that the Cambodian king had ten generals who were known as *senapati*. The commander-in-chief was known as *mahasenapati*. The post of the commander-in-chief was given to the king's brother in most of the cases. We know of the appointment of Chitrasena, the brother of king Bhavavarman as the General who led the army against Funan.[46]

Mention of officials administering both army and navy has also been made. In one of the inscriptions we have reference to the following officials:

1. *Mahasvapati* - He was the head of the cavalry.
2. *Mahanauvahaka* - He was naval officer.

3. *Samantanauvaha* - He is said to be the head of boatmen (*taritrabhrta*) who know their classification.[47]

There seems to be different gradations of military rank. *Sahasravargadhipati* was an officer, commanding one thousand soldiers. He used to live in a single city. R.C. Majumdar suggests that the word *varga* evidently stands a unit and the title probably means the commander of a unit of thousand soldiers rather than on thousand units.[48]

Reliefs of Kambuja also contain informations about contemporary Cambodian defence forces:

1. The army chief is shown with his bodyguards.
2. A man in armour with a spear on his shoulder and shield in his left hand has been depicted riding an elephant.
3. At his back his escort is standing with an umbrella and four horsemen are marching in front of him who appear to his pilots.
4. The Bayon reliefs portray very clearly naval engagement of soldiers.
5. Use of elephants, bows and arrows besides spears and shield by the army of Sûryavarman II is depicted in the bas relief of the south gallery of Angkor Vat.

Fighting personnel according to the pictures depicting on the bas-relief included infantrymen, archers, cavalrymen and elephant riders. Infantrymen fought with spears, archers shot shower of arrows on the enemy while cavalrymen encountered the enemy with their spears, swords and shields. For the protection of the king there was a standing and regular bodyguards. The leader of the royal bodyguard was *nrpantaranga-yaudha*.[50] B.N. Puri thinks that the body of troops was commanded by *Narendraparicarakay*.[51] The administration of the palace was under *Sarvopadhasuddha*. The palace guard wore helmets on their head. It is perhaps this body which is referred to in the following passage in a Chinese chronicle; in front of the chamber containing the royal throne others are thousand guards armed with cuirass and lances.[52] These bodyguards were equipped with weapons like javelin and spear. *Sarvopadhasuddha* used to be a reliable person with proven patriotism. B.N. Puri remarks that this appointment was made to avoid any coup d'etat, especially on occasions when the succession to the throne was disputed.[53] Inscriptions frequently refer to war elephants. From the history of the Tsang dynasty, we learn that there were five thousand war elephants in Kambuja.[54] Martial music used to be played as the Cambodian army fought. The following musical instruments were used on such occasions: *lallari, kaasa, karadi, timila, vina, venu, ghanta, mrdanga, purava, bheri, kahala* and *Sankha*.[55]

6. Revenue

Like the Indians, the people of Cambodia paid taxes to the state. The king had the right to impose and realize taxes. According to Hindu belief, taxes were regarded as wages of the king. The one-sixth *bali* tax, import and export duties, fines and forfeitures collected from offenders-gathered in accordance with the *Sastras* (law and constitution) as your wages (*vetanena*), shall constitute your revenue. Relation between the king and the subject was proved to have ended by the very fact of the former's incapacity. The tie of allegiance is deemed dissolved the moment the king failed to fulfill his duty and the subject was free to employ another servant-master instead.[56] The Cambodian kings used to guard the subjects and therefore the people paid taxes in all kinds. In Khmer inscription of Polm Tim, mention of giving of a buffalo to the head of the collectors of paddy-tax by a citizen has been made. The animal was offered for exemption from the royal corvee.

7. Judiciary

The king was the head of the judiciary and the highest court of appeal. Guilty officers were not immune from punishments and for misuse of their official position they were punished by the king. Of properties without claimant, the State was the owner as it appears form the mention of the word *mrtakadhana*. Such properties were bestowed to the Sanjakas only by the State. The civil and criminal law of Kambuja was based on the laws of Manu.

The following were the officials of the judiciary department:[57]

1. *Vyayaharadhikari* - Chief Judicial Officer. He was the custodian of the properties of goods.
2. *Dharmadhikaranapala* - Superintendent of the court of justice.
3. *Gunadosapariksaka* - Inspector of qualities and defects.
4. *Mukhya*-N*yayadhisa* - Chief Justice.

Dharmadhikaranapala and *Gunadosapariksaka* were subordinate to *Vyayaharadhikari*. One Prthvindra Pandita has been referred to forward the decision of other judges to the king.[58] Besides the government officials the kings also took interest in judiciary. We know of several rulers who studied the *dandaniti*. Among them Rajendravarman is said to be very prominent. Many other Khmer kings also acquired knowledge of this science and delivered judgement based on this *niti*. *Rajdharma*, though crippled during the reign of Jayavarman V tried its path without any trouble with the support of this *niti*.[59] The Hindu concept of *rajdharma* is mentioned at several places in the Kambuja records. King Rajendravarman is said to have propounded the precepts of

rajdharma according to Manu.[60]

The Eastern Baray inscription of Yasovarman refers to Bhisma, who lying on death bed taught the precepts of *rajdharma* to the Pagdavas.[61] In Kambuja the *Nitisastra* literature seems to have been quite popular. *Rajvidya* of which Kamandaka has given a brief definition, is stated in some Khmer records to be a hereditary royal science.[62] The kings are praised for their deep interest on this literature.[63] References to the following types of punishments are found in inscriptions:

Fine of gold

A fine of 10 ounces of gold was imposed upon Mrtan Kurun-the chief of Vipura for the offences of removing the boundaries and reaping the crops of land belonging to others.

Floggings

The younger brother of Mrtan Kurun who abetted the crime was given a punishment of flogging.

It appears that punishments were given very judiciously and nobody was considered immune punishments. King Sûryavarman sent messages ordering punishment to Prthvindra Pandita who was a first class Magistrate.[65] In the inscription of Puol Prasat decrees given by Prthvindra Pandita have been mentioned. He is said to have been assisted by a few other Magistrates in deciding the cases.

In another reference we find that a slave who had fled away was caught tried and handed over to the monastery again. The judge, the witness and two other lower officials have been mentioned in his trial.[66]

8. Social Welfare

With the spread of Indian culture in Cambodia, human attitude towards the downtrodden, disabled and sick also got spiritualistic touch and favour by the administration and people. R.C. Majumdar says, 'It is not merely the externals of Hindu civilization but the very essence of the Hindu view of life, that is unfolded before our eyes as we study the records of this period and review the achievements of the greatest kings of Kambuja. What, for example can be a nobler sentiment than that which inspired king Jayavarman VII in founding the hospitals more than 100 in number all over the kingdom. In the records of foundations we have come across mentions like.' That bodily pain of the diseased became in him (king Jayavarman VII) a mental agony more tormenting than the former. For the real pain of the king is the pain of his subjects, not that of his own (body).[67]

R.C. Majumdar further says, 'This noble sentiment which combines the idealism of the Kautilyan king with the piety' and humanity of Asoka was not a mere pious wish or thought, but actually translated into action by the elaborate system of remedial measures with a network of 102 hospitals as its unclues.[68]

These hospitals were served by physicians, assistants and nurses, both male and females. Ailments of the sedentary monks were also not overlooked. Among the medical provisions we find listed 2000 boxes containing a remedy for piles.[69] These hospitals which were situated at different places in the country treated patients numbering 82,000 with free medicines. The sick were issued with mosquito-nets. Even now we find the prevalence of the worship of *bhaisajyaguru* with a pot full of medicines.[70]

Reliable information about government activities of social welfare in ancient period of Cambodia is lacking. Somehow the verdict of His Majesty Prince Sihanouk on this point is not worthy which reveals that the great rulers of Cambodia definitely took care of the well-being of their subjects while criticizing these who portray the Angkorian rulers as concerned only with personal glorification, the Prince, in the year 1960 pointed to Jayavarman VII contribution, to the welfare activities of his kingdom in the form of roads and hospitals.[71] He further claimed that immense engineering works, irrigation system, communication network, libraries and other works of art were encouraged and promoted by the rulers of the remote past. The concerned portion of his speech is as follows:

"Angkor does not only symbolize our victory in war, but also and above all the high point of our civilization expressing itself not only in an incomparable burgeoning of great monuments affirming the mastery of our architects, but also in immense engineering works, irrigation system, communication network and work of art, hospitals, libraries etc. (*sic*) would we have had '*Roiseleils*' if they had not been surrounded by scholars, architects, artists, engineers, doctors and men of letters."[72]

Modern researches have established the significant fact that each Khmer king upon taking office was expected to carry out works of public interest, particularly works of irrigation, before starting upon his own temple mountain.[73] In this connection the remark of B.P. Groslier is notable. He says that the labour bestowed upon the ever developing irrigation system is far more impressive than the building of temples which were merely chapels crowning a cyclopean undertaking.[74]

Abbreviations

BEFEO = Bulletin de l' Ecole Francaise d' Extreme Orient

EI = Epigraphica Indica

IK = Inscriptions of Kambuja

JSEAH = Journal of South-East Asian History

VIJ = Vishveshvarananda Indological Journal

References:

1. In the vernacular of the country the region is called Khmer which has differently pronounced in different language-in Chinese they called it Kih-mich, in Javanese Kmir and in Arabic Qmara. This name Kambuja originally meant only the northern portion of Cambodia under the name Chenla. Cambodia was a kingdom subordinate to Funan. After the fall of Funan it was applied to the whole of Cambodia. The Chinese name Funan represents an old Khmer word *Vnam* or *Biu nam* (in modern Khmer *Phnom*) which means a hill, *cf*, Coomaraswamy, A.K., *History of Indian and Indonesian Art.*,London, 1927, p. 184; Hall, D.G.E., *A History of South-East* Asia, London, 1964, p. 24.
2. Coedes, G., *Les Etats Hindouises d'Indochine et d'Indonesia.* Paris. 1148. p.48.
3. VIJ. Vo. IX, March 1971, p. 154.
4. *Arthasastra*, edited and translated by R. Samasastri, Mysore, 1921
5. Majumdar, R.C., *Inscriptions of Kambuja,* Calcutta, 1893, no. 12, verses a- 22, b- 12.
6. *ArthaSastra*, 1.2.1
7. Majumdar, R.C., *IK.* No 81, verse 10.
8. *Ibid.* no. 30. Verse-6
9. *Ibid.* no. 34. Verse 2 and 3
10. MacDonald, M., *Angkor*, London, 1948, p. 72
11. Quoted by L.P. Briggs in his *Ancient Khmer Empire*, Philadelphia, 1951, p.50
12. Bose, P.N., *The Hindu Colony of Cambodia,* Madras, 1927, p. 320
13. Majumdar, R.C., *IK.* No 30, verse 6
14. Puri, B.N., *Sudûra Pûrva men Bhartiya Sanskriti aur uska Itihasa*, Lucknow, 1969, p.265
15. Majumdar, R.C., *IK.* No 34, verse 16
16. *Ibid.* no. 139, p. 344
17. *Ibid.* no. 34. Verse-5
18. *Ibid.* no. 34. Verse-11
19. *Ibid.* no. 34. Verse-15
20. *Ibid.*
21. *Ibid.* no. 34. Verse-16
22. *Ibid.* no. 34. Verse-18
23. *Ibid.* no. 34. Verse-121
24. Chatterji, B.R., *Indian Cultural Influence in Cambodia,* Calcutta, 1965, p. 16
25. Sharan, M.K., *Studies in Sanskrit Inscriptions of Ancient Cambodia,* New Delhi, 1974, p. 69
26. Majumdar, R.C. No 45, verse 106
27. *Ibid.* no. 71 A. Verse-41
28. *Ibid.* no. 67. Verse-106
29. *Ibid.* no. 30. Verse-30
30. *Ibid.* no. 100. P.269
31. *Mahabharata.* VII. 189; *Harivamsa*, 15. 841; *El*, vol. X. p. 85
32. Chatterji, B.R., *op.cit.* p. 61
33. Sharan, M.K., *Select Cambodian Inscriptions*, Delhi. 110007, 1980, p. 78

34. Majumdar, R.C., *IK.* No 61, verse 86
35. *Ibid.* no. 61. Verse-87
36. *Ibid.*
37. *Ibid.* no. 30. Verse-8
38. *Ibid.* no. 66. Verse-98
39. *EI*, vol. XI. p. 131
40. Sharan, M.K., *Political History of Ancient Cambodia*, Delhi, 1986, p.77
41. Majumdar, R.C., *IK.* No 34, p.44
42. *Ibid.* no. 34 and 39
43. *Ibid.* no. 120
44. Majumdar, R.C., *Kambujadesa.* Madras, 1944, p.60
45. *IK.* No 131, p.334
46. *IK.* No 34, verse-11
47. *KambujadeSa*, p.59
48. Ibid
49. Chatterji, B.R., *op.cit*, p. 203
50. *Kambujadesa*, p.59
51. Puri, B.N.,*op.cit,* p. 269
52. Quoted by R.C. Majumdar in *Kambujadesa*, p. 59
53. Puri, B.N., *op.cit.*, p. 269
54. *KambujadeSa*, p.60
55. *Mahabharata, Santiparva*, LXXI. 10
56. Jayaswal, K.P., *Hindu Polity*, Banglore, 1943, p. 335
57. Majumdar, R.C., *IK.* No 125, p.314
58. *IK.* No 122, p.311
59. *IK.* No 102, verse-11
60. *BEFEO*, Vol. XIII, p.19
61. *IK.* No 65, verse-87
62. Kamandakiya-Nitisastra 1.8
63. *VIJ*, Vo. IX, March 1971, p. 7.
64. *IK.* No 99, p.268-69
65. *Ibid*, no. 146
66. Chatterji, B.R., *op.cit*, p. 149
67. *IK.* No 179, p.492
68. *Kambujadesa,* p.134
69. Walker, G.B., *Angkor Empire*, Calcutta, 1955. P. 63
70. *IK.* No 179, p.492
71. Osberne, M.E., 'History and Kingship in Contemporary Cambodia', *JSEA.*, Vol. VII. No. 1 (1966), p. 5
72. *Relics Cambodigionnesi,* January 22, 1960
73. Hall, D.G.E., *op.cit.*,p. 125
73. *Angkore, Art and Civilisation*, London, 1957, p. 30

Hinduism and Buddhism in Indonesia

Babita Kumari*

ABSTRACT : In this paper, we shall investigate change and innovation in Agama Hindu Dharma, a form of Hinduism which has adapted to the modern Muslim influence in Indonesia by emphasizing a monotheistic deity unique to the country (Sanghyang Widhi Wasa), and an ethical system and prayer rituals with many similarities to Muslim practices. We shall look at changes in ritual (the Hindu call to prayer and the conversion process of condensed purification known as Sudhi Wadani), changes in the arts (the creation of the Ogoh- Ogoh) and changes in theology (the development of a monotheistic Hindu god concerned with sin and salvation, with prophets and revelations). We shall focus on the major locale for modernization, the religion curriculum used in public education. It is a study of religion as lived, with experimentation that has been adopted into state policy. We shall also briefly examine modern Indonesian Buddhism, called Agama Buddha or Buddhayana, which has accepted the monotheistic god Sanghyang Adi Buddha. These recent developments show new possibilities for interfaith dialogue through the adoption of common categories of interpretation.

Hindu culture and religion arrived in the Indonesian archipelago in the first century CE, closely followed by Buddhism, which influenced the development of a number of Hindu-Buddhist empires. Hindu and Buddhist forms of theology and ritual combined over the centuries, and this fusion can still be found to some extent today. However, the Hinduism that came to Indonesia had not yet developed the bhakti tradition, thus the devotional aspect of Hinduism never became important there. Instead, the focus has been on dharma, understood as responsible and ethical behavior, in harmony with the universe.

There are a variety of theories of how Hinduism came to Indonesia.[1] Gusti Putu Phalgunadi describes four of these, using the metaphor of the caste system. According to Vaishya theory, Hinduism came with traders and merchants from India, whose voyages often included intermarriage with Indonesians.[1] According to the Kshatriya theory, defeated warriors and soldiers fled India with their followers to take refuge and build alternative strongholds in Indonesia. The Brahmana theory posits that priests and

*Head, Department of History, Mahakavi Kalidas Suryadeva College, Trimuhan, Chandauna (A Const. Unit of L.N.M.U., Darbhanga)

missionaries from India spread the religion, which was accepted because these people were believed to possess supernatural knowledge and power. In contrast, the Bhumiputra ("native son" or nationalist) theory holds that Indonesians visited India, liked the culture, and brought back religious ideas. Indonesia (especially Bali) is mentioned in such ancient Indian texts as the Ramayana, Brahmanda Purana, Vayu Purana, and Jataka tales in the (Buddhist) Pali Canon.[2] In these texts, Bali is usually called Suvarnadvipa ("golden island") or Suvarnabhoomi ("golden land"). In the sixth-century encyclopedia, Brihatsamhita, and the eleventh-century collection of stories, Kathasaritsagara, Bali is called Narikeladvipa, "the island of coconuts." (Phalgunadi 1991).

Hinduism in Indonesia

Modern Indonesian Hinduism, or Agama Hindu Dharma, was accepted as an official religion in several stages during the late 1950's. There are currently various layers of Hinduism, which include folk Hinduism (local indigenous beliefs which are mixed with Hindu ones), Agama Tirtha (the religion of holy water, which emphasizes ritual and is largely Saivite), and Agama Hindu Dharma (which emphasizes ethics, philosophy and social responsibility). These may be mixed, and practiced simultaneously.

Here we shall focus on Agama Hindu Dharma, an approach which was developed to fit the Indonesian government's standards of religious legitimacy, which included a revealed text, a prophet, and a clear ethical system which is not limited to a regional or ethnic group. In order to reformulate Hinduism to fit government criteria, Hindu Balinese intellectuals met together in a council (parisada, or society) which they called the Parisada Hindu Dharma Bali. In their formulation, one god was called the Almighty God, with other gods and ancestors demoted to angels or other aspects of the one God. The Vedas, Ramayana, and Bhagavad Gita became the equivalent of the Qur'an or Bible, and the Vedic sages or rishis became prophets. Philosophy and theology were based largely on South Indian Saiva Siddhanta and justified by Sanskrit mantras on the unity of Brahman (as divine ruler of the universe).[3] The Parisada strongly affirmed morality and national identity, and promised to emphasize textual sources and theology while simplifying ritual.[4]

The one God is called Sanghyang Widhi Wasa, a god unknown in India. This avoided sectarian conflict between Hindu groups in Indonesia. There is devotion to the four teachers or gurus- God, parents, school teachers, and the government. Devotion to the government thus becomes a part of the religion- another area of compromise. Ethical behavior was based on several dharmasastras found in Indonesia, primarily the Nitisastra. There also five pillars of belief (in Brahman, atman, karma, moksa, and reincarnation) and five pillars of practice or yajnya. Its focus is not bhakti or devotion, but rather

dharma or religious and social obligation. This dharmic form of Hinduism differs from the popular Hindu practices, which emphasize ancestors and the creation of holy water to worship deities.

One recent new government ritual is the Hindu call to prayer, at 6 AM, noon, and 6 PM. It broadcasts the trisandhya prayer, and it can be heard over loudspeakers in many villages. It became popularized on television in the 1990's. On Bali television, there are images of nature- birds, monkeys, rice fields, waterfalls, and the ocean (similar to the backgrounds used for the Indonesian televised Muslim calls to prayer, and both have images of people dressed in white praying). The Hindu god is addressed as Ya Tuhan, the Indonesian generic term for god, and on Bali television the prayers are written in both Balinese and Indonesian scripts. Chimes sound in the background as the trisandhya stanzas are chanted. The prayers are broadcast in schools, with a break in classes, and in offices, when workers take time off for prayers.

The trisandhya prayers begin with the Gayatri mantra, which is described as stating the unity of Sanghyang Widhi Wasa. The multiple names of the god Siva are recited, and then the person admits sorrow over sin. As stanza 4 says, "OM, I am full of sorrow, my action is full of sin, my soul and my birth are poor. Save me from all this sorrow, O God, purify my body and mind." Stanza 5 addresses Mahadeva (Siva) specifically and asks him for forgiveness, and stanza 6 is a general plea for forgiveness for sins of body, speech and mind. The prayer ends Shanti, Shanti, Shanti (peace).[5] All of these names are understood as emanations or attributes of Sanghyang Widhi Wasa. It adapts a nirguna deity, changing him to a god concerned with sin and salvation.

Another new ritual in Bali is the Sudhi Wadani purification process, for conversion to Agama Hindu Dharma. This one-day ritual was developed in the 1960's, primarily for tourists who came to Bali and wanted to marry Hindus (in Indonesia, both marriage partners must be members of the same religion).[6] It is called purification rather than conversion, and has been officially recognized by the Parisada (HPDI), the national Hindu organization of Indonesia. It includes all of the purification rituals that are required for Hinduism, from the time of conception on, compressed into one day. Non-Hindus who go through this process get a decree with signatures from the local government, and they are then considered to be Hindu. They are then able to marry and participate in temple ceremonies. Again, religious conversion is a ritual understandable to both Islam and Christianity.

In terms of the arts, a new style of expression of religious ideas was found in the creation of the Ogoh-ogoh images. Bali is known for its paintings and statues, including both religious and secular themes. Ogoh-ogoh are statues built for the Ngrupuk parade,

which takes place on the eve of Nyepi day in Bali, or New Year's Eve. The Ogoh-ogoh art is a very recent addition to the Nyepi ceremonies, first appearing in Bali in the early 1980s. Ogoh-ogoh figures normally have the form of mythological beings, ranging from demons (bhuta kala and raksasa) to figures drawn from popular culture or from contemporary Indonesian society (such as politicians and cartoon villains). These figures may be classical, humorous, terrifying or satirical, representing disease, conflict, greed, and corruption. The deeper goal of the ritual is to destroy desires and passions, and transform them into benevolence.

The holiday of Nyepi is held in celebration of Saka New Year, a day to ask Sang Hyang Widhi Wasa to maintain harmony between human beings and the universe. Three days before Nyepi, rituals are held to purify the living environment of three spirits: Bhuta Raja, Bhuta Kala and Batara Kala. This is so that they do not interfere with humans. The rituals include melasti (praying at temples), pecaruan (offerings) and pengrupukan (spreading rice, lighting homes with torches and making noise by hitting objects). During Nyepi, Indonesian Hindus ritually abstain from four acts: amati geni (abstinence from lighting fires), amati karya (abstinence from working), amati lelanguan (abstinence from pleasure) and amati lelungan (abstinence from traveling).

The pengrupukan ritual is usually followed by the parade of the Ogoh-ogoh. This involves a set of giant puppets being carried around the banjar or neighborhood. The major puppet is the image of Bhuta Kala, who is thus expelled from the environment. The ritual, which ends in the burning of the image, brings harmony to both mankind and nature, to enable a solemn celebration of Nyepi. (Bhakti 2014).

In terms of theological innovation, we have the introduction of the god Sanghyang Widhi Wasa, who has sometimes been described as a form of Brahman, detached and nirguna, He is thus without form, and not in need of temples or statues. But lately he has also been described as a god concerned with moral behavior, closer to Muslim and Christian ideas of god. Modern Balinese Hindu temples have been changing, and several temples in Bali have developed a special shrine to him, which is empty, in the northeast corner of the temple. Sanghyang Widhi Wasa is occasionally represented by a sketch or a statue, a person with no gender or clothing, but with flames that represent energy or sakti emerging from cakras and joints. This image is also starting to appear on altar cloths and other ritual item[7]Because he is a formless god, it is difficult to find paintings or statues of him. He is described as the only god, concerned with humanity but beyond human understanding.

While India does not have a public school curriculum for teaching Hinduism, Indonesia does, and it is quite sophisticated. Religious education is understood to be an obligation of the state, and it is understood to give students faith, and an appreciation

for religious truths (called rasa agama). Education is important throughout life, and even Hindu pregnancy rituals have been justified as "parenatal education." (Bakker 1993) Religion is a compulsory topic taught in the schools, with a strong emphasis on ethics and obedience to authority, and children must attend school for at least 6 years. (Howe 2001). Agama Hindu Dharma is understood to be based on revelation, a "religion of heaven," as opposed to the ethnic "religions of the earth" which are human-made. A variety of types of Hinduism are incorporated into Agama Hindu Dharma in Indonesia. Sacred texts include the Vedas and its commentarial literature, in both Sanskrit and its related Kawi language of Old Javanese. There is respect for rishis and ancestors, use of the Gayatri mantra, and the Vedanta concept of moksa as sat cit ananda. Students are taught that Atman merges with Brahman, in the state of highest liberation, and they are taught about multiple levels of body and soul. We have the one god who manifests as the Trimurti, with Brahma, Visnu, Siva and their saktis (female powers and consorts), and there are dewas, awatars, and the powerful bhatara figure (who functions as a guardian, much like Siva bhairava). There is belief in karma and reincarnation, and the four asramas, margas and goals of life. The textbooks include many aspects of Indian Hinduism, including both sruti and smriti.

From yoga, we have pranayama, the body positions or asanas, and the siddhis (which in this case belong to the deity rather than the yogic practitioner), as well as the yamas and niyamas as brata obligations. From Sankhya philosophy, we have the tattvas, the mahabhutas, the tanmatras, the indriyas, the three gunas, and such concepts as manas, buddhi, and ahamkara (though the figures of Purusa and Prakriti are notably lacking). From bhakti, we have love and singing, the emphasis on sincerity, service to God, and the four forms of devotion (to parents, gurus, and God, with the government added as a fourth). From the Saiva tradition, we have the three forms of Siva as Paramasiva and Sadasiva, and Siva-atma (who appears within the person). From Tantra, we have the mandalas (sacred diagrams) of the gods, with their images and architecture involving colors, directions, images, and weapons, and ritual chanting of mantras. All of these diverse elements are united together in the religion textbooks for students, which is a major locale of religious experimentation.

However, the textbooks avoid some more controversial issues. We may note that there is no concept of outcaste or "untouchable" groups in Agama Hindu Dharma, no emphasis on vegetarianism, and no sacred thread ceremony for the three higher castes, as we see in Indian Hinduism. The same samskaras are available to all (or at least all who can afford them), and there are priests for each of the castes. One need not be a Brahmin to be a priest.

In the eighth grade, the students learn theology (the manifestations of God as

shown in the Saivite nava devata mandala), the relationship of the macrocosm and microcosm, Indian forms of Hinduism, and the five offering rituals (to gods, sages, ancestors, living people, and spirits). There is also a discussion of crime and its consequences. In the ninth grade, they learn about the emanations of God (as deva, bhatara and avatar), rituals performed to the various forms of God, and more detail on the history of Hinduism in Indonesia. In the tenth grade, they learn the theories of the astika (insider/Hindu) and nastika (outsider/non-Hindu) philosophical schools, the nature of the soul, ethics from the Nitisastra text, and the use of multiple calendars to calculate holidays. In the eleventh grade, there are further details on the Sankhya theories of creation, karma, and ethical imperatives in Hindu scriptures, and Atman and Brahman. In the twelfth grade, they learn about ethics, caste, marriage, and law, and the obligations of Indonesian Hindus to follow both religious and secular law.

Thus, we have the major sacred Hindu texts introduced to the children by age eight, variations on Saiva Siddhanta taught by age nine, the Sankhya elements involved in the microcosm and macrocosm taught by age ten, the existence of multiple levels of material and spiritual bodies detailed age eleven, the ability to calculate holidays according to multiple calendars taught by age fourteen, and the unity of Atman and Brahman and the legitimacy of different religious and secular legal systems taught by age eighteen. The students learn the philosophies of Saiva Siddhanta, Vedanta, and Sankhya, among others. The texts take the earlier Saiva background of Indonesian religion, and combine it with other Hindu philosophies and belief systems. They also add the dominant categories of discourse found in Islam and Christianity: monotheism, revelation, ethics, and moral obligation. The curriculum has shown that Indonesian Hinduism can adapt to those requirements. As such, it has become a recognized religion, with the safety and support that such status can bestow (Pye et al. 2006).

Indonesian Hinduism has been influenced by Buddhism over history, and for a period of time was fused into Siva-Buddha synthesis. We may note that experimentation is also seen in Indonesian Buddhism, in its modern attempt to create a Buddhist monotheism. Buddhists have had a harder time with the required monotheism, partly because most forms of Buddhism are non-theistic, and partly because there are dozens of Buddhist factions in Indonesia that disagree with each other. A form of Indonesian Buddhism called Buddhayana was somewhat able to incorporate the other forms of Buddhism under an umbrella of belief in a Buddhist deity. There has been much disagreement over this. Some Buddhist groups accept the notion of a single celestial Buddha, while others evade the issue and focus on ethics. Currently there are two major Buddhist groups in Indonesia, WALUBI (or Indonesian Buddhist Trust, which accepts Buddhayana monotheism) and KASI (Sangha Indonesia Conference, which emphasizes

ethics and pluralism, and largely ignores the issue of monotheism). There are also many smaller groups. Buddhism has sacrificed its non-theistic perspective of universal emptiness or nirvana, which is now interpreted to mean that nothing ultimately exists except God. There are Indonesian Buddhist organizations rapidly coming into and out of existence (perhaps demonstrating the Buddhist concept of impermanence).

During the medieval period, Indonesian Buddhism was fused with Hinduism, into a form of tantric Buddhism which accepted the five meditation Buddhas (images of them may be found on the bas-reliefs at the ninth century Borobudur temple complex in Java). There were Siva-Buddha priests, who still practice today, and who meditate on the mandalas of the five Buddhas and the adi-Buddha ("original Buddha") to create the holy water needed for rituals. Hindus can use the holy water created by Buddhist priests, and vice versa. However, the Buddhist population of Indonesia is small, and there is only one Buddhist village remaining in Bali. As a Balinese Buddhist priest stated in interview:

Paramabuddha is in the centre of all mandalas. There is an inner, visualized mandala and an outer mandala. Diksha is necessary to create the inner mandala, though the outer mandala can be learned from texts... In Bali, we worship the five tathagatas [buddhas] together, there is no focus on individual worship. However, each tathagata has different mantras and mudras. They are worshipped in both Saiva and Buddhist rituals... Buddhists can perform rituals for Saivas, and Paramabuddha can give grace (anugraha) to worshipers as Paramasiva can.[8]

Buddhism became an accepted religion indirectly, starting out as a subcategory of Hinduism. There have been many forms of Buddhism practiced in Indonesia, including Theravada, Mahayana, Tantrayana, Tridharma, Maitreya, and Nichiren. The Buddhayana group describes itself as non-sectarian and incorporating the other forms of Buddhism. Its founder, Bhikku Ashin Jinarakkhita, proposed in 1954 that there was a single supreme deity, Sang Hyang Adi Buddha, basing his argument on ancient Javanese texts, and on the shape of the Buddhist temple complex at Borobudur. The earthly figure of Gautama Buddha was considered to be the prophet of the god Sanghyang Adi Buddha, and the universal ethic of Buddhism was based on the four noble truths.

During the 1970's, other Buddhist leaders also emphasized that all sects of Buddhism in Indonesia believed in one Almighty God, adapting his absolute form as Sanghyang Adi Buddha, his creator form as Avalokiteshvara and his savior form as Padmapani. All sects recognize Siddhartha Gautama as a prophet, with the revealed texts as the Tipitaka scriptures and the Sanghyang Kamahayanikan (Brown 1987). The Indonesian Buddhist doctrine includes the existence of God, the Triple Jewel, dependent

origination, karma, rebirth, nirvana (as ultimate happiness and being with god), and the existence of the bodhisattva. Wesak was accepted as a national holiday in 1983, which in Indonesia represents official government acceptance. However, the issue of a monotheistic god is still protested by several Buddhist groups, especially Theravadins.

As one national Buddhist representative phrased it, the goal for practitioners of Buddhism in Indonesia is to be role models for peace and helping the world, so that people will say a good person is "like a Buddhist[9]

A Wayang performance in 2012, in Jakarta, showed this modernization. The gamelan orchestra played both traditional and modern Western music (this included the Shaker song "Simple Gifts" and the Simon and Garfunkel version of the song "Scarborough Fair" played on gamelan chimes.) There were singing and dancing police-women, as well as traditional women singing in sarongs and kebaya blouses, with video projections onto the wayang screen. The puppeteer or Dalang was behind the screen, and there were politicians on both sides of it[10].

Footnotes

1. There are also some Old Javanese texts, such as the Sarasamuccaya, which are considered to be divine revelations.
2. Phalgunadi uses Suvarnabhumi to refer to Bali, while some other authors use the term to refer to Burma.
3. These included the mahavakyas ("great sayings") of Sankara, statements from the Vedas and Upanishads made famous as the basis of the Advaita Vedanta school in India.
4. On this topic, see the work of Picard, Michel (2011) and Ramsted (2004).
5. For the record, here are the last verses, following the Gayatri/Savitri prayer and prayers to Narayana and Siva. The translation is by Ida Pedanda Gde Putra Tlabah, from interview, 2014:
6. On this topic, see the work of Picard, Michel (2011) and Ramsted (2004).
7. For the record, here are the last verses, following the Gayatri/Savitri prayer and prayers to Narayana and Siva. The translation is by Ida Pedanda Gde Putra Tlabah, from interview, 2014.
8. Interview, Ida Pedanda Putra Yoga, Hindu priest, Tabanan, 2014.
9. Interview, Pinda, local driver, Ubud, 2010.
10. Interview, Ida Pedanda Jlantik Duaja, Buddhist priest, Budakeling, 2012.

Borobudur - One of the wonders of the world

Moti Lal Ram*

The classical Indianised art of Java is possibly the greatest art produced by any of the people of Southeast Asia, surprising even that of the Khmers. From the point of view of symbolism combined with formal skill, it has few rivals in the East. It represents an intimate blending of religions and artistic aims and methods, achieved by the native genius of the people of Indonesia.

Borobodur is one of the most impressive monuments ever created by man. It is both a temple and a complete exposition of doctrine, designed as a whole, and completed as designed, with only one major afterthought. It seems to have provided a pattern for the temple-mountains of Angkor and it must have been in its own day of the wonders of the Asiatic world. Built about A.D. 800, it probably felt into neglect by about 1000 and overgrown. It was finally excavated and restored by the Dutch administration in 1907-11. Physically it now appears as a large square plinth (the processional path) upon which stand five gradually dimishing terraces. The plans of the squares are stepped out twice to their central projection. On the sixth terrace stands a series of three circular diminishing terraces, crowned by a large circular stupa. Up the centre of each face, from top to bottom, runs a long staircase, none of the four taking pr4ecedence over the others as 'main entrance'. There are no internal cell-shrines.[1]

In these respect Borobodur is a Buddhist stupa in the Indian sense. Each of the square terraces is enclosed by a high wall with pavalions and niches along the whole perimeter, which prevents the visitor on one level from seeing into any of the other levels. All these terraces are lined with relief sculptures, the niches containing Buddha figures. The top three circular terraces are open and unwalled, and support a total of seventy-two lesser stupas made of stone open lattice work, inside each of which was a huge stone figure of the Buddha. The convex contour of the whole is steepest nearer the ground, flattering as it reaches the summit. The bottom plinth, the processional path, was the major afterthought. It is made of a massive heap of stone pressed up against the

*D.Litt., Reserach Scholar, Magadh University, Bodhgaya, Bihar

original botttom storey of the designed structure, so that it actually abscures an entire series of reliefs — a few of which have been uncovered today. The reason for this afterthought is most probably technical. It seems that the bottom storey, that with an almost vertical face, may have begun to bulge and spread under the pressure of the immence weight of earth and stone above. The plinth may therefore have been added to buttess the perimeter of the base, and prevent the whole structure from shifting disasterously. There are some who have suggested other reasons for its presence, one of them symbolic but the engineering explanation is convincing enough.[2]

The symbolic structure of the monument is as follows :- The whole building represents a Buddhist transition from the lowest manifestations of reality at the base, up through a series of 'regions' or psychological states, towards the ultimate condition of spiritual enlightenment and release from corruption and error at the summit. At the same time, since the monument is a unity, it effectively proclaims the doctrine of the unity of the cosmos in the light of Truth, and does not — as other relogions may banish 'the world, the flesh and the devil' to an eternally 'different' negative region. In this Buddhist doctrine not onoly is the entire creation redemptible, it has never been anything but redeemed, and the ordinary stae of existence is, if only we have eyes to see it, no different from the state of enlightened bliss. The difference between enlightenment and ordinary corrupt life is not a difference in the world, but in the eye and mind of each bachelor. Someone who has reached the top of Borobodur should be a different person from the one who started up.[3] Thus the topmost terrace with its round stupa containing an unfinished and invisible image of the Buddha symbolizes the ultimate soiritual truth, the seventy-two open work stupas on the other circular terraces with their hardly visible internal Buddha forms symbolizes the states of enlightenment not quite fully consummated. Over the four sides of the square terraces preside a large number of niched figures of the Dhyani Buddhas in forms appropriate to the realms at the level of which they appear — as transcendent on the upper stages; as 'human' on the lower stages.

The usual way for a pilgrim to pay reverence to a Buddhist stupa is to walk arount it, keeping it on his tright hand. All the terraces of Borobodur have on their outward facing walls a vast series of reliefs about three feet high, which would be read by the visitor in series from right to leaft. Between the reliefs are decorative scroll panels; and a hundred huge monster head waterspouts carry off the tropical rain water. The gates on the stariways between terraces are of the standard Indonesian type, they have a face of the horrific Kala monster in relief at the apex, vomiting scrolls which run down the jambs to terminate in out-turned heads of aquatic makara monsters at the foot. These may appear in the two spandrels of the arch a pair of attractive small figures of bearded

sages opening curtains, as if to open for the visitor the next level of vision. The reliefs of the lowest level of all, those which were later hidden by the added processional path, are in many ways the most interesting.[4] They are devoted to a whole series of scenes, taken from the Karmavibhanga text, whihc illustrate the casual workings of good and specially of bad deeds in successive reincarnations. They show, for example, how those who hunt, kill and cook living creatures such as tortoises and fish are themselves cooked in hells, or die as children in their next life. They show the matricide tormented by a demon in hell. They also show how inferior people waste their time at entertainment like idle music and juggling. It has been suggested that the obscuring plinth was added because it was not considered suitable that people should see these scenes, and that the place for them was underground. This is most unlikely hypothesis, for these lowest scenes contain the most immediately valuable popular exposition of Buddhist community.[5]

It is easier to make vice look interesting than virtue and the liveliness of the sculptors devoted to wickedness is in marked contrast to the progressive orderliness and it must be admitted increasing monotomy of the series above terrace is a long series of scenes of scenes devoted to the life of the Buddha and to stories of his earlier incarnations called Jatakas. These do still have considerable vigour. On the terraces above are illustrations to important Mahayana texts dealing with self discovery and the education of the Bodhisattva, as a being possessed by compassion for and devoted wholly to the salvation of all creatures. The second gallery is especially notable for its vision of paradise where personages gorgeously jewelled sit conversing or listening to the truth under magnificiently ornate pavilions, among trees whose foilage has turned into patterned scrolls from which hang fruit — like strings of gems. The long drawn-out approach to the summit, round terrace after terrace is marked by the progressive stilling into a static order of the sculptural design. The sensuous roundness of the forms of the figures is scarcely abated, but the emphasis upon horizontals and verticals, upon static formal enclosures and upon the repetition of figures and gestures becomes more and moremarked as one approaches the summit. These all movement disappears, and design submits entirely to the circle enclosing the stupa.[6]

It hardly seems possible that Borobodur was the focus of a specific royal cutt, as there is no provision at all for the performance of royal rituals. It must have been in some sense a monument for the whole people, forming the focus for their religion and life, and constituting a perpetual reminder of the doctrines of their religion.

References :

1. Banerjee, Anukul Chandra, Buddhism in India and Abroad, Calcutta, 1973, pp. 77.
2. Coeder, G., The making of South East Asia, California, 1949, pp. 72
3. Rawson, P., The Art of South East Asia, London, 1967, pp. 227
4. LeMay, Reginald, The culture of South East Asia, London, 1954, pp. 98
5. Kron, N.J., The life of Buddha on the stupa of Borobudur, The Hague, 1927, pp. 201
6. Mus, P., Borobudur, BEFEO, 1935, pp. 75

Global Buddhism in the New World Order (NWO)

S.K. Pathak*

Buddhism : A human thought of the First Millennium B.C.

A challenge to the human beings appears afresh by the end of the second millennium when a drastic social change comes ahead all over the globe. The New World Order (NWO) disowns and sometimes discards what is old, ancient and *archaic*. In the history of mankind many a times new thoughts have spouted, developed and withered in the course of time, locus and conditionality. The NOW is however dreadfully drastic and unprecedently extensive, because the world has now been too small to make a round. Once a day, very few among the daring travelers could aspire to go round the globe for the vastness of the earth. Vasco da Gama and Columbus could hardly dream to round the globe by a few hours. Despite such drastic changes caused by the sophisticated technology and super industrial innovations, the social history of the mankind cannot decline the periodisation of time. So the human beings in the sociological terms march towards the NOW to face the challenge of the future ahead. Futurology innovates three pronged ways:

(i) Bio-physical innovations to rule over the sensible and intelligible Nature around the humans of this earthen globe.

(ii) Socio-ecological up-surges to overcome the disparities between the hi-intelligent and the average commoners for socio-economic equality. Alike the biological ecology in food-cycle, the cyclic racket of exploitation by the haves over the have-nots tends to anew form of the producer and the consumers.

(iii) Psycho-spiritual enterprise to search for peace at the global level and unity among the mankind.

In other words, whatever the human beings have achieved out of the Book of Nature so far, are the effects of socio-cultural movements series i.e. the assimilated as well as accommodated strength to face the alienation and challenges around the mankind.

*Retd. Professor, Vishwa Bharati and ex-Res. Prof. Asiatic Society, Calcutta

Those are either environmental or casually led. Thus the social inability through the ages has created the history which was recorded the human thoughts. In each millennium many new ideas have sprouted with reference to memorable events and some of their remnants still prevail Buddhism containing of the teachings of the mastermind Shakyamuni, the Buddha is one of such social and cultural movements which continues since the sixth century before the advent of the Christ and about one thousand years before the spread of Islam. Mahavir, the Jina was contemporaneous of Gautama the Buddha Confucius in China was also his age.

Presumably, the history of the human thoughts had began since the Homo sapiens possessed convoluted nervous substance of the brain in the skull of vertebrates as a directing force to govern the action of the body, both voluntary and involuntary, physiologically the grey matter works inside the skull of the human head with lobs in the brain. The social mobility is conditioned to the bio-physical growth in the time context. The Buddhist literature especially the *Abhidharma* texts in Pali and Sanskrit devote to the analysis of the bio-physical factors to determine how the brain, the nervous system reflect on the psychic functioning, whether voluntary or involuntary *Kaya* which means a conglomeration of various items in lexicons is used for body whether an animate or an inanimate. So a human body is the conglomeration of various physiological items like nerves, veins, arteries, circulation of blood, digestive organs, internal secretions and the integration and disintegration of cell *Kayadhatu* is therefore liable to change in the context of time, locus and conditionality and that change affects in the mental functioning. *Majjhima Nikaya* (PTS. P. 86) correlates the functioning mind with the effectuation of consequences of one's own deeds (*Kammavipaka*) which either entangles the aggregated body (*skandha*) or cleanse the mind to become free from the last bond of *Karma* or performance of deeds. The bio-physical innovations to rule over the perceptible and intelligible Nature around the humans of this earthen globe on which the present day Futurology insists are already critically tackled in the Buddhist *Abhidharma* texts again and again.

A non-Buddhist may raise a voice of descent by claiming that inter relationship of the body and the mind had been innovated by the *Upanishadic* seers, who might appeared before the sixth century B.C. Some of *Upanishadic* texts like *Brhadaranyaka, Chandogya, Isopanisoda Mandukya, Kena* and *Kathopanisad* in their nucleus forms probably prevailed among their exponents and in the limited circle within their specific *MsiKulas* a hierarchy of the teachers and the taught. That which Gautama the Buddha did, was the innovation of the New Order (NO) of his time in the history of the human thought. He declared the changeability of the phenomena leading to the first proposition of Buddhism i.e. impermanence (*anitya*). His second doctrine of essencelessness or no-

soulness (*anatma*) was the corollary of the first proposition. The last proposition of the Buddhist trinity was the suffering (*duhkha*), which is universal in the conventional phenomenology.

While the *Upanisadic* teachers did not disown, the impermanence and changeability of the phenomenal world perceptible by the sense organs. They led emphasis on the intrinsic orderliness of the phenomena by which origination, preservation, and annihilation in the conventional perspective become apparent. To the *Upanisdic* seer's *retam* the intrinsic orderliness is regarded as the Truth which is all-pervading, all-immonent *Brahmana* and Omniscient power *ishvara* to conduct the phenomenon world to function. In the dialogue with Prothapada, Gautama the Buddha declined to accept that which was indeterminable and he remained silent. Gautama the Buddha's New Order in the then social thought of the mankind was novel and then unprecedented.

The New World Order in our age

In the second millennium A.D. a rapid bio-physical awareness which is achieved by the human beings has led to multiple socio-economic experimentations and thereby, psycho-spiritual vis-à-vis ideological plurality manifests. Among the inhabitants of this globe a few countries of the eastern and the western hemisphere claim leadership to bring forth multipronged development programme for socio-ecological balance in the producer-consumer inter relationship in the chain of exploitation cycle between the haves and the have-nots. The tendency of egoistic overrule upon the underdeveloped which had been imposed during the crusades between the Mohammedans and the Christians of the Mediaeval Euro-Asians opened a new approach of zeal and enthusiasm how to make each other bio-physically superior to others. Such prudent mission of I-expansion generated drastic changes in the social order of the involved groups of the humans in the globe.

Aggressive world wars endangered the peaceful inhabitation of the human beings on the globe in spite rapid enterprise for maintaining equality, fraternity and liberty from the socio-ecological cycle of exploitation chain. The racketeers take advantage of high efficiency of sustained efforts of scientific inventions and technological super-industries up to the mission of global commercial expansion, otherwise named global 'consumerism'.

Historically speaking, the present day NOW holds a continuity in growth through successive stages like modern, post modern, pre-industrial or agrarian, pristine, classic industrial, super-industrial and so forth. These nomenclatures in successive order of social changes in respect of 'developing countries' prompts to conduct rapid social,

economic, political and cultural changes and mobility at the global level. The enthiasm of building ONE WORLD may be epitheted otherwise as the New World Order (NOW) with an Endeavour to satisfy the basic needs primarily in spite of excessive demographical growth of the world population.

The NOW lays greater emphasis on multi-dimensional prospect of various branches of scientific researches how to high utilize the natural, resources for the amenities of the human life like 'leisure', 'comfort' and fulfillment of alluring hungers. Obviously, the Astro-physics, bio-sciences including therapeutics and intern ate medicine with sophisticated appliances become the ruling instrumentation for innovating electro-magnetic, electronic apparatus. Thereby super-industrial society accelerates a high-jerk globalization of the ideology of One Worldism through commercial expansion of production ration. The NOW inclines to rapid social, economic commercial advancement to which international political has co-ordinates. The *social change* and mobility, demanded by the NOW *undergo* an unprecedented culture growth by human migration from one part of the globe to other part within a few hours to ply.

A new challenge to the Buddhists ahead

Under the circumstances the Buddhists all over the globe face an unprecedented challenge in the forthcoming days. Because the above mentioned hi-jerk exile ration of the NOW tends to a new class-colour by designating the Great Five (GF) and the Superior Eight (S8) after keeping the rest to .....Moreover, the ideology of One Worldism appears .....and unorthodox while indiscriminating the .....identity of the individual or the group as well. Enthusiastic commercialization of important manufactures and ....industrialization at different levels become partial to compartmentalize a person under different designation. Such as an economic man, a commercial man, a political man, a socialist country, a democratic country, a social democratic and so on. The intellectuals claim themselves superior to the rest, whereas the technocrats demand greater privilege than others and so forth.

On the other hand, the Buddhists, who had once been advised by their founder-teacher to move throughout for the cause of good and welfare of the human beings and the divine ones, have now spread almost in every states of the world today. The globalization of the teachings of the Buddha through the Buddhist missionaries of various countries is being organized with a competitive motivation since the last century. Several international Buddhist organizations are allowed with the altruistic service for the cause of the human beings at large having the least distinction of colour and nationality. No demarcation of ethnicity plays factor in the world wide mission of the Buddhist organizations at the international level. Such as, International Buddhist Brotherhood

Association, World Buddhist Organisation, European Buddhist Union.

An observer may point out that the Buddhists belonging to separate national cultures in spite of their common religious identity suffer from separationism since the olden days of schisms in the Buddhist Order (*Sangha*). For instance *Hinayana, Mahayana* and their doctrinal sub division like *Vajrayana, Sahajayana, Kalacakrayana, Sarvastivada Madhyamika, Vijnanavadin* and so on among the Indian and Nepali Buddhists. In China, Japan, Korea and Tibet several factions appeared. In Myanmar, Sri Lanka and Thailand, Vietnam also similar divisions prevail. Even in Europe, America, Australia, South Africa continents the Buddhists preserve their *Nikaya* identity strongly. So the globalization of Buddhism in pluralistic manifestation becomes a weak force to ..... challenges of One Worldism time to the NWO.

The above observation cannot be denied. The humble .....of a Buddhist is that the *Kaya dhatu* transforms .....and further transforms to *Vajradhatu*. So the apparent pluralistic approaches to identify the common purity the mind when Buddhist observes the fours: Four fold Noble Truth, Four fold *Pratinavihara* and Four fold mind fullness and declares:

यदा मम परशां च भयां दु:ख च न प्रियम्।
तदात्मन: को विशेषो यतो रक्षामि नेतरम्।।

बोधिचर्या, पृ. 231

A Buddha-awareness at the global level

In the above context of pluralistic Buddhist Outlook (*dristi*) floating all over the globe, *Bharatavarsa*, not the present day *Bharat*, India of the Buddha's age shoulders the keen responsibility to exhilarate the psycho-spiritual enterprise to search for peace at the global level and unity among the mankind in the NWO ahead. In other words, the Indians of the present generation have already welcomed the NWO with Buddha-awareness *Vajradhatu*.

Under the force of circumstances Buddhism had faced a setback in the early second millennium A.D. and merged in the popular cult-diversity of the mediaeval India. Despite that the psycho-spiritual nucleus of Buddha-awareness with adamantine like potential revived in *Bharatvarsa*, when the patronage of *Rani Kalindi* (1830-1873) was geared by the Sri Lankan Buddhist teacher Sangharaja Saramedha in the nineteenth century. Thereafter three eminent *Bodhisattva*; like personalities, namely Bhadanta Anagarika Dharmpala (1865-1926), Bhadanta Kripasakan Mahasthavir (1865-1926) and Baba Saheb Bhim Rao Amedkar (1891-1956), rejurinated the Buddha awareness by their one-pointed dedications. Their dedications of our age never go waste. *Vajrasana*

which is popularly named Buddha-gaya or Bodh-Gaya, is the seat where *Bodhisattva Siddhartha* attained *Bodhi* the Awakenment. That means, the *Vajra-dhatu* achievement made him the *Vajrasattva* when *Siddhartha* is said to have uttered his strong avowed self-determination.

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वमस्थिमांसं प्रथमं च यातु।
अप्राप्य बोधि बहुकल्पदुल्लमां नैवासनात्कायमताश्चनिष्यते ।।

Here *bodhim bahukalpadullbham* refers to the totally emboldens of a person and non-conditional universal knowledge which corresponds, to the omniscience of the Buddha. An ordinary person is generally extrovert by nature; a spiritually moral conduct. A *Vajrasattva* with a strong vow of self-determination believes retroversion to be unified with the wisdom (*prajna*). The *Dhammapada* reads the self-nature of the world:

एष्ठां वस्सथिमं लोकं, चित्तं राथरथपमं।
यत्थ बाला विसीदन्ति, नथ्रि संगो विद्यानताम्।।

लोकवज्ज 5

Buddhism which had once spread outside with the initiative of the far sighted recluses like Upagupta and others under the patronage of Ashoka requires a New Order to generate the Buddha-awareness among the likeminded many for peace and the global level and unity of the mankind. In the plurality of national cultures the teachings of the Buddha for the universal co-ordination *toiterate* the Upanisadic vow of *saddhivihara:*

सह नाववतु, सह नो भुनक्तुसहवीर्यं करवाव हे

Measures for enroading Buddha-awareness

A relevant query may arise how to enrouse Buddha-awareness in a massive scale. As mentioned above, primarily a person is extrovert. In the ancient tradition of *Bharatvarsa* symbols and icons had been used as a common measure of enrousing faith (*shraddha*) to the figurative embodiments which were not always in human form. The Buddhists could not escape from such soft and sensitive aspect of the human mind in spite of their stress on rational behaviours. About the beginning of the image worship among the Buddhist academicians may differ but an ordinary person expresses faith *Shraddha* and devotion (*bhakti*) as soon as a person stands in front of the Buddha image bestowing serenity and compassionate look.

In that respect, the primary measures of extending faith (*Shraddha*) to people of world are to be employed to make them appear before the Buddhist shrines, temples and the Buddhist images. For a lay person, whether a Buddhist or a non-Buddhist, the Buddhist sites, environments bring forth an immeasurable effect with psycho-spiritual

enterprise. So an organized movement for extending the scope of leading the maximum number of site-seers, tourists, and pilgrims becomes the primary need with the assistance of the Department of Tourism to move comfortably and conveniently. In case the administrative machinery with their organizational set up co-operates two ends will be achieved; Firstly, the primary measure of enrousing Buddha-awareness at the mass scale, Secondly, the commercial enterprise at the national and the international levels in the context of the NOW and globalization of the Buddhist trinity, the *Buddha*, the *Dharma* and the *Sangha*.

Select Bibliography:

- Ambedkar, Dr. B.R. : *Buddha and the Future of his Religion* in Maha Bodhi Journal, April-May, Calcutta, 1950
- Bechert, Heinz : *Buddhism in Cylon and Studies on Religious syncretism in Buddhist countries*, Gottingen, 1978
- Bill, D. : *The Coming of Post Industrial Society*, New York, 1982
- Chaudhuri Sukomal: *Contempary Buddhism in Bangladesh*, Calcutta, 1982
- The Dalai Lama XIV, Tenzing Gyatsho : *Buddharma and Society* (in Hundred Years of the Baudhha Dharmankur Sabha 1892-1992), Calcutta, 1992
- Franckel B.: *The Post-Industrial Utopians*, Cambridge, 1989
- Frances, M. Claphan (ed) : Great World Encyclopedia Leicester, Galley Press, 1984
- Garshany, J. : *After Industrial Society*, London, 1978
- Harvey Cox : *Why Young Americans are Baying Oriental Religions*, in Psychology Today, July, 1997
- Kushak Bakula : *Practical Aspect of Buddhism* (in Hundred Years of the Bauddha Dharmakur Sabha 1892-1992), Calcutta, 1992
- Kishan Kumar : *Prophecy and Progress: The Praplogy of Industrial and Post-Industrial Societies*, Harmonds World, 1978
- Pathak, Suniti Kumar : *Plurality in Buddhism in our century* (in Relevance of Buddhism & other Religions in Modern Society) Nalanda, 1977
- Prebish Charles : *American Buddhism North Situate*, Marsachusetts, Duxbury Press, 1979
- William Outhwaite & Tom Bottemore (eds) : *The Blackwell Dictionary of the Twentieth Century Social Thoughts*, 1993.

Emigration and Settlement of Indians Abroad

J. C. Jha*

The Indian sub-continent contributed much manpower to the plantations of European colonies in different parts of the world in the nineteenth century. True, there was a worldwide movement of people during this period, but this particular emigration was unique in certain respects.

Already Indian domestic servants and convict labour had been imported into Reunion and Mauritius in the late eighteenth century. From 1816 onwards Indian convicts were employed by the public works department in Mauritius.[1] In 1830 a French merchant carried about 130 artisans to Bourbon (Reunion). This was followed by the entry of skilled workers to this island.[2]

The Industrial Revolution in Europe and the mercantile and industrial capitalism had led the acquisition of more and more territories and their exploitation by the Europeans to meet the demands of the plantations after the abolition of slavery (1833) the colonial powers looked to South Asia for cheap labour. The planters believed that the Indians could be induced to labour in the plantations, "for a putance no greater than that awarded to the slave."[3]

The British rule had brought about economic ruin to India. The decline of handicrafts and the ruin of the agriculturists due to new revenue laws in British India, recurrent floods, famines and epidemics, these and other economic social factors compelled the Indians to emigrate.[4] As an Indian writer says, the causes of the emigration of labourers were "complex and varied" : the failure of crops, debt, the oppressions of zamindars, unemployment and the pressure population[5] and caste restrictions.

First some labourers from China and some white and negroes were tried as cotract labour, but soon the planters looked to the Indian sub-continent as "a source of assured cheap labour"[6]. As I.M. Cumpston says, "With an unskilled labour to sell, Asiatic coolies were forced to move into areas where there was a skilled white managerial group to

*Professor & Former head, Deptt. of History, Patna University, Patna-800005

direct them, and where their docility and capacity for labouring in a tropical climate were welcome".[7]

The adoption of the indenture system of contract labour served the interests of white capitalists: the labourers were chained to the employers and the export of indentured labourers began with the blessings of the British Indian government to Mauritius (Ilede France) in 1834, to British Guiana (Guyana) in 1838, to Trinidad and Jamaica in 1845, to Grenada in 1856, to St. Lucia in 1858, to St. Vincent in 1860 and to Surinam in 1873. Fiji applied to the Indian government for coolies in 1872 with a draft immigration law.

From 1839 to 1844 and again from 1848 to 1850 Indian emigration to the West Indies was suspended mainly because of the opposition of the antislavery societies of Britain. However, the Indian Revolt of 1857 and the recurrent famines and epidemics in North India changed the trickle into exodus in the second half of the nineteenth century."

Between August 1834 and May, 1837 about 7,000 Indians emigrated through the port of Calcutta to Mauritius, almost half of them being Dhangars, (oraons]. Mundas and Santals of South Bihar. The number of women was very small. Only a hundred men and eight women seem to have emigrated from Bombay to Mauritius during this period.

As a result of some adverse reports the Government of British India passed Act V of 1837, prohibiting any Indian to make a contract of service to be performed outside the country without proper official supervision. Between May, 1837 and August, 1838 7,239 men, 100 women and 72 children emigrated to Mauritius about 40O labourers to British Guiana, 60 men to Bourbon, 8 to Australia and 4 to Batavia." Again, about one-third of the emigrants were the tribals of Chotanagpur.

In all Mauritius seems to have imported about 25,000 Indian labourers between 1834 and 1838 – about to, 10,000 from Calcutta and Bombay and the rest presumably from Madras.

In the early period of emigration, most of the Indian emigrants who survived the rigours of climate and hard work in the host colonies returned after an industrial residence of five years. The idea of colonial emigration evolved by the Europeans was alien to the Indian mind, for the Indians preferred their own style of comfort and values, without any interference with their customs and habits.[10] Even though they got higher wages than in India, and their passage to and from India, clothing, accommodation, food and medicine were taken care of by the planters about 1188 Indians got repatriated from Trinidad alone before 1891.

From 1854 onwards ten years' industrial residence in the British West Indies could entitle the labourers to a free return passage. Gradually they got acclimatized to the new environment and new inducements like bonus or bounties and five acres of

crown land in lieu of the return passage in Trinidad and Guyana changed their attitude and many started settling in these colonies. Meanwhile inland emigration to Assam and the Duars was gaining momentum and competed successfully with the colonial emigration.

In 1859 alone 120 ships brought Indian immigrants to Mauritius, about 23,180 came from the Calcutta port, 15,975 from Madras and 5,242 from Bombay.

British Guiana received 23,000 Indians, while French Guiana (Cayenne) get 4,017 between 1856 and 1867.

Dutch Guiana (Surinam) received 34,000.[11] Guadeloupe received 39,000 and in Martinique there were 6,748 Indians in 1859.[12] Denmark abolished slavery in 1848. In 1862 its colony St. Croix in the Caribbean received 321 Indians. There was heavy mortality and the survivors semehow returned to India in 1868. Only 80 remained in the colony.

Among the islands of the British West Indies 1,43,000 were introduced into Trinidad, 21,500 into Jamaica, 1550 into St. Lucia, 1,820 into St. Vincent and 2,570 into Granada.[13] In all 4,16,000 Indians came to the West Indies. Certain countries of Asia like Ceylon, Malaya and Burma received Indian labour through the *Kangany* and *Maistry* system of recruitment. Here the labourers were bound to the plantation, starting their stint in debt to the middle man employees and ultimately to the planter.[14] Even though all the blame for the oppressions was put at the door of the middlemen this system was technically different from indenture system, the fundamental problems of the labourers remained the same under both. The keynote was that the planters wanted labourers "not as free men."[15]

In 1888 a draft convention was presented to the Governor General of India on behalf of the Government of Netherland for permitting emigration from the ports of Madras and Negapatam to Java, Sumatra and other Indonesian islands.

During tbe early years of the twentieth century Malaya became a major importer of Indians primarily due to the rubber boom, the Madras Presidency supplying all the labourers.[16] During this period the Indian population in Fiji almost equalled the number of local people.

In 1896 there were 46,000 Indians in Natal (South Africa). In 1901 the number rose to 72,965 of whom 25,366 were under indenture. The census of 1904 showed 1,00,918 Indians. The Natal government wanted the restricted forms of recruitment and emigration applicable to Celyon, Burma and the straits settlements.[17] The Government of India, however, felt that Burma was a political unit of India. Ceylon was geographically its part and in the strait settlements the indentured labour could settle at will.

In 1908 the Government of India rejected the Bombay government's suggestion that East Africa might be placed in the same category as Ceylon or Malaya for emigration. Meanwhile, during 1906-08 emigration to Uganda continued from the Bombay port 305 left under a signed agreement and 12,212 as "free" ernigrants.[18]

The indentured emigration of Indian labour under the Acts V and XXXII of 1837 of the Government of India had been mismanaged from the very outset. The recruitment was done with the help of crimps who bluffed the "unsuspecting people" with false pretences and often "plundered and betrayed" them." Usually the emigrants had no idea of the countries to which they were being transported. There were cases of kidnapping and embarkation on the 'coolieship' under the influence of drugs.

When the Bengal Land Holders Society and the Calcutta press raised their voice against these cruel practices the indentured emigration to the West Indies was suspended between 1839 and 1844. However, as soon as the emigration was reopened in 1845 through the Act XXI of November, 1844 of the Government of India, the same story was repeated : the Indians were ill-treated and there was no effective protection of government involved in the experiment. So the immigration was once again prohibited during 1848-50.

Both at Calcutta and Madras offices were opened for the examination of the emigrants.[20] The labourers recruited from the Bengal presidency were considered different from their counterparts in the Madras presidency: "The people of Bengal and the neighbouring districts are less robust than the Madras cooly."[21] The Bengal labourer, unaccustomed to the sea voyage, suffered much from sickness and required greater attention to his food and clothing. The Madras labourer, however did not suffer at sea. But though healthier on the voyage, he was not so healthy on arrival in the importing colony as his Calcutta counterpart. Besides, the Madras labourer was not so docile, intelligent and well-behaved; he was filthy, especially in food habits, inclined to vagrancy and interference.

In September 1866 the Emigrants at Calcutta was asked by the Bengal government to suggest the best means of helping the Indian labourers in colonies to remit their savings to India.[22] This would initially apply to those who had remained in the colonies, but eventually this would apply to the Indians about to return home.

The sub-agents, licenced recruiters and others were selected carefully. Some of them were Muslims, others Hindus, Christians, etc. In the list of 1866-67 there were five Khans and two other Muslims and five Hindus working for British Guiana and Jamaica[23]. Perhaps the conservative Hindus were not much willing to work in the depots. Sometimes false rumours were floated regarding the sad plight of emigrants and even

the police connived with the local people in snatching away the prospective emigrants from the clutches of recruiters.

According to Grierson's report prepared in 1881-82 and published in 1883 the head recruiter could seldom read or write English. Hence he employed a clerk for his correspondence with the agency. He also filled in the registers for the magistrate's office. Ghura Khan, the head recruiter of British Guiana at Buxar in Bihar, however, did not need a clerk as he knew the English language.[24]

Mauritius was generally known as 'Mirich' in the rural areas of the Bengal presidency. In the early 1880s there were 2,48,000 Indians there. After the commission of enquiry in 1867 reported on the malarial epidemic there, sanitary arrangements were improved by the Mauritius government.

The government of Dutch Guiana (Surinam) informed the Indian Government in late 1883 that it agreed, with Major Pitcher who had reported on emigration in the United Provinces (U.P.) and Grierson who had reported in Bihar that the system of recruiting females needed some reform.[25] Unless the percentage of women was reduced from 40 to 25 to 30 good for nothing female labourers would be exported. The price paid for a coolie in Bihar varied, depending on the distance from Calcutta. For recruits from Danapur and Patna the Trinidad and British Guiana agencies paid Rs. 18 and Rs. 28 for man respectively.

In the early 1880s the Emigration Agent for Trinidad based at Calcutta, issued notices in Bengal and Bihar, assuring unmarried prospective female emigrants that in Trinidad they could get husbands at once among the wealthier of their countrymen who had settled in thousands in the exclusively Indian settlements of Calcutta, Madras, Poona, Chandernagore, Fyzabad, Simla[26] and so on.

Indeed, in the last quarter of the 19th century Trinidad, British Guiana and Dutch Guiana saw the emergence of an Indian community as a force to recon with. They reclaimed the inaccessible lands. They organised their own pressure groups like the East Indian National Association (1897) of central Trinidad. The Arya Samaj and other reforming Hindu groups brought a new consciousness among the Indians settled abroad.

However, from the early 1880s the opposition of the Indian nationalists to this exodus became more articulate. In 1883 when the Indian Emigration Bill was being debated in the Indian legislature Kristo Das Pal, Editor of the *Hindoo Patriot* and Secretary of the British Indian Association, wondered if the government was unduly encouraging emigration when a lot of land inside India had still to be reclaimed. Later M.K. Gandhi (the Mahatma) who went to Natal as a lawyer in 1893 started a non-violent struggle against the oppressions on the Indian labourers.

In the early twentieth century G.K. Gokhale, the famous moderate leader of the Indian National Congress, C.F. Andrews, the Christian missionary, Dadabhai Naoroji, the grand old man of the Congress, Muhammed Shafi, Madan Mohan Malaviya, Motilal Nehru, B.N. Basu and other leaders attacked the system of labour emigration from India. Ultimately partly due to this and partly due to the exigencies of the first world war this export was stopped in 1917 and in 1920, the system of indentured emigration was abolished.

Obviously there were many push and pull factors responsible for the unrooting of more than a million Indians. Many of them who had emigrated for greener pastures, especially to Trinidad, Surinam, Guyana, Fiji and Mauritius recreated their own society and made a mark in the economic and other fields. But many others in smaller islands were lost in the alien society for good.

References:

1. H. Ly Tie Fane Pineo, *Lured Away,* Moka (Mauritius), 1984, pp.13.
2. N. Gangulee, *Indians in the Empire Overseas : A Survey,* London, 1947, pp. 20.
3. Hugh Tinker, *A New System of Slavery: The Export of Indian Labour Overseas* 1830-1920, London, 1974, pp. 18.
4. C. Kondapi, *Indian Overseas* 1838-1949, New Delhi, 1951, pp. 2-5.
   Aloo, P. Saba. *Emigration of Indian Labour 1834-1900,* New Delhi, 1970, pp. 38-77.
5. Saba, *Ibid.* pp. 77.
6. N. Gangulee, *op. cit.,* pp. 21.
7. I.M. *Indians Overseas in British Territories 1834-1854,* London, 1953, pp. 7.
8. Kondapi, *op. cit.,* pp. 6.
9. J. Geoghegan, *Note on Emigration from India,* Calcutta, 1873, pp. 2.
10. *Ibid.,* pp. 5.
11. J.C. Jha, "Indians in the West Indies." *India Quarterly,* New Delhi, July-September, 1974, pp. 219.
12. E. Williams, *From Columbus to Castro; The History of the Caribbean* 1492-1969, London, 1970, pp. 348.
13. *Ibid.,*
14. Kondapi, *op. cit.,* pp. 6.
15. *Ibid.,* pp. 7.
16. Tinker, *op. cit.,* pp. 57.
17. *Ibid.,* pp. 290.
18. *Ibid.,* pp. 303.
19. Gen. Deptt. Emigration: Minute by W.H. Lindsay, 21 July, 1838, National Archives of India.
20. British Parliamentary papers : Emigration, no. 16, *Sessions* 1842-48.
21. T.W.C Murdoch to Frederic Rogers, 24 July 1866, proceedings of the Lt. Governor of Bengal: Emigration Deptt. para 14, Bihar State Archives, Patna.
22. S. Walcott to F. Rogers, 19 Sept., 1866, Proceeding of the Lt. Governor of Bengal, Emigration Department, Feb., 1867, Patna Archives

23. Proceedings of the Lt. Governor of Bengal : Emigration Deptt. no. 21, 11 March, 867 : Noorkhan at Lucknow (U.P.) Habibulla at Chapra (Bihar), Supankhan at Gurbeta, Kolan Khan in Oudh (Awadh in U.P.), Husaini in Midnapur (Bengal) and Ramjan Khan at Kanpur. Among the Hindus M.C. Bose at Danapur, Vansphal at Midnapur, Badri at Danapur, Bamacharan Sur at Sasaram (Bihar) and Shaligram at Banaras. There were a few Christians too. In U.P. Pitcher found some jews working as recruiters.
24. Grierson, Report on Colonial Emigration from the Bengal Presidency, India Office Library V (30) 2372, pp. 39.
25. Extract, letter from Paramaribe, 2 Nov. 1883, Gen Emigration 'A' Proceedings, 2 March, 1885, no. 3559.
26. Grierson, *op. cit.* appendix.

Expansion of Indian Culture in South East Asia: A Historiographical Critique

Vijay Kumar Thakur*

The expansion of Indian culture in the different countries of South East Asia is a well known chapter of ancient Indian history. This development has been explained in terms of a number of diverse theories most of which are based on the supposed Indian enterprise alone.[1] But this is a historiographical myth and in order to do full justice to the inhabitants of the South East Asian region it must be pointed out at the very outset that the Malays were *par excellence* a sea going people and evidences are not lacking to show that they resorted to the ports of India and Ceylon[2] in the same manner as the Indians.

From the very beginning of the South East Asian studies certain tendencies and pre-conceived notions crept into the writings of the early historians. Right from the late 19th century, when European scholars initiated the intensive study of the antiquities of this area and began to realise the extent of the influence of Sanskritic culture upon the religion, art and architecture of the area, the tendency was to explain these developments as the results of a movement of Indian expansion eastwards. As a result these developments were explained in terms of Indian conditions; South East Asia was at the receiving end and played a passive role. In due course Indian scholars jumped into the fray and made important contributions to the study of this area. They inherited the historiographical bias of their European predecessors and their work reflects an enthusiasm which was partly a result of the excitement of the west, but largely due to the nationalistic ardour that had become quite significant after 1904-05. Radha Kurnud Mookerji's *Indian Shipping* published in 1912[3] is a case in point. F.D.K. Bosch referred to Mookerji s nationalistic visions of huge fleets of Indian adventurers, like Drakes and Cavendishes, crossing the sea to farther India and Indonesia, founding kingdoms, establishing colonies, expanding the trade with their mother-country, and in due course bringing over talented artists from Bengal, Kalinga and Gujrat to erect matchless monuments[4]. One wonders as to what flights of fantasy an enthusiast could ascend.

*Professor & Former Head, Deptt. of History, Patna University, Patna-800005

As a result of the nationalistic overtones the Greater India Society was fouuded in 1926, whose name is a sufficient indication of the nature of its approach to South East Asian studies. Now the Indian historians were determined to show to their imperialist rulers their own supposed imperialism of the past and thereby to sound the hollowness of the British theories of India's passive role in external trade in the past and her dominance by foreign powers from the early times. Naturally the members of the 'Society' saw the countries of South East Asia as 'Ancient Indian colonies'; indeed, R.C. Majumdar used this term in the titles of scholarly works on the early history of Java and Champa and explained the art and architecture of Java and Cambodia in terms of their Indian origin and fostered by the Indian rulers of these 'colonies.' The Society no doubt was instrumental in the publication of a number of scholarly research work, but at the same time it was also responsible for the creation of a number of historiographical myths some of which have shown an amazing power of persistence. P.N. Bose claims even Siam as an Indian "colony"[5] and in the Preface to the book he comments on "the extent and greatness of that *Greater India,* which had been established outside India by the ..... sons of India .....".[6] In a Foreward to the book Dr. P.C. Bagchi claims, "The history of the Indian colonization of Indo-China and Malay Peninsula forms a glorious chapter of the history of India."[7] Thus, the countries which received elements of Indian civilization were described as Indian "colonies" and Indian historians beginning with R.K. Mookerjee also avidly accepted this characterisation.[8] K.A. Nilakantha Sastri even goes to the extent of comparing the ancient Greek colonists and Indians migrating to South East Asia. He argues that just as the ancient Greeks leaving for a colony used to carry some soil and fire from the metropolis for the purpose of establishing new horne and hearth in the colony, so also, did the ancient Indians carry with them the cult of Siva in the countries of their choice.[9]

The nationalist historiography had, no doubt, a role to play before India attained independence but now it has lost its rationale. Therefore, it is high time we question the validity of the use of the term 'colony' in context with India's contacts with the countries of Sonth East Asia. Melvin M. Knight gives a very vague definition of the term 'colony' which, according to him, "meant a transplanted fragment of a human society."[10] It is only in this wide and vague sense that this term may be applied to the Indianised states of South East Asia. A closer scrutiny, however, clearly demonstrates that none of the South Asian countries satisfied any of the characteristic features, either political or economic; of a colony. Politically a colony should be peopled by a sizeable population of a particular state and it should owe allegiance to that State. But none of the supposed South East Asian 'colonies' can be demonstrated to be a settlemet of the subjects of any particular Indian state. In fact, it will be historically wrong to hold that there ever took

place any military conquest or annexation of these countries by any Indian prince[11] or even any massive exodus of people from India which might have provoked a large-scale immigration in these countries. Any immigration on a sizeable scale would have definitely affected the somatoscopic and somatometric features of the peoples of South East Asia as later happened in Cambodia. The Chinese settled in Cambodia in large numbers and miscegenation took place on such a large scale that the physical features of the Khmers have undergone certain distinct changes.

Similarly neither of these South East Asian countries can be described as owing allegiance in any specific aud tangible form to any Indian state. The Allahabad Pillar Inscription of Samudragupta records that the king Meghavarna of Ceylon and the Kings of "all island" countries were "effected by the acts of respectful service, such as offering themselves as sacrifices, bringing presents of maidens; (giving) *garuda* token (surrendering) the enjoyment of their own territories, soliciting (his commands)". D.C. Sircar thinks that "possibly the Hindu colonies of the Far-East have been indirectly referred to here."[13] The reference to peoples of all the islands is sufficiently vague. It is, however, recorded in the Buddhist source that, Meghavarna of Ceylon sent a mission to Samudragupta with rich presents and asked his permission to build a monastery at Bodh-Gaya, for the Buddhist monks of Ceylon. It was subsequently granted by him.[14] But the act of asking for permission was interpreted as the acknowledgement of the suzerainty of Samudragupta, This was certainly a deliberate distortion of the facts by the court panegyrist Harisena who did not hesitate to record this false statement in the Allahabad Pillar Inscription. This single instance makes it clear that reference to all islands was, to say the least, conventional and Sircar's statement is to be summarily dismissed.

Economically speaking too, the countries of South East Asia were not 'colonies.' R.C. Majumdar, a great protagonist of the theory of "colonisation," himself writes that the "colonies" were not regarded as source of exploitation for the benefit of conquering race.[15] A "colony" without any economic gain or, to be more precise, without any scope for economic exploitation, is no "colony" at all. Even in the field of foreign trade with the countries of South East Asia India did not enjoy any monopoly. In fact, from as early as the first half of the 3rd century A.D. the Chinese were already in contact with these countries like Lin-yi (Champa) and Funan, evidently for reasons of trade. Thus, it seems that from the earliest phase the Indians and the Chinese faced each other in different countries of this region as competitors and in no period any attempt was made to demarcate the mutual spheres of influence.

Politically as well as economically, therefore, the term "colony" cannot be applied to the countries of South East Asia. But to justify the use of this term with regard to the

countries of this region Indologists in general and Indian historians in particular say that India extended her cultural conquest over these countries and as such they formed part of the cultural empire of India.[16] According to this school of historians, the people of these countries were uncultured savages and with the arrival of the Indians there set in a process of extreme acculturation. Thus, they will like us to believe that whatever we find in these countries is nothing but Indian civilization with little or no modification.[17] But unfortunately for these historians, the renascent people of South East Asia after gaining independence in the post-world war II period are not ready to accept such views. This typical attitude may be demonstrated from the review of the book *South East Asia in Transition* (Ed. B.R. Chatterji, 1965) published in *E'tudes Combodgiennes* (No. 6, April-June, 1966, pp. 32-33). The reviewer sarcastically summarises the theme of the book in the following sentences: "What South East Asia owes to India is infinitely less than what France, Spain or Englan d owes to Rome which occupied and ruled these countries. Still the Italians never glorify themselves of their civilizing domination". The reviewer may not be completely objective, for he too seems to have been carried away by nationalist sentiments, but then he succeeds at driving the point home.

In fact. one can clearly perceive an authochthonous substratum in the classical cultures of the countries of South East Asia. Paul Mus has shown that before the advent of the Indians the local people, instead of being barbarians, possessed a more or less stable culture.[18] Scholars have also pointed out the cultural uniformity of Pre-Aryan India, Indo-China, Indonesia and South China and have termed this culture zone as Austro-Asiatique.[19] This implies the cultural contact between India and South East Asia in Pre-Aryan and Pre-Dravidian times indicating the existence of common cultural elements in India and South East Asia. As a result when in the historical period the Indian culture was introduced in South East Asia, it was difficult for the people to accept it easily. As a consequence this process of cultural penetration did not result in any violent or abrupt break with the past, but simply led to a transformation of the various somewhat similar but distinct local cultures in the historical period. It can be argued therefore that the Indians provided the stimulus while the response in different parts of the region was varied according to the local adaptability or local culture and this probably explains the diversity of the Indianised cultures of South East Asia when they achieved their full growth. Thus, under Indian garb these remained essentially heritages of the earlier Austro-Asiatic culture with distinct social variations.

This reorientation in our approach to the study of South East Asia, however, should not minimise the role of of Indian culture in that part, as is being done by some recent writers. J.C. Van Leur, one of the first of such scholars, expressed the view that "though various forms of foreign culture and various world religions have successively

exerted their influence on the region of Indonesia, the opinion is generally shared that these influences have remained weak despite centuries long operation. They did not bring any fundamental change in any part of Indonesian social and political order".[20] He further adds, "the initiative for the coming of Indian civilization emanated from the Indonesian ruling group, or was at least an affair of both the Indonesian dynasties and the Indian hierocracy. That cultural influence had nothing directly to do with trade".[21] Then he goes on to partially contradict his own statement, "The Indian priesthood was called eastwards-certainly because of its wide renown—for the magical, sacral legitimation of dynastic interest and the domestication of subject and probably for the organization of the ruler's territory into a state. Alongside the priesthood, Indian artifice came to the royal courts and the architectural activities of the rulers and the official religious activities of those overseas states alike show the unmistakable imprint of Indian civilization on Ceylon, Indonesia, Farther India, and, Southern Indo-China."[22] This was certainly a considerable achievement for the Indians even if their influence "remained weak." In this context, the role of economic ties between India and South East Asia in the development of their cultural reiations cannot be minimised.

Thus, while the concept of "Indian colonisation of South East Asia" is a grave historiographical error and a recurrent historical fallacy, in the same breath it must be added that it would be equally erroneous to undermine the extent of Indian influence upon this region. To accept that such influences occurred and that they played a significant part in the development of the various cultures of this region is not, however, to endorse the more extreme claims of the Greater India school. For even if we accept the view of Sylvain Levi that India has produced its true master-pieces in foreign lands under foreign inspiration, adding that in architecture it is in distant Cambodia and Java that one must seek the two marvelleous products of Indian genuis, Angkor Wat and Barabudur, we must recognise that these are not Indian monuments. Whatever their ultimate springs and whatever the source of the religious systems which they represent, these temples serve not Indian but Khmer and Jawanese cultures and peoples respectively.[23] Coedes seems to be quite near the truth when he described the old civilization of Cambodia and Java as an Indian superstructure upon an indigenous subsrratum.[24]

References :

1. Cf. V.K. Thakur, "Indian Expansion in South East Asia: A Study in Economic Factors," *Journal of the Oriental Institute*, Vol. 28, pp. 66-85.
2. D.G.E. Hall, *A History of South East Asia* (1968), pp. 13.
3. *Indian Shipping: A History of Seaborne Trade and Maritime Activity of the Indians from the Earliest Times* (1912).
4. *Selected Studies in Indonesian Archaeology* (1961), pp. 5.
5. *The Indian Colony in Siam* (1927).

6. *Ibid.*, Preface.
7. *Ibid.*, Forward.
8. R.K. Mookerjee, *The Fundamental Unity of India* (1914), pp. 128-32.
9. 'Agastya', *Tijdschrift Voor Indische Taal-, Land-en volkenkunde*, Vol. 76 (1936), pp. 503.
10. *Encyclopaedia of Social Sciences* (Ed. Edwin R.A. Saligman, 1959), Vol. III, pp. 653.
11. K.A. Nilakantha Sastri holds that the political power of the PaJlava King Nandivarman III (A.D. 826-50) extended to parts of the west of the Malay peninsula at best for some years ('Takua-pa and its Tamil inscription; *Journal of the Malayan Branch of Royal Asiatic Society*, Vol. XXII, pp. 30). But from the arguments of Sastri itself it becomes clear that this view is, to say the least, hypothetical.
12. J.F. Fleet, *Corpus Inscriptionum Indicarum*, Vol. III, pp. 8.
13. *Select Inscriptions Bearing on Indian History and Civilization*, (1942), pp. 258, fn. 2.
14. Cf. S.K. Maity, *The Imperial Guptas and Their Times (1975)*, pp. 32.
15. *Greater India* (1948), pp. 42.
16. Their point of view is best reflected by Alfred Foucher, *L'Alt greco-bouddhique au Ghandhara* (1918), pp. 618. R.C. Majumdar also reflects a similar view when he says, "The Hindu colonists brought with them the whole framework of their culture and civilization and this was transplanted in its entirety among the people who had not yet emerged from the barbarism" *(op. cit.*, pp. 21). cf. Sharan, Mahesh Kumar, Studies in Sanskrit Inscriptions of Ancient Cambodia, New Delhi, 1974, pp. 7 ff
17. R.C. Majumdar writes, "The Hindu Social institutions were adapted to the needs and habits of the people, and both religion and literature were transformed to a certain extent by the influence of the indigenous elements." *(Ibid.*, pp. 42).
18. 'L' India Vue de Est', *Bulletin de l'E'cole Francaise d'Extreme Orient*, Vol XXXIII, pp. 382.
19. *Les E'tats hindonise's de Indo-Chine et de Indonasice* (1964), pp. 27.
20. *Indonesian Trade and Society* (1955), pp. 95.
21. *Ibid.*, pp. 103.
22. *Ibid.*, pp. 103-04.
23. *Cf.* Anthony Christie, 'The provenance and Chronology of the Early Indian Cultural Influences in South East Asia', *R.C. Majumdar Volume* (Ed. H.B. Sarkar, 1970), pp. 1.
24. *Cf. Cahiers d 'histoire mondiale*, Vol. c, No. 2, pp. 368-77. ®

A Note on the Indian Culture in Afghanistan

C. S. Upasak*

Indian Culture as a whole has its two-pronged dimensional trends, one being the Vedic or Brahmanical while the other Sramanic, including Buddhism and Jainism. Both these cultural traditions of India could establish their values among the people; and by and large both imprinted lasting impact on our cultural heritage. It is conspicuous to note that the latter or the Sramanic Cultural traditions appear to have been more forceful and appealing to the common mass than the former as it is evident from the excellent ancient remains discovered in the country. It is interesting to find that about two-third. of our ancient monuments belong to this branch of Indian culture. Besides, if we take into consideration the values of Indian art, architecture, literature or philosophical ethos, this branch stands as supreme. The two images, one at Sarnath and the other at Mathura museums are supposed to be the best specimens of iconographical art. Both of them are Buddha images. The Ajanta Buddhist frescoes are too well known for their artistic beauty. The architectural art can be assessed by witnessing the remains of Nalanda and Vikramasila monasteries. The Sanchi *stupa* is superb in its beauty & grandeur. Should we take into account the quantum of Buddhist literature presently preserved in ancient Chinese and Tibetan languages, it would cover a crore of pages if brought back into any Indian language. We can well imagine the bulk of Buddhist literature that we had in our ancient Buddhist monasterises like Nalanda or Vikramasila etc. The philosophical and cultural values that this branch could inculcate in India and abroad are extraordinarily over-whelming as even to-day one third of the population of human race follows Buddhism.

Afghanistan being the next door neighbour is one of the few countries outside India where our cultural traditions arrived at very early time. Afghanistan remained closely connected with India for several centuries both by trade and also by cultural traditions. Traders, particularly 'touring merchants' *(Satthavaha)* played a very important role in relaying the cultural traditions from one country to the other. They acted as

*Former Director, Nava Nalanda Mahavihara, Nalanda-803111

laison between the countries that they traversed during their travels. They not only explored new routes but also conveyed the news of epoch-making events of political, religious or cultural significance.

Introduction of Indian Culture in Afghanistan:

Indian Culture was probably brought through the touring merchants into Afghanistan. It is recorded in the Pali & Buddhist Sanskrit literatures that two brother merchants, Tapassu & Bhalika by name called upon the Buddha while he was enjoying the "bliss' of his Enlightenment at Rajayatana seven weeks after. They offered him sweet-baits or *Madhugolaka* which were the first morsels after being Buddha. The Buddha preached them and thereafter Tapassu & Bhallika entreated upon the Budhha to accept them as 'lay-devotees' *(Upasakas).* They thus became known as the 'First Lay-Devotees' of the Buddha.[1] It is also recorded in the *Theragatha Atthakatha*[2] and also in the *Anguttaranikaya Atthakatha*[3] that they belonged to Uttarapatha and their father had a business centre at Puskalavati (Pali-Pokkharasati), now identified with Charasadda near Peshawar in Pakistan. They actually hailed from Balkh or Balhika in Kamsa country. It is interesting to note that Bhalhika got his name after the town Ballika and Trapasso means *Trapusa* or *Tarabuja* in Hindi. The story of Tapassu and Bhallika is also refered to by Hiuen-tsiang, both in his Travels[4] and Life[5]. Hiuen-tsiang himself witnessed the *stupas* that were erected by Tapassu and Bhallika on the hair & nail parings that they had received from the Buddha himself. The stupas stood not far from Balkh town. They are also known from an inscription of about 7th century A.D. from Sri Lanka[6] and also figure on sculptures at Sanchi Gate, Shotorak near Begram in Afghanistan besides in reliefs at Taxila, Arnaravati, Nagarjunikonda and Takht-i-Bahi. In all probability the story of Tapassu & Bhallika appears to be a historical fact.

It is further mentioned in the Pali texts that later Tapassu and Bhallika visited the Buddha once again while he was staying at Rajagriha, They heard the sermon of the Buddha and thereupon Bhallika got himself initiated into *Sangha* as a monk by the Buddha himself while Tapassu remained a householder but said to have attained the stage of *Anagami.*[7] After returning home, probably a *Vihara* was built for Bhallika somewhere near Balkh. A significant information about this *Vihara* is gleaned from the accounts of Hiuen-tsiang. He informs that on account of many 'sacred objects' in Balkh it was called 'Little Rajagriha' by the people. Outside the town there was a *Vihara* called 'Nava-Vihara' or New Monastery in which Hiuen-tsiang stayed during his visit there. The existence of the Nava-Vihara during this period suggests that there was an old *Vihara* somewhere inside the town. We presume that this old monastery was probably none other than that built for Bhallika in earlier time and by the time when Hiuen-tsiang

visited this place it was no more in existence.

Nava- Vihara, a Centre of Advance Buddhist Learning:

The Nava-Vihara of Balkh had developed as a great centre of Buddhist learning. Hiuen-tsiang says that Navas Vihara was a great place of learning where only those monks could reside who had composed some *sastra* or *Sastras*. No other monk was allowed to dwell there.[8] No doubt it was a great centre for higher Buddhist learning, probably as high as Nalanda in India. It was also a centre for teaching Sanskrit language. It-sing, who visited this great *Vihara* of Balkh between 700-712 A.D. also mentions the names of some fifty-two Chinese monks who visited India and other places of neighbouring countries. In his translation on *Kau-fu-kao-San-Ching* the name of one Cittavarma occurs who is said to have studied Sanskrit language for sometime in this Nava-Vihara in Balkh.[9]

Another Vihara of Balkh for Meditation & Practice :

Hiuen-tsiang informs another great *Vihara* at Balkh, not very far from the Nava-Vihara which was noted for the higher practice of Buddhism. He says that the monks residing there were all engaged in higher Buddhist meditational practices so much so that it was difficult to recognise which one has attined any of the four higher stages (i.e. *Sotapanna, Sakadagami. Anagami* and *Arhat).*[10] Thus, this *Vihara* was a great centre of *Patipatti* or practical training of Buddhism. It is well known that Buddhist centres in India were known for such practices of Buddhism.

Mahasanghikas & Buddhist Culture in Afghanistan:

As a matter of fact Buddhist culture and religion were formally introduced into Afghanistan in a missionary way only when the Mahasanghika group of monks arrived at Udyana (E. Afghanistan) after being separated from the main group of Buddhist *Sangha* on the occasion of Second Buddhist Council held at Vesali, one hundred years after the *Mahaparinibbana* of the Buddha.[11] One branch of the Mahasanghika group established its centres in this region. It was again sub-divided into five groups, viz. Ekavyavaharika, Kaukulika or Kurullaka, Bahusrutiya, Pranjaptivadin and Lokuttaravadin.[12] Sarvastivadins also belonged to this group. The Mahasanghika groups flourished in Afghanistan for several centuries and in course of time their centres were established in further west in Khotan, Central Asia and finally in China.

Asoka's Period :

Asoka followed the earlier group of Buddhism. i.e. Early Theravada of Vibhajjvada or Pali Theravada Buddhism. We know that Afghanistan was a part of his kingdom and

during his reign this form of Buddhism was propagated by one Thera Maharakkhita who was despatched to this country at the end of the Third Buddhist Council held at Pataliputra along with some Buddhist monk-saints. Thera Maharakkhita probably first established his centre at Kapisa and then moved to a place near Bamiyan, presently called Ahangaran. The place probably got its name after the word *Arahantanam* or the place of Arahantas for being the residence of Thera Maharakkhita and other Arahantas. During the reign of Asoka this branch of Buddhism flourished for some time in Afghanistan but the earlier group of the Mahasanghikas probably held the upper hand in the society as it is evident from the antiquities recovered from this country.

Bamiyan:

It appears that probably because of Maharakkhita Thera and other Buddhist saints, Bamiyan developed as a great centre of Buddhism in later days. We know the largest image of the world is that of the Buddha which is 55 mtr. in height carved out of the hill. There is another huge image of the Buddha of 35 mtr. height which stands on the eastern end of the Bamiyan hill. These images are fashioned in later Gupta style, obviously on Indian pattern. In the niches of the colossi frescoes can be seen on the walls. These paintings though in dilapidated state, are primarily on Indian style and can be compared with Ajanta paintings. *Sassanian* and Greek influence can also be noticed on them. This sort of interaction of different arts on Bamiyan painting was due to the presence of artist monks from different countries residing together in the monastic complex as according to Buddhist monastic traditions developed in India. Bamiyan was no doubt a great centre of Indian culture where Indian Buddhist monks also resided. Presently, the Bamiyan hill contains some twenty thousand caves although not precisely counted. The monks residing there probably had direct contacts with the Buddhist centres in India. These caves may be compared with their counterparts found at Ajanta, Ellora or elsewhere.

Kapisa:

At about a distance of 30 km, from Kabul, a place presently called Begram *(Viharagrama)* is identified with Kapisa, the western capital of Kusana emperor Kaniska. Kapisa was known to India from a very ancient time as its name is referred to by Panini, renowned for excellent grapes and fine wines *(Kapisayanidraksa Sura).15* Kaniska built a monastery, probably a temple also at a place near Kapisa, presently called Shotorak *(Sthaviraka)* for the Chinese Prince who was kept there as hostage after a treaty with China[14]. This became an important centre for the Buddhists and many *stupas* and shrines were erected there, the ruins of them can still be. seen. Kapisa being the capital of Emperor Kaniska naturally had a constant and intense contacts with India and Indian

culture.

Jalalabad & Hadda:

Probably Jalalabad, formerly called Nagarahara or Nagaravihara and Hadda were the most important places for the difusion of Indian Culture in Afghanistan. In ancient days it was the western part of Udyana, a country known through many sources. Perhaps Nagarahara or Nagaravihara was the place where Buddhism was first introduced by the Mahasanghika group of monks who arrived there after being separated from the main stream of Theravadins on the occasion of Second Buddhist Council held at Vesali one hundred years after the demise of the Buddha. This area remained an important centre of Indian culture for centuries. We have discovered two relic caskets of the Buddha and three inscriptions of Asoka written in Aramaic, though incomplete from this area. Jalalabad or Nagarahara is also known to us by an inscription found at a place near Nalanda now called Ghosaravan, of about 8th century A.D. Jalalabad is replete with a large number of huge stone *stupas* erected in and around. The place now called Hadda near Jalalabad, some five or six km. away, was probably most sacred place for the Buddhist pilgrims for the skull-relic of the Buddha was deposited in one of the *stupas* there. Fa-hsien,[15] Hiuen-tsiang[16] and many others have mentioned about this place. Even today, the small village of Hadda is full of ruined *stupas* of all sizes, some large and some small. These *stupas* may be compared with *stupas* discovered at Taxila and some other places in Indian sub-continent. A relic casket containing the bone of the Buddha with an inscription referring to the Bhadrayani group of monks was recovered from *stupa* at a place known as Wardak, obviously after the Bhadrayani monks, near Ghazni. This group of monks is also known from Pali and other Buddhist Sanskrit texts flourishing in India also.

Haibak Or Samangan (Sramanagrama):

Haibak or Samangan is located about 200 Km, N.W. from Kabul and is noted for unique monolith *stupa* hewn out of the hill. Near this *stupa* are the remains of a rockcut monastery with big halls and living cells. One of the halls contains a full-blown lotus carved out on its ceiling. No specimen of this kind can be seen elsewhere.

Ghazni:

Ghazni was also a great centre of Indian culture in later days. A huge complex of Buddhist monastery had been excavated from here. It is interesting to note that besides a number of Buddhist images and *stupas* an image of Durga in stucco has been recovered which indicates Indian cultural impact. Similarly several images of Ganesa and other Saivite deities have been found from Kabul and elsewhere. It appears that side by side

with Buddhism, saivism was also followed by the people of Afghanistan. Hiuen-tsiang refers to some naked *Sadhus* in Udyana, and some scholars believe that they were the Jain *Munis*. Probably Jainism also got its way in this country though remained weak.

Although we do not have much evidences to determine the influence and status of the branches other than Buddhism of Indian religions in Afghanistan, it appears feasible to presume that Brahmanic cultural activities were also brisk in some parts of Afghanistan. When the so called Hindu Shahi rule came in Afghanistan in about 9th and 10th centuries A.D. then the Brahamanic cult receiving royal patronage could gain some popularity.

Afghanistan was coupled with India and Indian culture for centuries. Its art, architecture, literature and traditions were tuned with Indian themes. Ancient literary and archaeological evidences fully corroborate this fact. Even to-day there are numerous place-names in Afghanistan which still retain Sanskrit words, like Ahangarana or Aharantanam, Begram for Viharagrama, Samangan for Sramanagrana, Ningarhar for Nagarhara or Navihara, Panchavai for Paiicavaggiya etc. In Kabul an image of Ganesa is still worshipped by the local people. Buddha is known as *But* and Bodhisattva. No doubt impact of Indian culture in Afghanistan is immense as *Butasp* in Persian mixed language spoken in the country.

References:

1. *Mahavagga* (Nalanda), pp. 5-6, *Anguttaranikaya* (P.T.S.), pp. 26; *Anguttaranikaya Atthakatha* (P.T.S.), pp. 207; *Theragatha Atthakatha* (P.T.S.), pp. 48 ff.; *Jataka* (P.T.S.), Vol. I. pp. 80.
2. *Theragatha Atthakatha,* (P.T.S.), pp. 48 ff.
3. *Anguttaranikaya Atthakatha,* (P.T.S.), pp. 207.
4. Beal, S. : *Buddhist Records of the Western World,* BK. I., pp. 46-48; Watters, T. : *On the Travels of Yuan Chwang,* pp. 111-112.
5. Beal, S. : *Life ...,* pp. 50.
6. See Tiriyak Rock Inscription, *Epigraphia Zelonica,* Vol. IV, No. 18.
7. *Anguttaranikaya Atthakatha* (P.T.S.), pp. 207.
8. Beal, S. : *Records ...* , pp. 44.
9. Beal, S. : *Life ...,* Introduction, pp. XXXII-XXXIII.
10. Beal, S. : *Records ...,* pp. 46; Watters, T. : *op. cit.* pp. 106.
11. See : *Mahavamsa,* V-7; *Dipavamsa,* V-4; *Mahabodhivamsa,* pp. 69 ff. : *Cullavagga* (Nalanda), pp. 245; and others.
12. Dutta, N. : Buddhist Sects in India. pp. 60.
13. Panini's *Asthadhyayi,* IV, 229.
14. H.A. Giles : *Travels of Fa-huien,* pp. 15-17, Legge James; *Records of Buddhist Kingdom,* pp. 36-38.
15. S. Beal : *Records,* Bk. II, pp. 91; Also see for Sung Yun's visit: *Ibid.,* Introduction, pp. XCIV-XCVIII.
16. S. Beal : *Records,* Bk. III, pp. 120-121; *Life,* pp. 64-65; T. Watters: *op. cit.,* pp. 226 .

Indian Culture in Laos

Umesh Chandra Dwivedi*

Religion has been one of the most important factors in the building up of Indian civilization. It is no wonder, therefore, that the Indian travellers who founded a new settlement in South-East Asia transplanted to their land of adoption the religious ideas with which they were at home. Indeed, it is a matter of common knowledge that no other feature of Indian Civilizatian left such a profound impress upon those areas, that even now, when the political supremacy of the Indians in those far-off lands is merely a dream of the past, they contain unmistakable traces of the Indian religion and its art and architecture.

Laos also has got an ancient history as a seat of Indian culture which is little known outside a small circle of specialists. This far off inhospitable region comparatively unknown to the civilized world till very recent times, was penetrated by the Hindus in ancient times—nearly two thousand years ago and they developed a local culture of which many remains still exist in the shape of temples and images of Hindu deities, and inscriptions written in Sanskrit Language and Indian Script.[1] It is also suggested that Laos, particularly Vientiane and Luang Prabang had received religious ideas of Brahmanism indirectly from India, probably through Combodia and with the result Brahmanism (Saivism, Vaisnavism etc.) flourished in the regions, and the people in general were quite familiar with Brahmanical philosophical ideas and religious belief.[2]

The prevalence of Brahmanism in Laos is attested by inscriptions and archaeological objects of the country. The Phou Lokhon inscription in Sanskrit consisting of six lines, comprising three verses in the *anustup* metre, is engraved on the north-east face of a sand-stone column which crowns the top of the hill called Phou Lokkon, It records the erection by king Mahendra Varman of a Siva Linga which still stands on the spot at a distance of 2¼ metres from the the inscribed column.[3] The ramains of the temple of Wat Phu, on the Lingaparvata (Linga mountain) containing Bhadresvara (Siva) are still extant to the South-west of Champasak in South Laos.[4] The specimens of the religious art at Wat Phu depict Indra on Airavata and Visnu on Garuda.[5] It was in the seventh Century that Jayavarman I had installed a stele inscription at this sanctuary which he named as Lingaparvata (the mountain containing the Linga or Phallic

*Former Curator, Ranchi Museum, Ranchi (Jharkhand)

representation of Lord Siva). An inscription of 835 A.D. speaks of Sresthapura as a holy place because of its association with the worship of Lord Siva. However, the most important is a recently known Sanskrit inscription found in this region, which throws a great deal of light at the Hindu culture prevailing in Laos. The inscription is engraved on a stone stele in a locality known as Vat Luong Kau, close to the right bank of the Mekong immediately to the south of its junction with the rivulet Huei Sa Hua. The western face of the stele is badly damaged and the letters are mostly illegible, but the writings on the other three faces are in a good state of preservation. The inscription is not dated, but may be referred, on paleographic grounds, to the second half of the fifth century A.D.[6]

The inscription begins with a verse paying homage to Brahma, Visnu and Siva and refers to a ceremony performed by the king. Then follows a description in prose, of the great king—Maharajadhiraja Sriman Sri-Devanika—in a grandiloquent style, comparing him with Yudhisthira, Indra, Dhananjaya, Indradyumna, Sibi, Mahapurusa, Kanakapandya (?), the great ocean and Meru. In order to enable all beings to cross the ocean of existence, he performed various religious ceremonies beginning with a grand sacrifice to Agni, and made a gift of many thousand of cows. Next few lines are illegible but there are clear references to the *Aqnihotra* sacrifice, images of Visnu and Siva and the establishment of a holy place of pilgrimage. Bearing in mind, the great merits acquired by those who live, take bath or die in a *Mahatirtha*, the king thought of setting up one to be known as new Kurukshetra. The reason for this selection is given in the next fifteen verses (vv. 8-22) eulogizing the virtues of Kurukshetra.[7]

The invocation of Trinity and the description of the king at the beginning of the record show the great familiarity of the court *Pandits* of Devanika with Sanskrit literature in general and religious-cum-ritualistic texts in particular. It is difficult to believe that they would have composed the verses in honour of Kurukshetra without the authority of of some Indian religious texts. The existence of such a Kurukshetra Mahatmya is indicated by the Common verses in the *Mahabharata* and the inscription, specially the one which puts Kurukshetra above all other holy places of pilgrimage.[8]

The art and architecture of Laos is also greatly influenced by Brahmanism, The earliest material evidence of ancient Brahmanical influence can be dated to about 6th century A.D. The Wat Phu Hill—about nine miles from Bassac, was then called, a Linga-parvata. Here originally a temple of Bhadresvara Siva existed, in which a Siva-Linga was installed. Later on, the temple was turned into a Buddhist shrine with a monastery attached to it.[9] As already referred, we have an image of Indra on Airavata and Visnu on Garuda from Wat Phu.

The images of the gods and temples, similar to those in India were made in various parts of Laos. The Lao art, in fact, is spectacular and almost similar to Indian art, the

Khmer art or the Chinese art which absorbed all the influences coming from those lands from time to time.[10] The Lao art is entirely religious in character. Both the Buddhist and Brahmanical arts flourished in this region and these religions were the main theme of their decorative art. However, the anthropomorphic representation of the Buddha in Lao art seems to be nearer the Burmese and Siamese art.

The sculptures in Laos show several Brahmanical proto-types. "The figures standing over the carytides and the Patravali in the background seen on an ancient door at Wat Aram" undoubtedly bear post-Gupta characters. This feature in India may be seen as early as the beginning of the Christian era. The early Indian motif demonstrating the composite figures of animals combining acquatic creatures, is represented at That Luong. Similarly, the Garuda and Naga carved in relief on the Wat Pa Rouck and the representation of *dvarapalas* at the entrance of many shrines in Laos are brahmnical themes. As already said, the sculptures of Laos are purly religious in character which include the images of the Buddha, Devadatta, Apsaras. Kinnaris, Nagas, Garudas etc.[11]

The religious monuments known as Wat (monastery or temple) serve as primary example for the study of Laotian architecture. It is also known as pagoda. Besides Mahavihar (Mahavihara), Thammasala (Dharmasala) etc., the two types of the edifices are important, (i) Sim (Pali, Sanskrit=Sima) = the place for performing *upo atha (Patimokka,* performance), (ii) That (Pali, Sanskrit= *Dhatu),* the edifice for putting the relics.

The style of construction of Thats, Wats and buildings in Laos, clearly indicates that it was imported from India via Burma and became the model of architecture of all the countries of South-East Asia. In view of scholar like G. Coedes, the characteristic type of building of Laotian architecture is the That which is the counterpart in Laotian terms, of the Indian Sihalesa and Burmese *stupa,* combined with the Khmer and Siamese Cetiya.[12] The That Luong (the great shrine), situated 5 miles to the east of Vientiane, built in 1560, the chief d'oeuvre of Laotian architecture representing the wonderful *stupa* of the world like the Angkor Wat in the Republic of Khmer and Borobudur in Java, is modelled on Indian pattern and in style and general outline it bears close affinity with some of the mediaeval temples of India. Similarly Wat Pa Ruok shows close similarity with the Gupta temple at Sanchi and the Wat Ban Tan displays Gupta-Chalukyan features.

Not only this, the plan of big buildings in Laos is generally cross-shaped like Hindu Buildings, the window frames showing explicit Brahmanical influence.[13] The ancient Brahmanical tradition of medium weight architecture, characterised by the curvilinear roof, has left traces in Laos in the design of apertures, and in several monuments very archaic in appearance, either in their overall composition or their ornamentation. Unfortunately, the light architecture constructed with perishable materials

has not survived for a direct comparison with the Indian proto-types.

The remarkable co-existence of the two great religions of India, i.e. Brahmanism and Buddhism can be seen even today. The Wat Pra, constructed in the 17th century A.D., is adorned by an image of Laksmi standing on lotus over its dome while the Buddha figure is in the temples. Similar images of different Brahmanical deities along with the central figure of the Buddha can be seen in most of the Wats in Laos.

However, scholars are generally of this opinion that the Indian sculptures and architectural styles found their way into Laos through its neighbouring countries and not directly from India.

Not only this, the culture and society of Laos is also very much influenced by the Indians.

Before the introduction of Brahmanism and Buddhism into Laos, the country was clustered with the cult of spirits and animism in all its forms. As in India, life was dependent on supernatural forces which swayed the destiny of man. Even today, most of the Lao people practice both religion and cult of spirits (popularly known as the cult of Phi[14]) in their daily life and public festivals.

According to George Condominas, the word Phi encompasses a great number of notions which may be given name such as "souls of the dead", "malefiicent spirit', "tutelary god", "natural divinity" etc.[15] The Phi cult was so popular that during the sixth century of the Christian era, the Khmers built sanctuary, Wat Phu Champassak on the hill known as Linga Parvata which already contained the famous sanctuary dedicated to God Bhadresvara Siva. Once in a year, the king along with a thousand soldiers used to go there to offer human sacrifice. According to local tradition, Phya Kammatha (the builder of Wat Phu Champassak and That Phanom) went upto that sanctuary and presided over the sacrifice of a pair of virgins, and a bowl of alcohol was also offered in the sixth month when the red jasmine started to shed its fragrance. The tradition continued for a long time, though the human sacrifice was later on substituted by the buffalo sacrifice. The sacrifice of the baffalo, as in many temples of India, is still performed both in Vientiane (the capital of Laos) and Luang Prabang (the residence of king) usually in May or June. The people of Laos believe that the spirit or Phi can help and give good fortune in life and, therefore, they offer him flowers candles, incence and blood of animal etc.[16]

Not only this, the Lao people also adopted Sanskrit, for their literary activities. Majority of the inscriptions of the early period, found in different part of Laos, are in beautiful Sanskrit, which clearly testify to the wide prevalence and popularity of the language.

It is true that as early works in Sanskrit have been found in Laos, but there is no

donbt that earliest Lao literature is replete with Sanskrit and Pali origin Sanskrit and Pali grammar, lexicography and prosody have influened Lao language and literature. It was during the reign of Sethathirat in Sanskrit Sri Jayajyestha or in local pronunciation as Pra Jaya Jettha, the Lao literature was in its full splendour from 1547 to 1571 A.D. The reign of king Suryavathsa (1637-1694) is also very important for intellectual and religious activities. However, the diversity, richness and the characteristics of Lao culture and literature are essentially Indian.

In the year 1283 A.D. Pali scriptures from Ceylone reached Laos and the Lao script and language are basically derived from these two languages, i.e. Sanskrit and Pali. It was in this very year 1283 A.D., king Ram Karnheng of Sukhodaya introduced the Lao script,[17] which marks the common origin of Thai and Lao alphabets.

There is great similarity between Sanskrit and Lao words. For example flowers like Gulab, Champa and Salha are exactly the same in Lao language. The words Dharmasala in Sanskrit and Sala Dham in Lao have exactly the same meaning. Kumara of Lao is kumara in Sanskrit and Rusi of Lao is Risi in Sanskrit.

The classical Lao verses follow the metres of Indian prosody and the metre is regulated by the number of syllables and their quantity. "The true classical Lao Poetry is formed of translations of Indian Poems and even Lao folk-lore is peopled by Indian pantheon."[18] The story of Rama (Ramakatha the Phra Lak Phra Lam or the Phra Lam Sadok)[19] is also quite popular in Laos.

Not only this, their dances, gestures and movements recall Indian origin. The themes of their dances are also derived from Brahmanical and Buddhist stories.

The classical Lao theatre also has Brahmanical origin and had been imported from Khmer in 14th century. It was mainly developed in the 16-17th centuries. Gestures and movements in the theatre remained one of Indian choreography and the story played or inacted are generally the episodes of *Ramayana.*

Not only this every branch of classical Lao literature clearly indicate Brahmanical origin and influence. The stories of the *Panchatantra* are also quite popular there. In fact, the *Panchatantra stories* are widely diffused throughout the Indo-Chinese peninsula.

The impact of Indian culture is so deep in Laos that some Brahmanical rites are still practised alongside Buddhism, especially on great occasions such as birth. wedding and death. The names of Brahmanical gods like Indra, Visnu, Siva are quite familiar to the Lao people and in their prayers to Lord Buddha, they never fail to invoke these Hindu divinities[20].

The Baisi ceremony is a living example to show how deeply Brahmanism is entrenched in the religious life of the Lao people. The term Baisi or Sukhuan is derived from Brahmana and this rite is celebrated on many occasions such as new year, marriage,

birth etc. Though the Brahmanas and Bhikkhus were in their country of origin (India) quite unaccomodating antagonists for a long time and the Brahmanic religion virtually eliminated the Buddhist monks, yet they incorporated some of the ethical achievements of Buddhism,[21] of which Baisi is a living example. The chief of this ceremony is called Brahma who is chosen from amongs the elders of the village. He performs the ritual ceremony according to the Brahmanical rites. Infact, Brahmnical religion combined with Buddhist rites have taken deep roots in Laos. That have very much intermingled there.

It is interesting to note that age-old Indian *gurukula* system still exists in Laos.

Not only this, the Brahmanical and Lao manners and customs are very similar in many respects. The way of greeting a friend or an elder by joining the hands at the level of the heart with a slight bow of the head is one example. The simple way of dressing, especially by a male, consisting of lungi made of silk or cotton, a shawl on shoulder, a light shirt and on special ocassions, the bundhgala (closed neck) coat and dhoti are all believed to have come from India.

Thus, we see that Indian culture has clearly influenced the Lao people.

References:

1. R.C. Majumdar. *India and South-East Asia.* B.R. Publishing Corporation, Delhi. 1979, pp. 178.
2. Dawee Daweewarn, *Brahmanism in South-East Asia.* pp. 106.
3. B.C. Chhabra, *Expansion of Indo-Aryan Cultures,* pp. 69.
4. Henri Marshal, *Le Temple de Wat Phu,* pp. 2.
5. *Ibid.,* pp. 24-28.
6. R.C. Majumdar, *op, cii.,* pp. 179.
7. *Ibid.,* pp. 179.
8. *Ibid.,* pp. 182.
9. L. Cottnell, *The Concise Encyclopaedia of Archaeology,* pp. 268; also R.C Majumdar, *Hindu Colonies in the Far East,* pp. 184.
10. Souk Boun, *Limage du Buddha dans l'art : Laas,* pp. 1-6.
11. P. Gangneux, *L Art Lao,* pp. 12
12. G. Coedes, *The making of South-East Asia,* pp. 174-/5.
13. De L. Beylie, *L'Architecture Hindu An Extreme-Orient,* pp. 231.
14. Ceorges Condominas, *Rites ef Ceremonies en Milieu Boudaiste Lao,* pp. 171.
15. *Ibid.,* pp. 185-192.
16. Charles Archaimbault, *Kingdom of Laos,* pp. 156-157 and pp. 162.
17. Dawee Daweewarn, *op. cit.* pp. 251.
18. *Ibid.,* pp. 257.
19. Edited critically for the first time by Sachitanand Sahai, 1973.
20. George Condominas, *op. cit.,* pp. 182.
21. S.J. Tambiah, *Buddhism and Spirit Cults in North-East, Thailand,* pp. 252.

भारतीय सस्कृति का विश्व में प्रसार

पृथ्वी पर प्राणियों की उत्पत्ति एवं उनके विकास क्रम पर ज्ञान-विज्ञान की विविध विधाओं में अनवरत शोधपूर्ण अध्ययन जारी है। आदिमानव के रूप में जीवन के विकास यात्रा के एकाधिक दार्शनिक-वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। उपर्युक्त विकास यात्रा पर सामान्यत: मान्य प्रतिपादित मतों का आधार विशुद्ध वैज्ञानिक है। सभ्यता के उद्‌भव एवं विकास के साथ विज्ञान के साथ-साथ साहित्य का विकास हुआ। सभ्यता के साथ-साथ संस्कृतियाँ विकसित हुई। वाचिक मानव ने लिपियों का विकास किया। भाषा-साहित्य मानव सभ्यता एवं संस्कृति के अभिव्यक्ति का आधार बना। मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के गर्भ से अपनी पहचान, आत्मगौरव, आत्मसम्मान इत्यादि प्रवृत्तियों का विकास स्वाभाविक था। इन भाव-प्रवृत्तियों ने श्रेष्ठतावाद को जन्म दिया। परिणामत: मानव सभ्यताएं अपने मौलिक विकास के पथ पर अग्रसर हुई। सीखने-सिखाने की प्रवृत्ति ने ही सभ्यता-संस्कृति को जन्म दिया। इसी प्रवृत्ति से मनुष्य एक दूसरे का अनुकरण कर, सीख कर अपने एवं अपने समाज को अहर्निष श्रेष्ठ बनाने में जुटा रहा। मानव-समाज का यही प्रयत्न सभ्यता-संस्कृति के विकास की आधार-शिला बना। हिन्दुकुश और हिमालय पर्वत श्रृंखलाओं से आच्छादित समुद्र पर्यन्त भारतीय भूभाग में सरस्वती-सिन्धु नदी के तट पर विकसित वैदिक सभ्यता-संस्कृति कालान्तर में भारतीय संस्कृति अथवा हिन्दू संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित हुयी। भारतीय संस्कृति ने अपनी विकास यात्रा में जिन मानव-मूल्यों का सृजन किया वे वैश्विक हैं, पूरे मानव-समाज के लिए हैं। आत्म-शुद्धिकरण, युगानुकुल परिवर्तन की क्षमता, विश्व की सभी संस्कृतियों से सीखने, सम्पूर्ण मानव-समाज के कल्याण की भावना, विश्व की सभी संस्कृतियों के सम्मान के भाव के कारण भारतीय संस्कृति अपने उद्‌भव-काल से लेकर अब तक निरन्तर विकासमान है। पुरूषार्थ, सस्कार, आश्रम-व्यवस्था, परिवार, जैसै सामाजिक-व्यवस्थाओं का अनुभवजन्य प्रतिपादन कर भारतीय संस्कृति ने सर्वस्वीकार्य मार्ग दिया। जन्म-पुनर्जन्म, विविध मत-पंथ के समन्वय, विविधता में एकता का दर्शन, निराकार ब्रह्म तक पहुंचने के विविध साकार मार्गों की भी स्वीकृत, योग-अध्यात्म की विशिष्ट अवधारणा, समय-समय पर लोक-कल्याणार्थ मतों का जन्म, विकास एवं प्रसार ने भारतीय संस्कृति को विश्व व्यापी बनाया। वैदिक-हड़प्पा संस्कृति के समय भारत का मेसोपोटामिया, मिस्र, यूनान सहित दुनिया के देशों से व्यापारिक-सामाजिक सम्बन्धों के प्रमाण उपलब्ध हैं। बौद्ध मत का मध्य एशिया तथा चीन में प्रभाव अब तक देखा जा सकता है। मौर्य सम्राट अशोक का मिस्र तक के देशों में लोक कल्याणकारी कार्यों के माध्यम से भारतीय संस्कृति के प्रसार की दुनिया साक्षी रही है। पतंजलि एवं महायोगी गोरक्षनाथ प्रवर्तित योग की स्वीकृति विश्व

योग दिवस के रूप में अभी-अभी 2014 ई. में प्राप्त हुई है। दुनिया के लगभग 192 देशों में योग की स्वीकृति भारतीय संस्कृति के वर्तमान प्रभाव की सूचक है। आतंकवाद से जूझ रही दुनिया को भारतीय संस्कृति के शान्तिप्रिय योग एवं अध्यात्मिक जीवन-दृष्टि में समाधान दिखायी दे रहा है। भौतिक विकास के चरम बिन्दु की आरे बढ़ते विश्व में असन्तोष, गलाकाट प्रतिस्पर्धा, अशान्त मन एक गम्भीर चुनौती बना हुआ है। अनवरत प्रगति पर बढ़ता मानव समाज में सुख-शान्तिपूर्ण जीवन से दूर होता हुआ महसूस कर रहा है। ऐसे में भारतीय संस्कृति के सनातन-जीवन-मूल्यों की प्रासंगिकता पुनः बढ़ती जा रही है। भारतीय संस्कृति का लोक-कल्याण एवं लोक-मंगल की दृष्टि से वैश्विक-उपयोगिता के लिए आवश्यक है कि उसके वैश्विक प्रभावों का मूल्यांकन किया जाय। भारतीय संस्कृति के अभ्युदय से लेकर अद्यतन उसके वैश्विक प्रसार का ऐतिहासिक विवेचन उन कारणों को खोजेगा जो भारतीय संस्कृति में संस्कृति के लोक-प्रसिद्ध होने के आधार थे। वे तथ्य वर्तमान भारतीय समाज के साथ-साथ वैश्विक समाज को भौतिक विकास एवं सुख-शान्ति एक साथ प्राप्त करने का मार्ग सुझा सकते हैं। यह विचार दर्शन लौकिक के साथ पारलौकिक जीवन, भोग के साथ योग, उपलब्धि के साथ त्याग, विश्राम के साथ श्रम, आराम के साथ तप, स्वहित के साथ परहित, विज्ञान के साथ ज्ञान, वेदना के साथ संवदेना जैसे जीवन-मूल्यों के साथ मानव-जीवन के सौन्दर्य की पुनर्प्रतिष्ठा में सहायक होगा। अतः भारतीय सम्स्कृति में निहित मानव मूल्यों को समेटे **''भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार''** विषय पर विचार विमर्श एवं हो रहे शोधों से अवगत होने की दृष्टि से **महाराणा प्रताप पी.जी. कालेज जंगल धूसड़, गोरखपुर** ने भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार विषय पर **दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी** कराने का निर्णय लिया। निर्णय के तहत महाविद्यालय द्वारा एक प्रस्ताव बनाकर भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद नई दिल्ली को भेजा गया। महाविद्यालय द्वारा प्रेषित, उक्त प्रस्ताव को भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली ने वित्तीय सहायता देते हुए अपनी स्वीकृति प्रदान की। तत्पश्चात महाविद्यालय अपनी पूरी क्षमता के साथ इस संगोष्ठी के सफल आयोजन हेतु प्राण-प्रण से लग गया। इस हेतु भारतीय इतिहास संकलन समिति गोरक्षप्रांत भी सक्रिय रूप से इस आयोजन में अपना यथा सम्भव सहयागे देने को सहर्ष तैयार हुई।

उद्घाटन सत्र (03 जनवरी, 2020 प्रातः 09:15 से)

नियत समय अर्थात 03 जनवरी, 2020 को संगोष्ठी का उद्घाटन हुआ। उद्घाटन में मुख्य अतिथि के रूप में विश्व बुद्धिष्ट मिशन, जापान के अन्तर्राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. मेधांकर रवि उपस्थित रहे। अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना नई दिल्ली के राष्ट्रीय संगठन सचिव डॉ. बालमुकुन्द पाण्डये बतौर मुख्य वक्ता एवं दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर के प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो. शीतला प्रसाद सिंह ने बतौर विशिष्ट अतिथि अपनी भागीदारी सुनिश्चित की। कार्यक्रम की अध्यक्षता भारतीय इतिहास संकलन समिति

गोरक्ष प्रांत के पूर्व अध्यक्ष डॉ. महेश कुमार शरण जी ने की। उद्घाटन सत्र का **संचालन** भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के **कनिष्ठ शोध अध्येता (जे.आर.एफ.) सुबोध कुमार मिश्र** ने किया। उद्घाटन समारोह को सम्बोधित करते हुए मुख्य अतिथि डॉ. मेधांकर रवि का कहना था कि अपने मजबूत तार्किक एवं वैज्ञानिक आधार के कारण ही आज भारतीय संस्कृति समूचे विश्व की संस्कृति का मूलाधार बनकर वैश्विक स्तर पर मानव समाज के कल्याणार्थ प्रसारित हो रही है। **मुख्य अतिथि डॉ. बालमुकुन्द पाण्डेय** ने कहा कि विश्व में भारतीय संस्कृति का विस्तार व प्रभाव इस तरह व्याप्त है कि संसार के मानचित्र पर हम जहाँ कहीं की उंगली रखते है, किसी न किसी रूप में भारतीय संस्कृति हमे मानचित्र के उस भू-भाग में परिलक्षित अवश्य होती है। आधुनिक काल में पश्चिमी ज्ञान परम्परा एवं मैक्समूलर व अन्य औपनिवेशिक इतिहासकारों ने जिस तरह से भारतीय संस्कृति एवं इतिहास को प्रस्तुत किया है, उसका आवरण हमें जनमानस के आँखों से हटाना है। **विशिष्ट अतिथि** के रूप में बोलते हुए **प्रो. शीतला प्रसाद सिंह** ने कहा कि भौतिकतावाद, उपभोगवाद तथा बढ़ते हुए वैश्विक आतंकवाद के त्रस्त दुनियाँ को सिर्फ और सिर्फ भारतीय संस्कृति की शांतिप्रिय आध्यात्मिक जीवन दृष्टि ही समाधान दे सकती है। कार्यक्रम की **अध्यक्षता** करते हुए **डॉ. महेश कुमार शरण** ने कहा कि सिद्ध गोरक्षपीठ के पीठाधीश्वरों ने अपना सम्पूर्ण जीवन भारतीय संस्कृति के प्रमार में ही खपाया है। अपने ऐसे महान पूर्वजों के कार्य को आगे बढ़ाते हुए भारतीय संस्कृति के प्रसारार्थ हम सभी को आगे आना होगा। इस हेतु ऐसी विचार गोष्ठियों का अनवरत आयोजित होते रहना अनिवार्य है। भारतीय संस्कृति के सिद्धांत ही विश्व को भौतिक विकास एवं शांती एक साथ प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करा सकते हैं। संपूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया में आज भी हजारों संस्कृत अभिलेख यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, जिन्हें भारतीय संदर्भों में व्याख्यायित करना आवश्यक है ताकि दक्षिण-पूर्व एशिया सहित विश्व भर में भारतीय संस्कृति के प्रसार का ठीक-ठीक लेखन किया जा सके। इस उद्घाटन कार्यक्रम में नवनालन्दा महाविहार के प्राचीन इतिहास विभाग के अतिथि व्याख्याता **डॉ. प्रेमशंकर श्रीवास्तव** ने बीज वक्तव्य प्रस्तुत किया। कार्यक्रम के दौरान मंचस्थ अतिथियों द्वारा डॉ. महेश कुमार शरण द्वारा लिखित पुस्तक **भगवतगीता : इन डे-टुडे लाइफ** का विमोचन किया गया। साथ ही साथ **तिब्बत, नेपाल, म्याँमार एवं कम्बोडिया** से आए हुए बौद्ध भिक्षुओं द्वारा मंगल पाठ प्रस्तुत किया। इस अवसर पर प्रो. हिमांशु चतुर्वेदी, प्रो. मनोज तिवारी, प्रो. ध्यानेन्द्र नरायण दूबे, डॉ. रामप्यारे मिश्र, डॉ. प्रकाश प्रियदर्शी, डॉ. उग्रसेन सिंह, डॉ. शैलेन्द्र उपाध्याय, डॉ. सुशील कुमार पाण्डेय, डॉ. सुधाकर लाल श्रीवास्तव, डॉ. सच्चिदानंद चौबे, डॉ. ज्ञान प्रकाश मंगलम, डॉ. सर्वेश शुक्ल, डॉ. अनुज प्रताप सिंह, डॉ. रविन्द्र आनन्द सहित विभिन्न विभागों के शोधार्थी एवं शहर के गणमान्य नागरिकों सहित महाविद्यालय के समस्त शिक्षक एवं विद्यार्थी उपस्थित थे।

'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्घाटन अवसर पर नव नालन्दा बोध गया के बौद्ध भिक्षुओं द्वारा प्रस्तुत मंगल पाठ

'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्घाटन अवसर पर प्रो. महेश कुमार शरण की पुस्तक 'श्रीमद्भगवत् गीता' का विमोचन

'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्घाटन अवसर पर अध्यक्षीय उद्बोधन देते प्रो. महेश कुमार शरण

'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्घाटन अवसर पर व्याख्यान देते डॉ. बाल मुकुन्द पाण्डेय

'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्घाटन अवसर पर मंचस्थ अतिथि प्रो. शीतला प्रसाद सिंह, डॉ. मेधांकर रवि, प्रो. महेश कुमार शरण, डॉ. बाल मुकुन्द पाण्डेय, प्रो. प्रेमशंकर सिंह, एवं बौद्ध भिक्षुगण तथा संचालक श्री सुबोध कुमार मिश्र

'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्घाटन अवसर पर व्याख्यान देते मुख्य अतिथि डॉ. मेधांकर रवि

'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्घाटन अवसर पर व्याख्यान देते प्रो. प्रेमशंकर श्रीवास्तव एवं मंचस्थ बौद्ध भिक्षुगण

'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्घाटन अवसर पर व्याख्यान देते प्रो. शीतला प्रसाद सिंह

'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्घाटन अवसर पर उपस्थित अतिथि, शिक्षक एवं छात्र-छात्राएं

(03 जनवरी, 2020) प्रथम तकनीकी सत्र (प्रातः 11:00-01:00)

उद्घाटन सत्र के तुरन्त बाद प्रथम तकनीकी सत्र का आयोजन किया गया। आयोजन सत्र की **अध्यक्षता** हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकार **डॉ. अनुज प्रताप सिंह** ने की जबकि दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर के प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग के सहायक आचार्य **डॉ. रामप्यारे मिश्र सह-अध्यक्ष** रहे। विषय विशेषज्ञ के रूप में नवनालन्दा महाविहार के अतिथि व्याख्याता **डॉ. प्रेमशंकर श्रीवास्तव** उपस्थित रहे। सत्र का **संचालन** आई.सी.एच.आर. के पूर्व फेलो **डॉ. प्रवीण कुमार त्रिपाठी** ने तथा **प्रतिवेदन** यू.जी.सी. के फेलो **डॉ. कन्हैया सिंह** ने किया। इस सत्र में **डॉ. बबिता कुमारी, डॉ. विनोद रावत, डॉ. प्रभास कुमार झा, भिक्षु भरत नारायण** और **भिक्षु अंबिका** तथा **भिक्षु हिमानन्द** ने अपने शोध पत्रों का वाचन किया। **डॉ. प्रेम शंकर श्रीवास्तव** ने अन्त में पढ़े गए शोध पत्रों का विश्लेषण करते हुए शोधार्थियों का मार्गदर्शन किया।

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के प्रथम तकनीकी सत्र में मंचस्थ अतिथिगण

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के प्रथम तकनीकी सत्र का संचालन करते डॉ. प्रवीण कुमार त्रिपाठी

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के प्रथम तकनीकी सत्र में शोधपत्र प्रस्तुत करते डॉ. विनोद कुमार रावत

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के प्रथम तकनीकी सत्र के अवसर पर उपस्थित अतिथि एवं प्रतिभागीगण

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के प्रथम तकनीकी सत्र में शोधपत्र प्रस्तुत करते बौद्ध भिक्षु

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के प्रथम तकनीकी सत्र के दौरान विषय विशेषज्ञों से अपनी जिज्ञासा पूछता प्रतिभागी

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के प्रथम तकनीकी सत्र के अध्यक्ष डॉ. अनुज प्रताप सिंह को स्मृति चिन्ह एवं पुस्तक भेंट करते श्री सुबोध कुमार मिश्र

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के प्रथम तकनीकी सत्र में उपस्थित मंचस्थ अतिथि एवं विषय विशेषज्ञ

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के प्रथम तकनीकी सत्र में प्रतिभागी बौद्ध भिक्षु को स्मृति चिन्ह प्रदान करते प्रो. महेश कुमार शरण

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के प्रथम तकनीकी सत्र में उपस्थित अतिथि, शिक्षक एवं छात्र-छात्राएं

सहभोज

प्रथम तकनीकी सत्र के समाप्त होते ही 01 बजे से 02 बजे तक सहभोज का आयोजन हुआ जिसमें उपस्थित समस्त अतिथि, विषय विशेषज्ञ एवं प्रतिभागियों ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई।

द्वितीय तकनीकी सत्र (03 जनवरी 2020, दोपहर 02:00-04:00 बजे)

सहभोज के उपरान्त दोपहर 02 बजे से द्वितीय तकनीकी सत्र प्रारम्भ हुआ। इस सत्र के **अध्यक्ष** सन्त तुलसीदास पी.जी. कालेज, कादीपुर सुल्तानपुर के संस्कृत विभाग के पूर्व आचार्य **डॉ. सुशील कुमार पाण्डये** रहे। दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर के प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग के आचार्य **प्रो. दिग्विजयनाथ मौर्य** सह-अध्यक्ष तथा माध्यमिक शिक्षा परिषद उ.प्र. के क्षेत्रीय सचिव **डॉ. प्रभास कुमार झा विषय विशेषज्ञ** के रूप में उपस्थित रहे। सत्र का **संचालन डॉ. आशुतोष त्रिपाठी** एवं **प्रतिवेदन डॉ. कन्हैया सिंह** ने किया। इस सत्र में **डॉ. सचिन राय, डॉ. अमिता अग्रवाल** तथा **डॉ. सुमन सिंह** सहित कुल 09 लोगों ने अपने शोध पत्र का वाचन किया आरै इसी के साथ विषय विशेषज्ञ तथा अध्यक्ष के उद्‌बोधन के पश्चात सत्र समाप्त हुआ।

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के द्वितीय तकनीकी सत्र के दौरान अपना शोध पत्र प्रस्तुत करती डॉ. अमिता अग्रवाल

राष्ट्रीय संगोष्ठी के द्वितीय तकनीकी सत्र में उद्‌बोधन देते डॉ. आशुतोष कुमार त्रिपाठी

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के द्वितीय तकनीकी सत्र के दौरान अपना शोध पत्र प्रस्तुत करती डॉ. सुमन सिंह

राष्ट्रीय संगोष्ठी के द्वितीय तकनीकी सत्र में अध्यक्षीय उद्बोधन देते डॉ. सुशील कुमार पाण्डेय

राष्ट्रीय संगोष्ठी के द्वितीय तकनीकी सत्र में उद्बोधन देते डॉ. प्रभास कुमार झा

राष्ट्रीय संगोष्ठी के द्वितीय तकनीकी सत्र में उद्बोधन देते प्रो. दिग्विजयनाथ मौर्य

राष्ट्रीय संगोष्ठी के द्वितीय तकनीकी सत्र में उपस्थित छात्र-छात्राएं

मुक्त परिचर्चा सत्र (04 जनवरी, 2020 प्रातः 09:40 से 11:00)

संगोष्ठी के दूसरे दिन 04 जनवरी को प्रातः 09:45 बजे एक **मुक्त परिचर्चा सत्र** का आयोजन किया गया। मुक्त परिचर्चा सत्र की **अध्यक्षता** दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर के इतिहास विभाग के आचार्य **प्रो. हिमांशु चतुर्वेदी** ने की। **सह-अध्यक्ष** बुद्ध पी.जी. कालजे कुशीनगर के इतिहास विभाग के अध्यक्ष **डॉ. ज्ञानप्रकाश मंगलम** रहे। मुक्त परिचर्चा सत्र में **विषय विशेषज्ञ** के रूप में **डॉ. मनोज तिवारी, डॉ. राजेश नायक, डॉ. धर्मचन्द्र चौबे, डॉ. अम्बिका तिवारी, डॉ. सर्वेश शुक्ल** आदि उपस्थित रहे। मुक्त परिचर्चा सत्र का विषय प्रवर्तन

करते हुए प्रो. हिमांशु चतुर्वेदी ने कहा कि भारतीय संस्कृति की जीवटता का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि सैकड़ो वर्षों के बाह्य आक्रमणों एवं शासन को झेलते हुए भी आज भी भारतीय संस्कृति अपनी प्रचंडता के साथ न सिर्फ विद्यमान है, अपितु दिन-प्रतिदिन इसका विस्तार होते जा रहा है। भारतीय संस्कृति जहाँ भी प्रसारित हुई वहाँ पर सद्भावना का ही प्रसार हुआ। भारतीय संस्कृति में जेहाद और क्रुसेज का कोई स्थान न तो कभी था और न ही आज है। साथ ही भारतीय संस्कृति में सेकुलेरिज्म और टालरेंस का भी कोई स्थान नहीं है। विषय प्रवर्तन के उपरान्त एक-एक करके सभी विषय विशेषज्ञों ने अपनी बात रखी तथा अन्त में उपस्थित शोधार्थियों, प्रतिभागियों एवं विद्यार्थियों की जिज्ञासाओं का समाधान मंचस्थ विषय विशेषज्ञों द्वारा किया गया।

'भारतीय संस्कृति के विश्व में प्रसार' विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी के दूसरे दिन तृतीय तकनीकी सत्र के अन्तर्गत समूह परिचर्चा में विशेष विशेषज्ञ एवं प्रतिभागीगण

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के मुक्त परिचर्चा सत्र के दौरान उपस्थित प्रतिभागीगण

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के मुक्त परिचर्चा सत्र के दौरान उद्बोधन देते हुए विषय विशेषज्ञ डॉ. राजेश नायक

'भारतीय संस्कृति के विश्व में प्रसार' विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी के दूसरे दिन तृतीय तकनीकी सत्र के अन्तर्गत समूह परिचर्चा में विशेष विशेषज्ञ एवं प्रतिभागीगण

'भारतीय संस्कृति के विश्व में प्रसार' विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी के दूसरे दिन तृतीय तकनीकी सत्र के अन्तर्गत समूह परिचर्चा में विशेष विशेषज्ञ एवं प्रतिभागीगण

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के मुक्त परिचर्चा सत्र के दौरान विषय विशेषज्ञों से प्रश्न पूछता महाविद्यालय का विद्यार्थी

'भारतीय संस्कृति के विश्व में प्रसार' विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी के दूसरे दिन तृतीय तकनीकी सत्र के अन्तर्गत समूह परिचर्चा में विषय रखते धर्मचन्द चौबे एवं अन्य विषय विशेषज्ञ

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के मुक्त परिचर्चा सत्र के दौरान उद्बोधन देते सत्र के सह-अध्यक्ष डॉ. ज्ञान प्रकाश मंगलम

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के मुक्त परिचर्चा सत्र के दौरान उद्बोधन देते हुए विषय विशेषज्ञ डॉ. मनोज तिवारी

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के मुक्त परिचर्चा सत्र के दौरान विषय विशेषज्ञों से प्रश्न पूछता महाविद्यालय का विद्यार्थी

विशेष व्याख्यान कार्यक्रम (04 जनवरी 2020, प्रातः 09:40-11:00)

इस मुक्त परिचर्चा सत्र के **समानान्तर** ही एक विशेष व्याख्यान का आयोजन जगत-जननी माँ सीतासभागार में किया गया। **''नाथ पंथ द्वारा प्रवर्तित योग का दक्षिण एशिया में प्रसार''** विषय पर महाविद्यालय के प्राचार्य **डॉ. प्रदीप कुमार राव** ने पी.पी.टी. के माध्यम से व्याख्यान प्रस्तुत किया। अपने व्याख्यान के अन्तर्गत सभा को सम्बोधित करते हुए डॉ. प्रदीप कुमार राव ने कहा कि विश्व के विभिन्न प्रपंचों में उलझा हुआ मानव सुख-शान्ति की खोज में निरंतर प्रयत्नशील रहा है। इन सुखों और शान्ति की प्राप्ति के लिए विविध पंथ और संप्रदायों ने अनेक साधनाओं आरै पद्धतियों की खोज की है। वैदिक वाङ्मय से लेकर देश-विदेश की प्रायः प्रत्येक भाषाओं में उपासना व साधना प्रणालियों में सर्वत्र सभी क्षेत्रों में योग-विद्या के महत्व को स्वीकार किया गया है। योग हमारे देश की अमूल्य धरोहर एवं विशुद्ध रूप से भारतीय संस्कृति की देन है। महायोगी गोरखनाथ ने अपनी हठयोग साधना के अन्तर्गत अष्टांग योग के प्रथम दो अंगों यम और नियम को मनुष्य के चरित्र निर्माण का सर्वमान्य साधन माना है।

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के विशेष व्याख्यान कार्यक्रम का संचालन करते डॉ. प्रवीण कुमार त्रिपाठी एवं मंचस्थ अतिथिगण

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के विशेष व्याख्यान कार्यक्रम में मंचासीन आई.सी.एच.आर., नई दिल्ली के डॉ. कुमार रत्नम, नवनालन्दा, बिहार के श्री मेधंकर रवि एवं प्राचार्य डॉ. प्रदीप कुमार राव

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के विशेष व्याख्यान कार्यक्रम के दौरान अपना व्याख्यान प्रस्तुत करते महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ. प्रदीप कुमार राव

'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी के दूसरे दिन समानान्तर तृतीय तकनीकी सत्र के अन्तर्गत विशेष व्याख्यान के अवसर पर उपस्थित विद्वतजन तथा प्रतिभागीगण

तृतीय तकनीकी सत्र (04 जनवरी, 2020, दोपहर 11:00-01:00 तक)

मुक्त परिचर्चा एवं विशेष व्याख्यान कार्यक्रम के तुरन्त बाद तृतीय तकनीकी सत्र का आयोजन किया गया। इस सत्र की **अध्यक्षता** दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर के प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग के आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष **प्रो. राजवन्त राव** ने की। **सह-अध्यक्ष** के रूप में दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर के प्राचीन इतिहास विभाग की आचार्य **प्रो. प्रज्ञा चतुर्वेदी** तथा विषय विशेषज्ञ के रूप में **डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान पटना** के शोध अन्वेषक **डॉ. राकेश कुमार सिन्हा** जी उपस्थित रहे। सत्र का **संचालन** महाविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग के प्रभारी **डॉ. प्रज्ञेश कुमार मिश्र** ने जबकि **प्रतिवेदन** आई.सी.एस.एस.आर. के फेलो **डॉ. सलिल कुमार पाण्डेय** किया। सत्र में **डॉ. कन्हैया सिंह डॉ. प्रमिला द्विवेदी** तथा **डॉ. ब्रजेश कुमार पाण्डेय** सहित कुल 08 लोगों ने अपना शोध पत्र प्रस्तुत किया। सत्र के अध्यक्ष **प्रो. राजवंत राव** ने अपने **अध्यक्षीय उद्बोधन** में कहा कि एशिया की चेतना का प्रतिनिधित्व करने वाले भारत ने यूरोप का सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व करने वाले यूनान पर अमिट छाप छोड़ने का सफल प्रयास किया। जब दो संस्कृतियां सम्पर्क में आती हैं तब दोनों एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। सिकन्दर के साथ आने वाले यूनानी लेखक, विद्वान एवं इतिहासकारों ने भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण तत्वों को अपने साथ यूनान ले जाने का कार्य किया, जिससे वहाँ इन

संस्कृतियों का प्रचार हुआ। भारतीय नैतिकता का देवता ऋत्त के दैवीय तत्व निश्चित रूप से यूनानी देवता डीके में दिखाई देता है, जो यूनानी समाज में धर्म न्याय एवं नैतिकता का देवता है। भारतीय जातक कथा और यूनानी इसोप कथाओं में साम्यता दिखाई देती है। जैन धर्म के स्यादवाद का प्रभाव यूरोपीय संशयवाद पर भी निश्चित रूप से देखा जा सकता है। मुद्रा शास्त्र के इतिहास में यवन शासक अगाथाक्लीज की मुद्रा पर वासुदवे-संकर्षण एवं मिनेण्डर की मुद्रा पर गदा एवं चक्र का अंकन निश्चित रूप से भारतीय धर्म दर्शन को प्रस्तुत करता है। अगाथाक्लीज की तक्षशिला से प्राप्त मुद्राओं पर भी भारतीय धार्मिक प्रतीक चिन्ह देखे जा सकते हैं।

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के तृतीय तकनीकी सत्र के दौरान मंच पर उपस्थित अतिथि एवं विषय विशेषज्ञ

राष्ट्रीय संगोष्ठी के तृतीय तकनीकी सत्र के अवसर पर प्रो. राजवंत राव को स्मृति चिह्न प्रदान करते डॉ. विजय कुमार चौधरी

राष्ट्रीय संगोष्ठी के तृतीय तकनीकी सत्र के अवसर पर अपना शोधपत्र प्रस्तुत करते प्रतिभागी श्री व्रजेश पाण्डेय

चतुर्थ तकनीकी सत्र (04 जनवरी, 2020, दोपहर 11:00-01:00 तक)

तृतीय सत्र के ही समानान्तर श्री राम सभागार में चतुर्थ तकनीकी सत्र आयोजित हुआ जिसकी **अध्यक्षता** दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर के प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग की पूर्व विभागाध्यक्ष **प्रो. विपुला दुबे** जी ने की। **विषय विशेषज्ञ** के रूप में **डॉ. धर्मचन्द्र चौबे** एवं **डॉ. ध्रुव कुमार** जी उपस्थित रहे जबकि **सह-अध्यक्ष** दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर के प्राचीन इतिहास विभाग के आचार्य **डॉ. ध्यानेन्द्र नारायण दूबे** थे। इस सत्र में **डॉ. अंजना राय, डॉ. इक्ष्वाकु सिंह, डॉ. प्रियंका, डॉ. अजय कुमार सिंह** सहित 09 प्रतिभागियों ने अपने शोध पत्रों का वाचन किया। अन्त में **अध्यक्षीय उद्बोधन** देते हुए **प्रो. विपुला दुबे** ने भारतीय सस्कृति के वैश्विक प्रसार के कारक के रूप में भारत की दानशीलता की प्रवृत्ति को प्रमुखता से उभारा जिसके चलते भारतीय संस्कृति की विदेशों में स्वीकार्यता बढ़ी। उन्होंने भारतीय संस्कृति की दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व एशिया में प्रसार को प्रमाणों के साथ विस्तार से प्रस्तुत किया। उन्होंने अभिलेखों की संस्कृत भाषा, ब्राह्मी लिपि, काव्यात्मक शैली तथा मन्दिर निर्माण, तुलादान, गोदान जैसी परम्पराओं का संदर्भ देकर चम्पा, कम्बोज आदि क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति के प्रभाव को स्पष्ट किया। इसके अलावा राजाओं एवं स्थानों के नाम पर भारतीय प्रभाव को भी उन्होंने भारतीय संस्कृति प्रसार के प्रमाण के रूप में प्रस्तत किया। सत्र का **संचालन डॉ. सचिन राय** ने जबकि **प्रतिवेदन डॉ. प्रवीण कुमार त्रिपाठी** ने किया।

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के चतुर्थ तकनीकी सत्र के दौरान उपस्थित मंचस्थ अतिथि

राष्ट्रीय संगोष्ठी के चतुर्थ तकनीकी सत्र का संचालन करते हुए डॉ. सचिन राय

राष्ट्रीय संगोष्ठी के चतुर्थ तकनीकी सत्र के अवसर पर अपना शोधपत्र प्रस्तुत करती डॉ. अर्चना राय

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के चतुर्थ तकनीकी सत्र के दौरान अपना शोधपत्र प्रस्तुत करते डॉ. अजय कुमार सिंह

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के चतुर्थ तकनीकी सत्र के दौरान अपना उद्बोधन देते विषय विशेषज्ञ डॉ. ध्रुव कुमार

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के चतुर्थ तकनीकी सत्र के दौरान उद्बोधन देते डॉ. ध्यानेन्द्र नारायण दुबे

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के चतुर्थ तकनीकी सत्र के दौरान अध्यक्षीय उद्बोधन देती प्रो. विपुला दुबे

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के चतुर्थ तकनीकी सत्र के दौरान उपस्थित महाविद्यालय के शिक्षक एवं प्रतिभागीगण

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के चतुर्थ तकनीकी सत्र के दौरान प्रो. विपुला दुबे को स्मृति चिह्न भेंट करते महाविद्यालय के शिक्षक डॉ. अविनाश प्रताप सिंह

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के चतुर्थ तकनीकी सत्र के दौरान उद्बोधन देते विषय विशेषज्ञ डॉ. प्रमिला द्विवेदी

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के चतुर्थ तकनीकी सत्र के दौरान उद्वोधन देते विषय विशेषज्ञ डॉ. धर्मचन्द चौवे

सहभोज

चतुर्थ तकनीकी सत्र की समाप्ति के पश्चात 01 बजे से 02 बजे तक सहभोज का कार्यक्रम योगीराज बाबा गम्भीरनाथ सेवाश्रम पर सम्पन्न हुआ। सहभाजे कार्यक्रम में सभी सम्मनित अतिथि, विषय विशेषज्ञ, शोधार्थी एवं प्रतिभागीगण सम्मलित हुए।

समापन (04 जनवरी, 2020, दोपहर 02:00-04:00 तक)

सहभोज कार्यक्रम के उपरान्त दो दिनों तक चलने वाली इस गष्ट्रीय संगोष्ठी का समापन सत्र आयोजित हुआ। समापन सत्र की **अध्यक्षता** महाराणा प्रताप पी.जी. कालेज, जंगल धूसड़, गोरखपुर के प्रबन्धक एवं वीरबहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय जौनपुर के पूर्व कुलपति **प्रो. उदय प्रताप सिंह** ने की। **मुख्य अतिथि** के रूप में भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली के सदस्य सचिव, **डॉ. कुमार रत्नम** तथा **मुख्य वक्ता** के रूप में अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना, नई दिल्ली के राष्ट्रीय संगठन मंत्री **डॉ. बालमुकुन्द पाण्डेय** उपस्थित रहे। **विशिष्ट अतिथि** के रूप में भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली के निदेशक (शोध एवं प्रशासन) **डॉ. ओम जी उपाध्याय** का सानिध्य रहा। कार्यक्रम का **संचालन** महाविद्यालय के राजनीतिशास्त्र विभाग के प्रभारी **डॉ. अविनाश प्रताप सिंह** ने किया। मुख्य वक्ता के रूप में बोलते हुए डॉ. बालमुकुन्द पाण्डेय ने कहा कि- हमारे उपनिषदों में अनेक आख्यान प्रश्न के रूप में उपस्थित हैं। जिनके उत्तर निश्चित रूप से भारतीय सभ्यता के संवाहक प्रतीत होते हैं। उपनिषदों में कहा गया कि अध्ययन करने अथवा पर्वत चढ़ने का क्या लाभ है? इसका उत्तर देते हुए इन्हीं उपनिषदों में कहा गया कि विश्व को जानने की इच्छा के कारण ही जिज्ञासु दुर्गम पर्वतों को पार करते हैं। इस आख्यान से स्पष्ट है कि भारत में अनादिकाल से विश्व को जानने एवं वहाँ अपनी सस्कृति का प्रसार करने की अद्भुत अभिरूचि उपस्थित थी। परन्तु विडम्बना यह है कि सैकड़ो वर्षो तक वाह्य आक्रमण एवं विदेशी शासकों के प्रभाव से आज हम अपना सांस्कृतिक विश्वास खो रहे हैं। विश्व में संस्कृति एवं मेधाओं का प्रसार पूर्व से हुआ। यही कारण है कि अधिकांश धर्म के लोग पूर्व की ओर मुंह कर अपना धार्मिक कर्म करते हैं। मुख्य अतिथि डॉ. कुमार रत्नम ने अपने उद्बोधन में कहा कि भारतीय परम्परा सूक्ष्म से स्थूल की ओर प्रसारित होने वाली संस्कृति है। यही कारण है कि हम भारतीय अपनी संवेदनाओं को सूक्तों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। प्रस्तर काल में भी हमारे पूर्वजों ने गुफाओं में कला एवं आलेखन का अंकन कर अपनी सृजनात्मकता का अद्भुत नमूना प्रस्तुत किया। कुछ तथाकथित इतिहासकारों द्वारा भारत की विकृत्ति संस्कृति को प्रस्तुत किया गया। अतः भारतीय साहित्यों के अध्ययन के अभाव में यहाँ की सांस्कृतिक उपलब्धता का आंकलन करना गलत होगा। कार्यक्रम को सम्बोधित करते हुए विशिष्ट वक्ता डॉ. ओम जी उपाध्याय ने बताया कि हजार वर्षो से भारतीय संस्कृति को दूषित किया गया। ब्रिटिश इतिहासकारों ने हमें बर्बर एवं असभ्य बताया क्योंकि वे लोग

भारतीय मूल एवं सांस्कृतिक मूल्य को समझ नहीं पाये। यहाँ के लोग जहाँ भी गए वहाँ धर्म, संस्कृति, उद्योग एवं वस्त्र आदि का व्यापक प्रयोग एवं प्रसार किया। न केवल एशिया बल्कि पश्चिमी देशों में भी भारतीय संस्कृति का संचार हुआ। इस दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के समापन सत्र की अध्यक्षता करते हुए प्रो. यू.पी. सिंह ने कहा कि भारतीय संस्कृति को हिन्दू संस्कृति कहना भी गलत नहीं होगा। सभ्यता के ऊषा काल से ही भारत की संत परंपरा 'वसुधैव कुटुम्बकम' की अवधारणा के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति का प्रसार करने वाली रही है। वैदिक कालीन ऋषियों से लेकर अद्यतन सिद्ध गोरक्षपीठ के पीठाधीश्वरों द्वारा भारत की इस सनातन परम्परा का निर्बाध रूप से निर्वहन किया जाता रहा है।

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के समापन समारोह में मंचस्थ विद्वतजन

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के समापन समारोह का संचालन व आभार ज्ञापन करते डॉ. अविनाश प्रताप सिंह

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के समापन समारोह में अध्यक्षीय उद्बोधन करते हुए प्रो. उदय प्रताप सिंह

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के समापन समारोह में आई.सी.एच.आर. के सदस्य प्रो. कुमार रत्नम को स्मृति चिह्न भेंट करते प्रो. उदय प्रताप सिंह

दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के समापन समारोह में उपस्थित अतिथि, शिक्षक एवं विद्यार्थीगण

संगोष्ठी के उपरान्त फुर्सत के क्षणों में . . .

राष्ट्रीय संगोष्ठी का अग्रणी समाचार पत्रों द्वारा कवरेज

हिन्दुस्तान गोरखपुर • शुक्रवार • 03 जनवरी 2020 • 04

भारतीय संस्कृति के वैश्विक प्रसार पर मंथन आज से

एमपी पीजी कॉलेज

गोरखपुर | वरिष्ठ संवाददाता

नेपाल शोध अध्ययन केंद्र, महाराणा प्रताप पीजी कॉलेज जंगल धूसड़ एवं भारतीय इतिहास संकलन समिति गोरक्षप्रांत की ओर से भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार विषय पर दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी आज से होगी।

संगोष्ठी में देश-विदेश से आ रहे विद्वान दो दिनों तक भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों सहित उसके वैश्विक प्रसार पर गहन मंथन करेंगे। महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ. प्रदीप कुमार राव ने बताया कि संगोष्ठी का उद्घाटन सुबह 9.20 बजे होगा।

कार्यक्रम के मुख्य अतिथि विश्व बुद्धिष्ट मिशन के अंतर्राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. मेधांकर रवि होंगे तथा मुख्य वक्ता के रूप में अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के संगठन मंत्री डॉ. बाल मुकुंद पांडेय मौजूद रहेंगे। विशिष्ट अतिथि गोविवि के प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो. शीतला प्रसाद तथा अध्यक्षता भारतीय इतिहास संकलन समिति, गोरक्षप्रांत के पूर्व अध्यक्ष डॉ. महेश कुमार शरण करेंगे। प्राचार्य ने बताया कि संगोष्ठी में कुल चार तकनीकी सत्र होंगे।

6
दैनिक जागरण
गोरखपुर, 4 जनवरी 2020

विश्व में सर्वमान्य है भारतीय संस्कृति

जागरण संवाददाता, गोरखपुर : विश्व बुद्धिष्ट मिशन के अंतरराष्ट्रीय अध्यक्ष डा. मेधांकर रवि ने कहा कि भारतीय संस्कृति अपनी मजबूत तार्किक एवं वैज्ञानिक आधार के चलते विश्व में सर्वमान्य है। भारतीय संस्कृति ने अपनी विकास यात्रा में जिन मानव मूल्यों का सृजन किया वे न सिर्फ स्थानीय हैं, बल्कि वैश्विक हैं।

विश्व बुद्धिष्ट मिशन के अंतरराष्ट्रीय अध्यक्ष शुक्रवार को महाराणा प्रताप पीजी कालेज जंगल धूसड़ में कॉलेज और नेपाल शोध एवं अध्ययन केंद्र, भारतीय इतिहास संकलन समिति गोरक्षप्रांत की ओर से 'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र को बतौर मुख्य अतिथि संबोधित कर रहे थे। अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना नई दिल्ली के राष्ट्रीय संगठन मंत्री डॉ बाल मुकुंद पांडेय ने कहा कि भारतीय संस्कृति का मैसोपोटामिया, मिस्र, यूनान सहित दुनिया के अन्य देशों में प्रभावों के ! ाण उपलब्ध हैं।

प्रो. शीतला प्रसाद सिंह ने कहा कि आज भौतिकतावाद, उपभोगवाद तथा आतंकवाद जूझ रही दुनिया को सिर्फ भारतीय संस्कृति के शांतिप्रिय योग, आध्यात्मिक जीवन दृष्टि में समाधान दिखाई देता है। प्रो. महेश कुमार शरण ने कहा कि गोरक्षपीठ के पीठाधीश्वरों ने अपना संपूर्ण जीवन भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में ही खपाया है। प्रो महेश शरण की लिखित पुस्तक 'भागवत गीता इन डे टुडे लाइफ' का अतिथियों ने विमोचन किया। गया से आए बौद्ध भिक्षुओं के दल ने मंगलपाठ किया।

प्राचार्य डा. प्रदीप राव ने अतिथियों का स्वागत किया। संचालन सुबोध मिश्र ने किया।

इस अवसर पर प्रो. हिमांशु चतुर्वेदी, प्रो मनोज तिवारी, प्रो. ध्यानेंद्र नारायण दूबे, डॉ रामप्यारे मिश्र, डॉ प्रकाश प्रियदर्शी, डॉ उग्रसेन सिंह मौजूद थे।

भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रचार विषय पर आयोजित गोष्ठी में मुख्य अतिथि डॉ. मेधांकर रवि को स्मृति चिन्ह देकर सम्मानित करते महाविद्यालय के प्राचार्य प्रदीप राव • जागरण

राष्ट्रीय संगोष्ठी

- समस्त मानव समाज के लिए है भारतीय संस्कृति : डा. मेधांकर रवि
- भागवत गीता इन डे टुडे लाइफ पुस्तक का हुआ विमोचन

हिन्दुस्तान गोरखपुर • शनिवार • 04 जनवरी 2020 • 04

भारतीय संस्कृति से मानव मूल्यों का सृजन

गोरखपुर | वरिष्ठ संवाददाता

भारतीय संस्कृति ने अपनी विकास यात्रा में जिन मानव मूल्यों का सृजन किया वे न सिर्फ स्थानीय हैं अपितु वैश्विक हैं, समस्त मानव समाज के लिए हैं। यही कारण है कि आत्म-शुद्धीकरण, युगानुकूल परिवर्तन की क्षमता, विश्व के अन्यान्य संस्कृतियों से सीखने, संपूर्ण मानव समाज के कल्याण की भावना तथा विश्व की समस्त संस्कृतियों के प्रति सम्मान की भावना के कारण भारतीय संस्कृति अपने उद्भवकाल से लेकर अब तक निरन्तर विकासमान है।

ये बातें भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित तथा नेपाल शोध एवं अध्ययन केन्द्र महाराणा प्रताप पीजी कॉलेज जंगल धूसड़ तथा भारतीय इतिहास संकलन समिति गोरक्षप्रांत के संयुक्त तत्वावधान में 'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर आयोजित संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र को संबोधित करते हुए विश्व बुद्धिष्ट मिशन के अन्तर्राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. मेधांकर रवि ने कही। डॉ. रवि महन्त दिग्विजयनाथ के 125वें तथा राष्ट्रसन्त ब्रह्मलीन महन्त अवेद्यनाथ के जन्मशताब्दी वर्ष के अवसर पर आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी को बतौर मुख्य अतिथि संबोधित कर रहे थे। डॉ. रवि ने कहा कि अपने मजबूत तार्किक एवं वैज्ञानिक आधार के कारण ही आज भारतीय संस्कृति समूचे विश्व की संस्कृति का मूल आधार बनकर वैश्विक स्तर पर मानव समाज के कल्याणार्थ प्रसारित हो रही है। कार्यक्रम की अध्यक्षता भारतीय इतिहास संकलन समिति के पूर्व अध्यक्ष प्रो. महेश कुमार शरण ने की। नव नालन्दा महाविहार के आचार्य डॉ. प्रेमशंकर ने बीज वक्तव्य प्रस्तुत किया। संचालन आईसीएचआर के रिसर्च फेलो सुबोध कुमार मिश्र ने किया।गया से आए हुए बौद्ध भिक्षुओं के दल ने मंगलपाठ प्रस्तुत किया।

प्रो. महेश शरण की किताब का हुआ विमोचन

इस अवसर पर प्रो. महेश कुमार शरण द्वारा लिखित पुस्तक 'भगवतगीता इन डे-टुडे लाइफ' का मंचस्थ अतिथियों ने विमोचन किया। उद्घाटन अवसर पर प्रो. हिमांशु चतुर्वेदी, प्रो. मनोज तिवारी, प्रो. ध्यानेन्द्र नरायण दूबे, डॉ. रामप्यारे मिश्र, डॉ. प्रकाश प्रियदर्शी, डॉ. उग्रसेन सिंह, डॉ. शैलेन्द्र उपाध्याय, डॉ. सुशील कुमार पाण्डेय, डॉ. सुधाकर लाल श्रीवास्तव, डॉ. सच्चिदानंद चैबे, डॉ. ज्ञान प्रकाश मंगलम, डॉ. सर्वेश शुक्ल, डॉ. अनुज प्रताप सिंह, डॉ. रविन्द्र आनन्द आदि प्रमुख रूप से उपस्थित रहे।

दूसरी संस्कृतियों पर भी हमारा प्रभाव

मुख्य वक्ता अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना नई दिल्ली के राष्ट्रीय संगठन मंत्री डॉ. बालमुकुन्द पाण्डेय ने कहा कि भारतीय संस्कृति का मेसोपोटामिया, मिस्र, यूनान सहित दुनिया के अन्य देशों में प्रभावों के प्रमाण उपलब्ध हैं। बौद्धमत का मध्य एशिया चीन तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में प्रभाव अब तक देखा जा सकता है। विशिष्ट अतिथि डीडीयू के प्राचीन इतिहास विभागाध्यक्ष प्रो. शीतला प्रसाद सिंह ने कहा कि आज भौतिकतावाद, उपभोगवाद तथा आतंकवाद से जूझ रही दुनिया को सिर्फ और सिर्फ भारतीय संस्कृति के शांतिप्रिय योग आध्यात्मिक जीवन दृष्टि में समाधान दिखाई देता, भारतीय संस्कृति के वर्तमान प्रासंगिकता को स्वयं उद्घाटित करता है।

अमर उजाला | गोरखपुर | रविवार, 5 जनवरी 2020

दानशील प्रवृत्ति के कारण संसार में फैली भारतीय संस्कृति : प्रो. विपुला

अमर उजाला ब्यूरो

गोविवि में 'भारतीय संस्कृति के विश्व में प्रसार' विषय पर गोष्ठी का आयोजन हुआ

गोरखपुर। भारतीय संस्कृति का वैश्विक प्रसार इस देश की दानशीलता की प्रवृत्ति के कारण हुआ। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति ने दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में प्रचार-प्रसार किया। चंपा और कंबोज आदि क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति की झलक मंदिर निर्माण, तुलादान, गोदान जैसी परंपराओं में साफ नजर आती है।

ये बातें गोरखपुर विश्वविद्यालय में 'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर आयोजित दो दिवसीय गोष्ठी के अंतिम दिन प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग की पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो. विपुला दूबे ने कही।

विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग में गोष्ठी हुई। सह अध्यक्ष प्रो. ध्यानेंद्र नारायण दूबे ने व्यापारिक संबंधों, विजयों और धर्म के माध्यम से भारतीय संस्कृति के विदेशों में प्रसार का उल्लेख किया। डॉ. धर्मचंद चौबे ने चीन की प्राचीन संस्कृति में भारतीय तत्वों के समावेश की जानकारी दी। डॉ. ध्रुव कुमार ने बुद्ध के मध्यम मार्ग की प्रासंगिकता पर बल दिया।

योग-विद्या के महत्व को समूचे विश्व ने स्वीकारा : डॉ. प्रदीप

गोरखपुर। एमपी पीजी महाविद्यालय में आयोजित समानांतर तृतीय तकनीकी सत्र के विशेष व्याख्यान का विषय 'योग और महायोगी गोरक्षनाथ' रहा। प्राचार्य डॉ. प्रदीप कुमार राव ने कहा कि विश्व के विभिन्न प्रपंचों में उलझा हुआ मानव सुख-शांति की खोज में निरंतर प्रयत्नशील रहा है। इनकी खोज के लिए विविध पंथ और संप्रदायों ने अनेक साधना और पद्धतियों की खोज की है। वैदिक पुराणों से लेकर देश-विदेश की लगभग सभी भाषाओं में उपासना और साधना प्रणालियों में योग-विद्या के महत्व को स्वीकार किया गया है। योग हमारे देश की अमूल्य धरोहर एवं विशुद्ध रूप से भारतीय संस्कृति की देन है। महायोगी गोरखनाथ ने हठयोग के नियम को मनुष्य के चरित्र निर्माण का सर्वमान्य साधन माना है।

'भारतीय संस्कृति करती है सद्भावना का विकास'

गोरखपुर। भारतीय संस्कृति जहां भी फैली वहां सद्भावना का विकास हुआ। भारतीय संस्कृति में जेहाद और क्रुसेड का कोई स्थान नहीं है। आज भी संपूर्ण विश्व में बाहर रहने वालों में सबसे अधिक भारतीय हैं जो संस्कृति के संवाहक हैं।

एमपीपीजी महाविद्यालय में भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी के तीसरे सत्र की मुक्त परिचर्चा में यह बात इतिहास विभाग के पूर्व अध्यक्ष, आचार्य हिमांशु चतुर्वेदी ने कही। डॉ. धर्मचंद चौबे ने कहा कि चीनी राजा भिंटी ने सपने में देखा एक सफेद हाथी राज्य में प्रवेश कर रहा है, जिसका विश्लेषण करते हुए रेक्लस ने बताया कि इस राज्य में बुद्ध प्रवेश करना चाहते हैं । डॉ. राजेश नायक ने बताया कि जावा में आज भी भारतीय संस्कृति के तत्व मौजूद हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश की लोक संस्कृति मारीशस में आज भी विद्यमान है। डॉ. मनोज तिवारी ने कहा कि भारत का सांस्कृतिक प्रसार अशोक के काल से राजकीय संरक्षण में प्रारंभ हुआ जो अनेक सूफियों की रचनाओं में विद्यमान रहा और आधुनिक युग में स्वामी विवेकानंद ने विश्वस्तर पर इस परंपरा का विस्तार किया। डॉ. अंबिका तिवारी नें भी अपने विचार रखे।

एमपीपीजी कॉलेज में हुई गोष्ठी में मंच पर मौजूद अतिथि।

हिन्दुस्तान • गोरखपुर • रविवार • 05 जनवरी 2020 • 06

सांस्कृतिक उपलब्धता का आंकलन जरूरी

संवाद

गोरखपुर | वरिष्ठ संवाददाता

भारतीय परम्परा सूक्ष्म से स्थूल की ओर प्रसारित होने वाली संस्कृति है। हमारे पूर्वजों ने गुफाओं में कला एवं आलेखन का अंकन कर अपनी सृजनात्मकता का अद्भुत नमूना प्रस्तुत किया। बाद में कुछ तथाकथित इतिहासकारों ने भारत की विकृत संस्कृति को प्रस्तुत किया।

ये बातें महाराणा प्रताप पीजी कॉलेज जंगल धूसड़ में 'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर चल रही दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के समापन समारोह में शनिवार को भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद नई दिल्ली के सदस्य सचिव डॉ. कुमार रत्नम ने बतौर मुख्य अतिथि कही। मुख्य वक्ता अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के राष्ट्रीय संगठन मंत्री डॉ. बालमुकुन्द

एमपी पीजी कॉलेज में आयोजित संगोष्ठी के समापन समारोह में मंचासीन विद्वत जन।

संस्कृति के प्रसार के मूल में भारत की दानशीलता

अंतिम तकनीकी सत्र की अध्यक्षता कर रही डीडीयू में प्राचीन इतिहास विभाग की पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो. विपुला दुबे ने भारतीय संस्कृति के वैश्विक प्रसार के कारक के रूप में भारत की दानशीलता की प्रवृति को प्रमुखता से उभारा। इस सत्र के सहअध्यक्ष प्रो. ध्यानेन्द्र नरायण दूबे रहे।

सिकंदर के बाद यूनान तक पहुंची भारतीय संस्कृति

डीडीयू में प्राचीन इतिहास के पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो. राजवंत राव ने कहा कि भारत ने यूरोप का सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व करने वाले यूनान पर अमिट छाप छोड़ी। सिकंदर के साथ आने वाले यूनानी लेखक, विद्वान एवं इतिहासकार भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण तत्वों को अपने साथ यूनान ले गए।

गलत नहीं होगा। संचालन डॉ. अविनाश में इतिहास विभाग के पर्व अध्यक्ष प्रो.

अमर उजाला

गोरखपुर | शनिवार, 4 जनवरी 2020 6

'स्थानीय नहीं वैश्विक है भारतीय संस्कृति'

अमर उजाला ब्यूरो

गोरखपुर। विश्व बुद्धिष्ट मिशन के अंतर्राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. मेधांकर रवि ने कहा कि भारतीय संस्कृति अपने मजबूत तार्किक एवं वैज्ञानिक आधार के चलते विश्व में सर्वमान्य है। भारतीय संस्कृति ने अपनी विकास यात्रा में जिन मानव मूल्यों का सृजन किया वे न सिर्फ स्थानीय हैं बल्कि वैश्विक हैं।

एमपीपीजी कॉलेज में दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का शुभारंभ

डॉ मेधांकर शुक्रवार को एमपीपीजी कॉलेज, जंगल धूसड़ में कॉलेज और नेपाल शोध एवं अध्ययन केंद्र, भारतीय इतिहास संकलन समिति गोरक्षप्रांत की ओर से 'भारतीय संस्कृति का विश्व में प्रसार' विषय पर आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र को बतौर मुख्य अतिथि संबोधित कर रहे थे। मुख्य वक्ता अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना नई दिल्ली के राष्ट्रीय संगठन मंत्री डॉ बाल मुकुंद पांडेय ने कहा कि भारतीय संस्कृति का मेसोपोटामिया, मिस्र, यूनान सहित दुनिया के अन्य देशों में प्रभावों के प्रमाण उपलब्ध हैं। विशिष्ट अतिथि गोविवि के प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो. शीतला प्रसाद सिंह ने भी अपने विचार रखे। कार्यक्रम अध्यक्ष भारतीय इतिहास संकलन समिति के पूर्व अध्यक्ष प्रो. महेश कुमार शरण ने कहा कि श्रीगोरक्षपीठ के पीठाधीश्वरों ने अपना संपूर्ण जीवन भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में ही खपाया है। यह वर्ष महंत दिग्विजयनाथ की 125 वीं जयंती तथा महंत अवेधनाथ का जन्म शताब्दी वर्ष है। ऐसे महान पूर्वजों के कार्य को आगे बढ़ाते हुए भारतीय संस्कृति के प्रसार में हम सभी को आना होगा। गया से आए बौद्ध भिक्षुओं के दल ने मंगलपाठ किया। प्रो महेश शरण द्वारा लिखित पुस्तक 'भागवत गीता इन डे टुडे लाइफ' का अतिथियों ने विमोचन किया। इस अवसर पर प्राचार्य प्रदीप राव, प्रो. हिमांशु चतुर्वेदी, प्रो मनोज तिवारी, प्रो. ध्यानेंद्र नरायण दूबे, डॉ रामप्यारे मिश्र, डॉ प्रकाश प्रियदर्शी, डॉ उग्रसेन सिंह, डॉ शैलेंद्र उपाध्याय, डॉ. सुशील कुमार पांडेय, डॉ. सुधाकर लाल श्रीवास्तव, डॉ. सच्चिदानंद चौबे, डॉ ज्ञान प्रकाश मंगलम, डॉ सर्वेश शुक्ला आदि उपस्थित थे।

राष्ट्र-सन्त ब्रह्मलीन महन्त अवेद्यनाथ

जन्म तिथि : 18 मई, 1919
जन्म स्थान : ग्राम-कांडी, जिला-गढ़वाल (उत्तरांचल)
पारिवारिक स्थिति : बाल ब्रह्मचारी
गुरु का नाम : ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजनाथ जी महाराज
शिक्षा : शास्त्री संस्कृत (वाराणसी एवं हरिद्वार में अध्ययन)
कार्य क्षेत्र : हिन्दू धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये सतत कार्यरत अनेक धार्मिक संगठनों से सम्बद्ध

राजनीतिक उपलब्धियाँ :

लोकसभा सदस्य

- 1970 - गोरखपुर संसदीय क्षेत्र - निर्दलीय
- 1989 - गोरखपुर संसदीय क्षेत्र - हिन्दू महासभा
- 1991 - गोरखपुर संसदीय क्षेत्र - भारतीय जनता पार्टी
- 1996 - गोरखपुर संसदीय क्षेत्र - भारतीय जनता पार्टी

विधानसभा सदस्य

- 1962 - मानीराम - हिन्दू महासभा
- 1967 - मानीराम - निर्दलीय
- 1969 - मानीराम - हिन्दू महासभा
- 1974 - मानीराम - हिन्दू महासभा
- 1977 - मानीराम - जनता पार्टी

संसदीय जिम्मेदारियाँ :

- 1971 - सदस्य, परामर्शदात्री समिति, गृह मंत्रालय (भारत सरकार)
- 1989 - सदस्य, परामर्शदात्री समिति, गृह मंत्रालय (भारत सरकार)
- 1993 - संसदीय प्रणाली व्यवस्था लागू होने पर गृह मंत्रालय के सदस्य

महत्वपूर्ण पद (ब्रह्मलीन होने के तिथि तक) :

- पूर्व उपाध्यक्ष, आल इण्डिया हिन्दू महासभा, पूर्व एक्जीक्यूटिव
- पूर्व मेम्बर, आल इण्डिया हिन्दू महासभा
- पूर्व महासचिव, आल इण्डिया हिन्दू महासभा

धार्मिक पद (ब्रह्मलीन होने के तिथि तक) :

- गोरक्षपीठाधीश्वर- श्री गोरक्षनाथ पीठ, गोरखपुर
- अध्यक्ष-श्रीराम जन्म भूमि मुक्ति यज्ञ समिति
- अध्यक्ष-अखिल भारतवर्षीय अवधूत भेष बारहपंथ- योगी महासभा, हरिद्वार
- अध्यक्ष-श्रीराम जन्म भूमि उच्चाधिकार समिति
- अध्यक्ष-गुरु गोरखनाथ सेवा संस्थान, गोरखनाथ, गोरखपुर
- अध्यक्ष-श्रीराम जानकी मन्दिर, झुंगिया बाजार, गोरखपुर

शिक्षा के क्षेत्र में :

अध्यक्ष (ब्रह्मलीन होने के तिथि तक) -

- महाराणा प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जंगल धूसड़, गोरखपुर
- गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथ महाविद्यालय, चौक, महजराजगंज
- दिग्विजयनाथ एल.टी. प्रशिक्षण महाविद्यालय, गोरखपुर
- दिग्विजयनाथ इण्टर कालेज, चौक बाजार, महराजगंज
- महाराणा प्रताप कृषक इण्टर कालेज, जंगल धूसड़, गोरखपुर
- दिग्विजयनाथ जूनियम हाई स्कूल, चौकमाफी, पीपीगंज, गोरखपुर
- गुरु गोरक्षनाथ विद्यापीठ, पितेश्वरनाथ मन्दिर, भरोहिया, पीपीगंज, गोरखपुर
- महाराणा प्रताप सीनियर सेकेण्डरी स्कूल, मंगलादेवी मन्दिर, बेतियाहाता, गोरखपुर
- महन्त दिग्विजयनाथ बालिका विद्यालय, चौक, महराजगंज
- आदिशक्ति माँ पाटेश्वरी पब्लिक स्कूल, देवीपाटन, तुलसीपुर, बलरामपुर
- योगिराज बाबा गम्भीरनाथ सेवाश्रम समिति, जंगल धूसड़, गोरखपुर
- गुरु श्रीगोरक्षनाथ स्कूल ऑफ नर्सिंग, गोरखनाथ, गोरखपुर
- गुरु श्री गोरखनाथ संस्कृत विद्यालय, मैदागिन, वाराणसी

प्रबंधक (ब्रह्मलीन होने के तिथि तक) -

- दिग्विजयनाथ स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गोरखपुर
- महाराणा प्रताप महिला महाविद्यालय, रामदत्तपुर, गोरखपुर
- गोरक्षनाथ संस्कृत विद्यापीठ, गोरक्षनाथ, गोरखपुर
- महाराणा प्रताप इण्टर कालेज, गोरखपुर
- गोरक्षनाथ उ.मा. विद्यालय, गोरखनाथ, गोरखपुर
- महाराणा प्रताप पूर्व माध्यमिक विद्यालय, रामदत्तपुर, गोरखपुर
- महाराणा प्रताप पूर्व माध्यमिक विद्यालय, लालडिग्गी, गोरखपुर
- महाराणा प्रताप शिशु शिक्षा विहार, रामदत्तपुर, गोरखपुर
- महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद, गोरखपुर

चिकित्सा के क्षेत्र में (ब्रह्मलीन होने के तिथि तक) :

- अध्यक्ष-गुरु श्री गोरखनाथ चिकित्सालय, गोरखनाथ, गोरखपुर
- अध्यक्ष-महन्त दिग्विजयनाथ आयुर्वेद चिकित्सालय, गोरखनाथ, गोरखपुर
- अध्यक्ष-श्री माँ पाटेश्वरी सेवाश्रम चिकित्सालय, देवीपाटन, तुलसीपुर, बलरामपुर
- अध्यक्ष-गुरु गोरखनाथ इन्स्टीच्यूट ऑफ मेडिकल साइन्सेज, सोनबरसा, मानीराम, गोरखपुर

योग के क्षेत्र में (ब्रह्मलीन होने के तिथि तक) :

अध्यक्ष-महायोगी गुरु गोरखनाथ योग संस्थान, गोरखनाथ, गोरखपुर

ब्रह्मलीन : 12 सितम्बर 2014
जनता दर्शन : 13 सितम्बर 2014
समाधि : 14 सितम्बर 2014

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् (ICHR), नई दिल्ली एवं
अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना, नई दिल्ली तथा
नेपाल शोध एवं अध्ययन केन्द्र, महाराणा प्रताप पी.जी. कालेज
जंगल धूसड़, गोरखपुर के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित
दो दिवसीय

राष्ट्रीय संगोष्ठी

(03 एवं 04 जनवरी, 2020 ई.)

प्रकाशक

महाराणा प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय

जंगल धूसड़ – गोरखपुर

नैक द्वारा प्रत्यायित श्रेणी ''बी''

Website : www.mpm.edu.in • E-mail : mpmpg5@gmail.com